हिन्दी साहित्य : एक परिचय

•

डॉ. त्रिभुवन सिंह

हिन्दी प्रचारक संस्थान
(व्यवस्था : कृष्णचन्द्र बेरी एण्ड सन्स)
वाराणसी-१

HINDI SAHITYA : EK PARICHAYA

(*History of Hindi Literature*)

by

Dr. Tribhuwan Singh

●

संस्करण : मार्च '६८

●

मूल्य

सात रुपये

●

प्रकाशक	मुद्रक
विजयप्रकाश बेरी	शिवनारायण उपाध्याय
हिन्दी प्रचारक संस्थान	नया संसार प्रेस
पो. बॉक्स नं० १०६, पिशाचमोचन	भदैनी
वाराणसी-1	वाराणसी-1

गुरुवर

स्वर्गीय डॉ० श्रीकृष्ण लाल

की

पुण्य स्मृति

मे

त्रिभुवन सिंह

किसी भी देश का साहित्य वहाँ के जीवन का जीवंत इतिहास होता है। मानव-विचारों एवं अनुभूतियों की निधि साहित्य के माध्यम से ही संचित रह पाती है।

लेखक की कृतियाँ

(१) रोदन	(काव्य)
(२) नया स्वर	(काव्य)
(३) हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद	(समीक्षा)
(४) आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्दधारा	(समीक्षा)
(५) महाकवि मतिराम और मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरण वृत्ति	(शोध ग्रन्थ)
(६) दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक	(समीक्षा)
(७) ऐतिहासिक उपन्यासों की सीमा और बाणभट्ट की आत्मकथा	(समीक्षा)
(८) हिन्दी साहित्य : एक परिचय	(इतिहास)

निवेदन

हिन्दी साहित्य (एक परिचय) मूलतः छात्रों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। इसके प्रकाशक भाई श्री कृष्णचन्द्र बेरी ने छोटी कक्षाओं के छात्रों के लिए एक छोटा-सा परिचयात्मक हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने का आग्रह किया था। प्रवृत्ति न रहते हुए भी मैं उनके आग्रह को टाल नहीं पाया। वे जैसा और जितना संक्षिप्त चाहते थे वैसा तो नहीं हो पाया, पर कुछ ऐसा भी नहीं हो पाया कि जिसे मैं अपनी विशिष्ट उपलब्धि मान सकूँ। इस इतिहास के आधुनिक 'काल' को छोड़कर अन्य 'काल' अत्यन्त परिचयात्मक हैं, जो स्वाभाविक है। उन कालों पर इतना अधिक लिखा जा चुका है कि पुस्तक की लघुसीमा में कुछ मौलिक लिखने का दावा करना, एक धृष्टता ही होगी। 'आधुनिक काल' की चर्चा करते समय मैंने कुछ स्वतंत्रता ली है, जो कुछ लोगों को खटक सकती है।

एक माह से भी कम समय में पुस्तक लिखी गई है, जिससे मैं स्वयं अपूर्णता का अनुभव कर रहा हूँ। मेरे मित्रों और शिष्यों ने इसमें सक्रिय सहयोग दिया है, अच्छाइयाँ उनकी और त्रुटियाँ मेरी हैं। प्रूफ सम्बन्धी कुछ भयंकर भूलें रह गई हैं जिन्हें विज्ञ पाठक सुधार लें। कुछ कवियों की जन्म और मृत्यु तिथियाँ असावधानी से गलत छप गई हैं। कुछ को तो मैंने परिष्कृत कराने का प्रयत्न किया है, फिर भी कुछ वैसी ही छूट गई हैं।

त्रुटियों के कारण जो पाठकों को असुविधा होगी उसके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ। जिन साहित्यकारों का उल्लेख करना इसमें सम्भव नहीं हो पाया है, पूर्ण आदर व्यक्त करते हुए मैं उनसे क्षमा प्रार्थी हूँ। लगभग सभी प्रकाशित

विषय

हिन्दी साहित्य

(एक परिचय)

हिन्दी साहित्य

आज जिस विशाल क्षेत्र की साहित्यिक भाषा को हम हिन्दी के नाम से अभिहित करते है, उसे विकास के एक लम्बे दौर से गुजरना पड़ा है। हिन्दी शब्द का व्यवहार बड़े व्यापक अर्थों मे होता है। हिन्दी भारतवर्ष के एक बहुत विशाल प्रदेश की भाषा है। इसका प्रसार राजस्थान और पंजाब की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार के पूर्वी सीमान्त तक तथा उत्तर प्रदेश की उत्तरी सीमा से लेकर मध्य प्रदेश के मध्य तक है। इस विशाल क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले अनेक राज्यों की साहित्यिक भाषा को आज हिन्दी के नाम से जाना जाता है। हिन्दी के नाम पर जितना साहित्य उपलब्ध है, यद्यपि सबका भाषाशास्त्रीय ढांचा एक जैसा नही है, क्योकि इतने विशाल क्षेत्र मे अनेकता के अनेक कारण वर्तमान हैं, फिर भी अनेकता में एकता की स्थापना करने वाली साहित्यिक प्रयत्नो के लिए व्यवहृत भाषा को विद्वानो ने हिन्दी की संज्ञा दी है।

स्पष्टत. हिन्दी क्षेत्र मे रहने वाले सभी लोगो के व्यवहार की जो भाषा है उसमे एकरूपता नहीं है, जैसी कि साहित्यिक भाषा मे है। प्रत्येक साहित्यिक भाषा को अपनी अविकसित अवस्था में बोली के रूप में रहना पड़ता है। अलिखित रूप में बोलियों के माध्यम से साहित्यिक भाषा की भूमिका निर्मित होती रहती है और धीरे-धीरे बोली जब भावाभिव्यक्ति के लिए पूर्ण सक्षम हो, साहित्य का रूप धारण करती है तो उसे साहित्यिक भाषा का गौरव मिल जाता है। किसी भी बोली को यह गौरव प्राप्त करने के लिए जन-जीवन एवं जन-मानस में शतियां गुजारनी पड़ती हैं तब कही जाकर वह साहित्यिक भाषा का रूप ले पाती है। बोली का साहित्य अलिखित होने के कारण विकास की अपनी परंपरा को पाठकों के सम्मुख नहीं रख पाता। विद्वान पाठक से उसका परिचय तब होता है जब वह साहित्यिक भाषा के रूप मे लिखित साहित्य का रूप धारण करती है, जिससे किसी भाषा के पूर्व-रूप की पूर्ण जानकारी प्राप्त करना यदि असंभव नही तो, कठिन अवश्य है। हिन्दी का आरंभ कब और किस रूप मे हुआ कहना कठिन है। पर हिन्दी का जो रूप प्राप्त साहित्य के माध्यम से उपलब्ध है, उसमें एकाधिक बोलियो का सम्मिश्रण है। भाषा-वैज्ञानिक बोलियों के आधार पर हिन्दी को 'पश्चिमी हिन्दी' तथा 'कोशली या पूर्वी हिन्दी' नामक दो भागों में विभक्त करते हैं। पश्चिमी हिन्दी मध्यदेश की भाषा है जिसके अन्तर्गत खड़ी बोली, बांगरू, ब्रजभाषा, कन्नौजी तथा बुन्देली नामक पाँच बोलियाँ आती हैं। कोशली या पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत अवधी, बघेली

एवं छत्तीसगढ़ी का उल्लेख किया जाता है। आगे चलकर हिन्दी का जो विशाल साहित्य निर्मित हुआ, उसमें सभी बोलियों को गौरवपूर्ण साहित्य सृष्टि करने का उतना सौभाग्य नहीं मिल सका जितना कि ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली को मिला। ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली के अतिरिक्त अन्य बोलियों में भी साहित्य की सृष्टि हुई, पर उनका प्रभाव-क्षेत्र सीमित है। हिन्दी का वास्तविक साहित्य ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली में ही लिखा गया और आज जिस हिन्दी को राष्ट्रभाषा का गौरव प्रदान किया गया है, उस भाषा का सम्बन्ध खड़ी बोली से है। पर, इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि खड़ी बोली के साहित्य के आधार पर ही हिन्दी स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रभाषा बनने के योग्य सिद्ध हुई है। खड़ी बोली ही हिन्दी नहीं बल्कि यह उस भाषा का अन्यतम विकसित रूप है जो अनेक धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों से जूझती चली आ रही है और अपनी जीवनी शक्ति के कारण अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जीवित ही नहीं रही, विकसित भी होती रही। विकसित ही नहीं होती रही बल्कि भारतीय चिन्ता-धारा को समेटती हुई प्रेरणादायिनी शक्ति का भी कार्य करती रही। ऐसी स्थिति में हिन्दी और हिन्दी-साहित्य का सर्वांगीण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके आरम्भ और विकास की प्रत्येक गतिविधि का परिज्ञान आवश्यक है और इसके लिए हमें शतियों पूर्व की दौड़ लगानी पड़ेगी।

अधिकांश विद्वान् अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि हिन्दी का आविर्भाव अपभ्रंश भाषा से हुआ। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव हुआ।' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी स्वीकार किया है कि "दीर्घ काल से हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक अपभ्रंश भाषा के साहित्य को भी हिन्दी साहित्य के पूर्व रूप के रूप में ही ग्रहण करते आये हैं।" मिश्र बन्धुओं ने अपनी पुस्तक में अनेक अपभ्रंश रचनाओं को स्थान दिया है। स्वर्गीय पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तो अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहना अधिक पसन्द करते थे। श्री महा पं० राहुल सांकृत्यायन ने अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी की संज्ञा दी है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य का आरम्भ अधिक से अधिक अपभ्रंश साहित्य तक जाता है। बहुत दिनों तक अपभ्रंश साहित्य के सम्बन्ध में भी विशेष जानकारी लोगों को नहीं थी। पर, इधर अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों की उपलब्धि हो जाने तथा अनेक विद्वानों द्वारा सुसम्पादित प्राचीन ग्रन्थों के उपलब्ध हो जाने के कारण विद्वान् पूर्व की अपेक्षा अपभ्रंश साहित्य से अधिक परिचित हो चले हैं। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की दिशा में उत्तरोत्तर नवीन समस्याएँ उत्पन्न होती रही हैं और इन समस्याओं के कारण आरम्भ में लिखे गए हिन्दी साहित्य के इतिहासों द्वारा स्वीकृत हिन्दी का काल

विभाजन बहुत कुछ अपूर्ण-सा लगता है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ऐसे बाद के कुछ हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने नवीन उपलब्ध सामग्रियों को दृष्टि-पथ में रखते हुए नये ढंग से हिन्दी साहित्य के इतिहास को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने जिस समय हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा था उस समय उनके सामने बहुत-सी सामग्री अनुपलब्ध थी, जो अब उपलब्ध हो गयी है, पर शुक्ल जी ने अपने इतिहास में आगे मिलने वाली सामग्रियों की सम्भावनाओं पर भी प्रकाश डाला है। यही कारण है कि आज भी पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों के लिए आधार ग्रन्थ का कार्य करता है।

काल विभाजन

हिन्दी साहित्य के अधिकांश इतिहास लेखकों ने प्रवृत्तियों के आधार पर हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन किया है। साहित्य और समाज का परस्पर इतना अधिक सम्बन्ध है कि दोनों बहुत दूर तक एक दूसरे को छोड़ कर विकसित नहीं हो सकते। सामाजिक चित्त वृत्तियों के संचित कोष का नाम ही तो साहित्य है। सृष्टि के प्रत्येक तत्व की एक निर्धारित आयु होती है। काल देवता जिसका नियमन करते हैं। प्रत्येक विनाश के गर्भ से विकास का अंकुर फूटता है। अतः विकास के लिए एक सीमा तक विनाश आवश्यक है। विकास और विनाश की सीमा का निर्धारण स्वाभाविक रूप से गया समय काल देवता करते चलते हैं। यद्यपि विकास और विनाश का यह क्रम एक क्षण भी रुकता नहीं, बराबर चलता रहता है। परिवर्तन की प्रक्रिया सृष्टि के मूल में है जो कभी रुकती नहीं, पर यह परिवर्तन आँखों के सामने ऐसी गति से होता रहता है कि उसे हम तब तक देख नहीं पाते जब तक कि वह परिवर्तन एक ऐसा स्वरूप धारण कर अपने पूर्व रूप से सर्वथा भिन्न दिखाई नहीं पड़ता। अतः अलक्षित परिवर्तन क्रम में भी एक स्थायित्व का भान होता रहता है जिसके आधार पर कालगत विशेषताओं का निरूपण किया जाता है। ठीक ऐसी ही स्थिति साहित्य के क्षेत्र में भी देखने को मिलती है। साहित्य को प्रेरणा प्रदान करने वाले चेतन तत्वों में जो अनेकता वर्तमान रहती है, चिन्तन धाराओं की जो विविध लहरियाँ स्पन्दित होती रहती हैं उनमें से किसी न किसी प्रकार की ऐसी विशिष्ट चेतना का कुछ काल के लिए उदय होता है कि जिससे अनेकता में एकता की स्थापना होती है। इसी एकता को आधार मानकर साहित्य में काल विशेष का निर्धारण किया जाता है। प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर किया गया नामकरण सर्वथा पूर्ण नहीं बल्कि प्रधान प्रवृत्ति का परिचायक ही होता है। इस प्रकार जितने भी काल-विभाजन हिन्दी साहित्य के

इतिहास के हुए हैं उन सबकी अपनी-अपनी सीमाएँ हैं, जिनमें सम्भावनाओं के लिए पूर्ण अवकाश है।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को आदि, पूर्व मध्य अथवा भक्ति, उत्तर मध्य अथवा रीति तथा आधुनिक नामक चार कालों में विभक्त किया है। जिस मध्य काल को शुक्ल जी ने पूर्व मध्य और उत्तर मध्य अथवा भक्ति तथा रीतिकाल दो भागों में बाँटा है उसे ही मिश्र बन्धुओं ने पूर्व, प्रौढ़ और अलंकृत नाम से तीन उप विभागों में विभाजित किया है।[1] पण्डित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने ऐसा न करके सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास को बीज-वपन, अंकुरोद्भव तथा पत्रोद्गम काल के नाम से तीन भागों में विभक्त किया है।[2] द्विवेदी जी का अंकुरोद्भव अथवा मध्य काल ही शुक्ल जी का पूर्व मध्य और उत्तर मध्य, तथा मिश्र बन्धुओं का पूर्व, प्रौढ़ और अलंकृत काल है। हिन्दी कविताओं पर जहाँ से संस्कृत भाषा और साहित्य का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ने लग जाता है वहीं से पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सन् १४००–१८५० तक अंकुरोद्भव अथवा मध्यकाल की सीमा को स्वीकार किया है। पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने हिन्दी कविता के जिस काल को अंकुरोद्भव काल कहा है वास्तव में वह हिन्दी कविता का मध्य काल ही है, क्योंकि हिन्दी साहित्य में बीच का यह वह समय है जिसमें हिन्दी कविता अपभ्रंश एवं ग्रामीण प्रयोगों से सर्वथा मुक्त हो गयी थी और इसमें श्रेष्ठ रचनाएँ काफी मात्रा में लिखी जा चुकी थीं। इसके बाद ही हम देखते हैं कि हिन्दी कविता का भाण्डार इतना पूर्ण हो गया था कि अपनी सीमा में न समाकर अनेक नये साहित्य अंगों में फैलकर वह विकसित होने लगा। इन विद्वानों ने जिस हिन्दी साहित्य को सामने रखकर अपना निर्णय दिया है उसके आगे बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इधर हिन्दी साहित्य में नयी प्रवृत्तियों, नयी विधाओं एवं नवीन साहित्य रूपों का इतना अधिक स्वस्थ विकास हुआ है कि उन्हें देख कर इतना तो कहा ही जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने काल विभाजन की दिशा में जो नामकरण किये हैं उनमें से कम से कम 'आधुनिक-काल' नाम अब इतना पुराना पड़ गया है कि उससे आधुनिक हिन्दी साहित्य का बोध ही नहीं हो पाता। अब तो आवश्यकता इस बात की है कि आधुनिक काल का नये सिरे से विभाजन और नामकरण किया जाय। पर कठिनाई यह है कि सम्पूर्ण साहित्य के विकास को एक साथ सामने रख कर देखना है। यदि आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास अलग से लिखना हो तो इस काल के साहित्य का वैज्ञानिक विभाजन

---

१. मिश्र बन्धु विनोद—मिश्रबन्धु।

२. 'हिन्दी साहित्य की वर्तमान अवस्था' नामक लेख से (१९११ ई० में) हिन्दी साहित्य सम्मेलन में पढ़ा गया भाषण।

किया जा सकता है। इस काल में विषय, रूप और प्रवृत्तियो का इतना विविध एव स्वस्थ विकास हुआ है कि अब आवश्यकता इस बात की है कि आधुनिक काल का इतिहास स्वतंत्र रूप मे लिखा जाय क्योंकि भाषा, भाव एवं शैली सभी दृष्टियों से रीतिकाल के बाद जो हिन्दी साहित्य निर्मित हुआ (जिसे हम आधुनिक काल अथवा साहित्य के नाम से अभिहित करते हैं) पूर्ववर्ती साहित्य से सर्वथा भिन्न है। ऐसे पाठक जो हिन्दी साहित्य के विकास के सामान्य स्वरूप से परिचित होना चाहते हैं, उनके लिए सुपरिचित विभाजन ही श्रेयस्कर होगा। अधिक से अधिक यहाँ पर आधुनिक काल की सम्पूर्ण गतिविधि को स्पष्ट करने के लिए इस काल में होने वाले परिवर्तनों का उल्लेख भर किया जा सकता है। अतः हिन्दी साहित्य के इतिहास को हम निम्नांकित शीर्षकों में विभक्त कर सकते है :—

१—आदिकाल (सन् १००० ई०—१४०० ई०)।

२—मध्यकाल (सन् १४०० ई०—१८५० ई०)।

(अ) पूर्व मध्यकाल (भक्ति साहित्य) (सन् १४०० ई०—१६५० ई०)

(ब) उत्तर मध्य काल (रीति और शृंगार साहित्य) (सन् १६५० ई०—१८५० ई०)

३—आधुनिक काल (सन् १८५०—अबतक)

(अ) हिन्दी गद्य (आरम्भ) (सन् १८५० ई०—१८६८ ई०)

(ब) भारतेन्दु काल (पुनर्जागरण) (सन् १८६८ ई०—१९०० ई०)

(स) द्विवेदी काल (पुनरुत्थान) (सन् १९०० ई०—१९१५ ई०)

(द) *वर्तमान काल (छायावाद से अब तक)* (सन् १९१५ ई०—)

पूर्व पीठिका

प्राप्त सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि भाषा-विकास की पूर्व परम्परा से हिन्दी भाषा ने अलग होकर जिस बिन्दु पर अपना अलग अस्तित्व ग्रहण किया उसके पूर्व तक वह अपभ्रंश भाषा में अन्तर्भुक्त थी। अपभ्रंश के गर्भ मे कब से *हिन्दी का रूप स्थिर हो रहा था, कहना कठिन है।* इसमे सन्देह नहीं कि अपने उद्‌भव काल मे हिन्दी अपभ्रंश भाषा के अत्यन्त निकट रही, जिससे इसके विकास में अपभ्रंश भाषा का महत्वपूर्ण योगदान है। विषय और स्वरूप दोनों ही दृष्टियो से अपभ्रंश भाषा ने हिन्दी को प्रभावित किया है। **'दोहा' या 'दूहा' अपभ्रंश का प्रिय छन्द रहा। उस समय 'गाथा' कहने से जिस प्रकार 'प्राकृत' का बोध होता था उसी प्रकार 'दोहा' या 'दूहा' कहने से *अपभ्रंश अथवा प्रचलित काव्य भाषा का बोध* होता था।** अपभ्रंश के पूर्व 'प्राकृत' साहित्य की भाषा थी और अपभ्रंश जनभाषा।

आगे चलकर कुछ काल के लिए अपभ्रंश को भी साहित्य की भाषा बनने का गौरव मिला पर उसका जनभाषा-स्वरूप बराबर बना रहा और उसी से हिन्दी का विकास हुआ। कुछ विद्वान् अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहना अधिक पसन्द करते हैं। इसका प्रिय छन्द 'दोहा' या 'दूहा' हिन्दी में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ और भक्त तथा शृंगारिक कवियों को इस छन्द ने समान रूप से अपनी ओर आकर्षित किया।

विद्वानों को अब इसमें सन्देह नहीं रह गया है कि बौद्धों और जैनों ने अपने धार्मिक साहित्य का प्रचार लोकभाषा में किया था, जिससे हिन्दी का विकास हुआ। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लगता है।'' मुंज और भोज के समय लगभग संवत् १०५० (सन् ९९३ ई०) के आसपास अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का व्यवहार साहित्यिक काव्य रचनाओं में मिलता है। इसी आधार पर आचार्य शुक्ल जी ने महाराज भोज से लेकर हम्मीर देव के कुछ पीछे तक (संवत् १०५० (सन् ९९३ ई०) से लेकर संवत् १३७५ (सन् १३१८ ई०) तक हिन्दी साहित्य के आदिकाल की सीमा स्वीकार की है। शिवसिंह ने अपने शिवसिंह सरोज में जनश्रुति को आधार मानकर 'पुष्प' नामक किसी कवि (बन्दीजन) का उल्लेख किया है जिसने दोहों में एक अलंकार ग्रन्थ की रचना की थी, यह कवि महाराज भोज के पूर्व पुरुष राजा मान का सभासद था और उसका कविताकाल संवत् ७७० (सन् ७१३ ई०) है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शिवसिंह सरोज की जनश्रुति के मूल में *'कर्नल टाड' के राजस्थान (अनुमान से)* को माना है।

आरम्भ के लगभग इन डेढ़ सौ वर्षों में किसी विशेष प्रवृत्ति का पता नहीं लगता बल्कि इस काल में न्यूनाधिक धर्म, नीति, शृंगार और वीर सब प्रकार की रचनायें दोहों में मिलती हैं। आरम्भ में हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों के सम्मुख अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्धित बहुत कम सामग्री थी, पर अनेक विद्वानों के सत्प्रयत्न से अब अपभ्रंश का बहुत अधिक साहित्य हमारे पास है। सन् १८७७ में हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण का पिशेल ने सम्पादन किया- जिसके अन्त में अपभ्रंश भाषा का व्याकरण दिया हुआ है और उदाहरण के रूप में अपभ्रंश के पद्य और अधिकतर दोहे दिये हुए हैं। सन् १९०२ में पिशेल ने भी जर्मन भाषा में अपनी पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उसने यथावसर 'विक्रमोर्वशीय', 'सरस्वती कंठाभरण', 'वेताल पंचविंशति', 'सिंहासन द्वात्रिंशतिका', और 'प्रबन्ध चिन्तामणि' आदि ग्रन्थों में प्रसंग क्रम से आये अपभ्रंश की रचनाओं का भी उल्लेख किया। 'भविसयत्त कह''

की एक प्रति सन् १९१३-१४ में जर्मन विद्वान् 'हर्मन याकोबी' को एक साधु के पास से मिली। 'हर्मन याकोबी' अहमदाबाद के एक जैन ग्रन्थ भण्डार का अवलोकन कर रहे थे। इस घटना के पूर्व 'पिशेल' के सत्प्रयत्न से जितनी सामग्री सुलभ हो सकी थी, विद्वान् लोग उसी को आधार मानकर अपभ्रंश साहित्य का मूल्यांकन करते थे। 'भविसयत्त' की प्रति का मिलना था कि अनेक जैन भण्डारों की खोज शुरू हो गई और उसका परिणाम भी शुभ ही हुआ। इस प्रकार की खोज में जो महत्वपूर्ण रचनाएँ प्राप्त हुईं यद्यपि उनमें से अधिकांश जैन कवियों द्वारा ही रची गई थी पर इनसे 'लोकभाषा के अनेक काव्य रूपों पर नया प्रकाश पड़ा।' स्वयम्भू, पुष्पदन्त, धनपाल, जो इन्दु और रामसिंह आदि जैन कवियों की रचनाओं के साथ ही इस खोज में, अब्दुल रहमान की श्रेष्ठ रचना भी प्राप्त हुई जो मुसलमान था।

जैनेतर कवियो की भी अपभ्रंश में लिखी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं जिनमे बौद्ध सिद्धों की रचनाएँ प्रमुख हैं। म० म० पण्डित हरप्रसाद शास्त्री के सत्प्रयास से नेपाल से कुछ अपभ्रंश साहित्य उपलब्ध हुआ, जिसे उन्होंने सन् १९१६ ई० में बंगाक्षरों में प्रकाशित किया और बौद्ध सिद्धों के पद और दोहों को 'बौद्ध गान और दोहा' नाम दिया। डा० शहीदुल्ला, डा० प्रबोध चन्द्र बागची और पण्डित राहुल सांकृत्यायन ने भी इस प्रकार की सामग्री उपलब्ध की। म० म० पण्डितहरप्रसाद शास्त्री जी ने ही विद्यापति की 'कीर्तिलता और कीर्तिपताका' का प्रकाशन किया जिसमें विद्यापति ने स्वयं पुस्तक की भाषा को 'अवहट्ट' (अपभ्रष्ट–अपभ्रंश) कहा है। यद्यपि इसमें कुछ मैथिली प्रयोग मिलते है पर यह प्रयोग अधिकांशत: गद्य वाले अंश मे ही है। शेष पद्यो मे बौद्धो के दोहों की भाँति हिन्दी के निकट रहने का ही प्रयत्न है। राजस्थान मे 'ढोला मारू' के दोहे बहुत ही लोकप्रिय रहे। राजस्थान के ही श्री रामसिंह, श्री सूर्य करण पारीक और श्री नरोत्तम स्वामी नामक तीन विद्वानो ने इसके प्राचीनतर रूप का सम्पादन किया जिसकी भी भाषा हिन्दी के निकट जाने वाली थी। चौदहवीं शताब्दी के अन्त में 'प्राकृत पैंगलम' नामक एक संग्रह लक्ष्मी घर ने प्रकाशित किया। इसमें प्राकृत और अपभ्रंश छन्दों की विवेचना है पर उद्धरणों के रूप मे जिन कवियो का नाम आया, उनका पता अन्य स्रोतो से नही मिल पाया था। आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के अनुसार डा० सुनीत कुमार चटर्जी का अनुमान है कि इस ग्रन्थ में ९वीं से १२वीं शताब्दी तक के कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। इन सभी रचनाओं के प्रणेता जैनेतर है।

हिन्दी साहित्य के आरम्भ के पूर्व जो साहित्य अपभ्रंश साहित्य के नाम से उपलब्ध हुआ है, उसे मध्य देश मे उसी प्रकार भाषा काव्य की संज्ञा दी गई है जिस प्रकार

परवर्ती व्रजभाषा या अवधी कविता को हिन्दी की। इस प्रकार इस काल में जो साहित्य निर्मित हुआ उसको दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। एक के रचयिता किसी न किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय के थे और दूसरे के रचयिताओं का किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं था, वे सम्प्रदाय मुक्त थे।

जैन कवियों द्वारा रचित साहित्य :

दसवीं शताब्दी से पूर्व प्राप्त जिन रचनाओं को हम हिन्दी मानते हैं, उनमें से अधिकांश की प्रामाणिकता संदिग्ध है, पर जो रचनाएँ जैन भाण्डारों से मिली हैं और जैन आचार्यों तथा कवियों की रचनाएँ हैं, निश्चित रूप से प्रामाणिक हैं। साम्प्रदायिक महत्व मिलने के कारण इन्हें परम्परागत सुरक्षा मिली जिससे इसकी प्रामाणिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता। ये रचनायें तत्कालीन साहित्यिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालती हैं, इनसे लोकभाषा के काव्य रूपों को समझने में सहायता मिलती है तथा तत्कालीन भाषागत परिस्थितियों को समझने में भी ये रचनाएँ सहायक हैं।

स्वयंभू :

आरम्भ के बहुत से कवियों की रचनायें अब उपलब्ध नहीं हैं। पुराने कवियों में केवल 'स्वयंभू' की रचनाएँ उपलब्ध हैं। उनके चार ग्रन्थों की चर्चा की जाती है :—

(१) पउमचरिउ, या पद्मचरित्र—जैन रामायण।
(२) रिट्ठिमिचरिउ, या अरिष्टनेमि चरित, हरिवंश पुराण।
(३) पंचमिचरिउ, या नाग कुमार चरित।
(४) स्वंभूच्छन्द।

केवल 'स्वयंभूच्छन्द' पुस्तक ही पूर्ण छपी है, शेष के थोड़े थोड़े अंश प्रकाशित हुए हैं। 'स्वयंभू' केवल छन्द शास्त्र के ही ज्ञाता नहीं थे बल्कि एक अच्छे साहित्यिक भी थे, इसका पता उनके रामायण के उन अंश से लग जाता है जिन्हें 'राहुल जी ने काव्य धारा' नामक अपने संग्रह में प्रकाशित किया है। कुछ लोग शिवसिंह सेंगर द्वारा उल्लिखित हिन्दी के प्रथम कवि 'पुष्य' और इनमें अभेद मानते हैं, पर यह उनका भ्रम है क्योंकि आज तक पुष्प कवि की एक भी रचना प्राप्त नहीं हुई है।

जोइंदु (योगींदु या योगीन्द्र) :

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन्हें जैन कवि मानते हुए यह स्वीकार किया है कि इनके अधिकांश दोहों पर से यदि जैन विशेषण हटा दिया जाय तो यह समझना कठिन हो जायगा कि ये निर्गुणियों के दोहे नहीं हैं। ये ८वीं-९वीं शती में वर्तमान थे। 'परमात्मा प्रकाश' और 'योगसार' नामक इनके दो ग्रंथ मिले हैं जो दोहों में लिखे गए हैं।

रामसिंह :

ये दसवीं शताब्दी के कवि है। 'पाहुड़ दोहा' नामक इनकी रचना प्राप्त है। भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से इसे 'स्वयंभू' की रचनाओं की श्रेणी में ही रखा जा सकता है। आगे आने वाले 'कबीर' 'दादू' आदि निर्गुण सन्तों के दोहों की पूर्व परम्परा इनमें देखी जा सकती है।

हेमचन्द्र :

गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह के समय मे वर्तमान थे। 'सिद्धराज' और उनके भतीजे 'कुमार पाल' इन पर बड़ी श्रद्धा करते थे। इनका रचना काल संवत् १२१६ से १२२६ (सन् ११५९ से ११७२ ई०) है। जैन आचार्यों में इनकी अद्भुत प्रतिष्ठा थी। इन्होने अपने प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' में जो उदाहरण दिये है, उनमे बहुत से जैनेतर कवियों की भी रचनायें संग्रहीत है। ये संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के पंडित थे। इनके ग्रंथ में पूर्ववर्ती साहित्य विशेषकर अपभ्रंश साहित्य की एक झांकी मिल जाती है। इनके शृंगारिक दोहों मे आगे चलकर हिन्दी के बिहारी, मति राम और मुबारक आदि की परम्परा देखी जा सकती है।

सोमप्रभ सूरि :

ये भी जैन पंडित थे और संवत् १२४७ (सन् ११९० ई०) में कुमार पाल प्रतिबोध नामक ग्रन्थ की इन्होने रचना की थी। यह ग्रन्थ अधिकाश प्राकृत में है, पर बीच मे संस्कृत श्लोक और अपभ्रंश के दोहे आये है। अपभ्रंश के कुछ पद्य प्राचीन कवियों के हैं और कुछ स्वयं के उनके है।

जैनाचार्य्य मेरुतुंग :

इन्होने संवत् १३६१ (सन् १३०४ ई०) में 'प्रबन्ध चिन्तामणि' नामक ग्रन्थ 'भोज प्रबन्ध' के ढंग का बनाया जिसमे पुराने राजाओं के आख्यान संग्रहीत हैं। इन्ही आख्यानों के बीच-बीच मे अपभ्रंश के पद्य उद्धृत हैं।

सिद्ध और नाथ साहित्य :

बौद्ध धर्म अपने अंतिमदिनो में मंत्र-तंत्र साधना की चपेट में आ गया। वह वज्रयान और महायान दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया, जो मंत्र-तंत्र की साधना में विश्वास करते थे। ये सिद्ध कहलाते थे। वज्रयान में इन सिद्धों की संख्या ८४ बताई गई है। इनके द्वारा जो साहित्य लिखा गया वह सम्प्रदाय के प्रचारार्थ लिखा गया। इन लोगो ने ऐसी रचनायें कीं जिनका अर्थ ऊपर से तो अत्यन्त अश्लील एवं कुत्सित जान पड़ता है पर उसके रहस्यात्मक शब्दो की जानकारी प्राप्त कर लेने पर साधनात्मक

विशुद्ध अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार की उलटवाँसियों को ये सिद्ध 'संध्याभाषा' कहते थे। इन्हीं ८४ सिद्धों में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ (गोरक्षनाथ) हुए जिन्होंने संवत् ७९७ (सन् ७४० ई०) के आसपास 'नाथपंथ' का प्रवर्तन किया। इनका साहित्य साम्प्रदायिक साहित्य के अन्तर्गत आता है। सिद्धों की कविता जन-भाषा में थी और यह प्रचारात्मक साहित्य था। इनमें साहित्यिकता नाम मात्र को है। भुसुकिपा, लुइपा, सिमपा, डोम्पिपा, दारिकपा, गुंडरिपा, कुकरिपा, कमरिपा, कण्हपा, गोरक्षपा, तिलोपा, शान्तिपा, तान्तिपा, महिपा, भदेपा तथा धर्मपा आदि का नाम सिद्ध कवियों में लिया जाता है।

गोरक्षनाथ :

जो बाद में शिव के अवतार रूप में प्रसिद्ध हुए, बड़े ही तेजस्वी धार्मिक नेता थे। इन्होंने हठयोग प्रधान अपना अलग सम्प्रदाय गठित किया जिसमें एकेश्वरवाद को स्वीकार करने के कारण यह मत मुसलमानों के लिए भी आकर्षक सिद्ध हुआ। मूर्ति-पूजा देवोपासना तथा धार्मिक वाह्याडम्बर के लिए इस सम्प्रदाय में कोई स्थान नहीं था। साधारण बुद्धि के लोग भी इस ओर आकर्षित हुए और आज भी गेरुआवस्त्र धारी नाथ पंथी साधु इधर-उधर राजा 'भर्तृहरि' और 'गोपीचन्द' के गीत गाते हुए घूमते पाये जाते हैं। इनकी रचनाओं की प्रामाणिकता में सन्देह है। भाषा इनकी लोकभाषा थी। सबदी, पद, अभयमात्राजोग, मिध्यादरसन, प्राण सांकली, आत्म बोध, मछीन्द्र गोरखबोध, ज्ञान चौंतीसा, गोरख गणेश, संवाद, गोरखदत्त संवाद, सिद्धति योग, ज्ञानतिलक और कैयड़ा बाद, नामक ग्रन्थों का उल्लेख इनके नाम से किया जाता है। इनके ग्रन्थ 'सबदी' को कुछ लोग प्रामाणिक मानते हैं। इनके साहित्य ने आगे आने वाले निर्गुण साधकों को अत्यधिक प्रभावित किया जिसके कारण इनके साहित्यिक महत्व को स्वीकार किया जाता है। गोरखनाथ को हिन्दी गद्य का आदि प्रवर्तक माना जाता है। इन्हीं के सम्प्रदाय के जालन्धर और कणेरी आदि भी हुए जिनका प्रभाव हिन्दी के निर्गुण भक्त कवियों पर पड़ा। हिन्दी के कवियों को दोहा, चौपाई और सोरठा छन्द, सिद्ध कवियों से ही मिला। रचना विधान, तथा भाषा का जो प्रभाव हिन्दी ने इस साहित्य से ग्रहण किया उसके लिए इनका स्मरण करना ही पड़ेगा।

सम्प्रदाय मुक्त रचनाएँ :

जो रचनाएँ सम्प्रदाय से सम्बन्धित कवियों द्वारा प्रस्तुत की गईं यद्यपि उनमें भी लौकिक एवं नारी शृंगार परक चित्रण हुए पर उनका मुख्य उद्देश्य जीवन की निस्सारता सिद्ध करना ही था। मानवीय चित्त वृत्तियों पर काबू पाना कठिन है क्योंकि

यह बन्धनों को तोड़ कर भी अपनी अभिव्यक्ति करती ही रहती है। इस काल में भी ऐसे कवियों का नितान्त अभाव नहीं है जो शुद्ध मानवीय भावों के आधार पर साहित्य रचना कर रहे थे। ऐसे कवियों में अब्दुर्रहमान का नाम उल्लेखनीय है।

अब्दुर्रहमान मुलतान के जुलाहे थे और इनकी रचना 'सनेहरासय' ('सन्देश-रासक') प्रसिद्ध है। मुसलमान होते हुए भी हिन्दू संस्कारों के प्रति इनकी आस्था थी। ये ग्यारहवीं शताब्दी में वर्तमान थे। अपने इस ग्रन्थ में इन्होंने वियोगिनियों का सन्देश प्रिय के पास अत्यन्त मनोहर ढंग से पहुँचाया है। सन्देश रासक के एक तिहाई पद्य रासक छन्द में है।

विद्याधर :

सम्भवत: १३वीं शताब्दी में वर्तमान थे और कन्नौज के राठौर सम्राट जयचन्द के दरबार की शोभा बढ़ाते थे। इनके किसी ग्रन्थ का पता नहीं चलता पर कुछ पद्य 'प्राकृत पिंगल सूत्र' में मिलते है जिनकी भाषा अपभ्रंश है। राज कवि होने के नाते इसमें आश्रयदाता का प्रताप-वर्णन है। इसे वीर गाथाओं की परम्परा में मानना चाहिए।

शार्ङ्गधर :

इन्होंने 'शार्ङ्गधर पद्धति' के नाम से एक सुभाषित संग्रह बनाया है। ये १४वीं शताब्दी में वर्तमान थे। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार परम्परा से यह प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधर ने 'हम्मीर रासो' नामक एक वीर गाथा काव्य की भी रचना भाषा में की थी। अपभ्रंश की रचनाओं की यहीं एक प्रकार से समाप्ति हो जाती है, यद्यपि पचास साठ वर्ष पीछे 'विद्यापतिने', 'कीर्तिलता' और 'कीर्ति पताका' की रचना की जिसे अपवाद स्वरूप ही समझना चाहिए।

०

आदिकाल

(सन् १००० ई०—१४०० ई०)

पूर्व में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि हिन्दी साहित्य का वास्तविक आरम्भ कब हुआ कहना कठिन है। यदि अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी साहित्य का पूर्व रूप मान कर उसे हिन्दी साहित्य से अलग मान लिया जाय तो हमें यह देखना होगा कि वह समय कौन सा है जब कि अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त होकर हिन्दी साहित्य का अपना अलग अस्तित्व निर्मित हुआ। अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य जिस मिलन विन्दु पर उपस्थित हो एक दूसरे से अलग हुए वहीं से हिन्दी साहित्य का आरम्भ मानना चाहिए। दसवीं शताब्दी से पूर्व का साहित्य अपनी भाषागत विशेषताओं के कारण हिन्दी साहित्य से बिलकुल भिन्न जान पड़ता है। दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक लोक भाषा में जो साहित्य लिखा गया वह अपभ्रंश की रचनाओं से निश्चित रूप से भिन्न है। इसमें सन्देह नहीं कि इसकी भाषा अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा है। इस काल के साहित्य में पाई जाने वाली काव्यगत रूढ़ियाँ अपभ्रंश भाषा-साहित्य की ही हैं जिससे भाषा की भिन्नता पर ध्यान न देकर कुछ विद्वान् इसे अपभ्रंश से अभिन्न मानते हैं पर ऐसी बात नहीं है। किसी न किसी ऐसे विन्दु की तलाश तो करनी ही होगी जहाँ से हिन्दी साहित्य के उद्भव को देखा जा सके और यह विन्दु दसवीं शताब्दी के अन्त और ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही कहीं स्थित हो सकता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल का आरम्भ संवत् १०५० (९९३ ई०) और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने १००० ई० से माना है। शुक्ल जी इसकी सीमा को सं० १३७५ (१३१५ ई०) और द्विवेदी जी १४०० ई० तक ले जाते हैं। शुक्ल जी के अनुसार आदिकाल के आरम्भिक डेढ़ सौ वर्षों तक हिन्दी साहित्य में किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय कर पाना अत्यन्त कठिन है। इस काल में धर्म, नीति, शृंगार तथा वीर रस प्रधान सभी प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। देश पर होने वाले मुसलमानों के आक्रमण के साथ ही एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति का उदय हुआ। राज्याश्रित और चारण कवियों ने अपने अपने आश्रय दाताओं के पराक्रम पूर्ण चरितों या गाथाओं का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करना आरम्भ कर दिया। मुसलमानों के प्रायः जितने हमले इस काल में भारतवर्ष पर हुए वे उत्तर पश्चिम की ओर से ही हुए और हिन्दुओं के बड़े-बड़े राज्य पश्चिम प्रान्त में ही प्रतिष्ठित थे। परिणामस्वरूप इस क्षेत्र की जनता का अधिकांश जीवन युद्ध अथवा युद्ध मय वातावरण में ही बीतता था और यही क्षेत्र हिन्दी

साहित्य के निर्माण का प्रमुख केन्द्र था। स्वभावतः जिस साहित्य की सृष्टि हुई उसमे युद्ध की प्रधानता थी। इस युग मे महाकवि चन्दवरदायी जैसे कुछ कवि तो ऐसे थे कि जिन्हे सम्राट के सखा, मंत्री, सामंत और राजकवि होने का एक साथ गौरव मिला था। जनश्रुतियों के आधार पर तो यहाँ तक कहा जाता है कि कविवर चन्द-वरदायी अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज के बाल सखा, मंत्री, सामंत और दरबारी कवि तो थे ही, उन्होंने अनेक युद्धों में पृथ्वीराज के साथ भाग भी लिया था। दोनों की जन्म और मृत्यु तिथि भी एक ही है। स्वभावतः युद्ध कालीन वातावरण मे निर्मित व्यक्तित्व के प्रत्यक्षदर्शी कवियों द्वारा वर्णित चरित काव्यो मे युद्ध वर्णन का समावेश हुआ। इस युग मे जो अनेक लड़ाइयाँ राजाओं द्वारा लडी गईं उनमे पारस्परिक रागद्वेष जनित युद्धों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक रही। विदेशी आक्रमण कारियों से लड़ने का हौसला तो कम लोगो मे रहा और यहाँ तक कि बहुतेरे राजाओ ने तो ऐसे अवसरो पर आक्रमणकारियों का ही साथ देकर देश को पराधीन बनाने मे सहायता पहुँचाई। प्रायः लड़ाइयाँ अकारण ही शौर्य प्रदर्शन मात्र के लिए अथवा पड़ोसी राजा की रूपवती कन्या को उसकी इच्छा के विरुद्ध प्राप्त करने के लिए ही होती थीं। यह दूसरी बात है कि बीच-बीच में मुसलमानो के आक्रमण होते रहते थे और पृथ्वीराज जैसे देशभक्त सम्राट उनसे भी लोहा ले लिया करते थे। मुसलमानी आक्रमणों से छुट्टी पाते ही राजे परस्पर मान-सम्मान के निमित्त लड़ने लग जाते थे। इस प्रकार इस काल में जितने भी वीर काव्यों की सृष्टि हुई है उनमें वर्णित युद्धों के मूल में रूपवती कन्या की प्राप्ति ही है। इस समय किसी भी राजा का किसी राजा की कन्या के रूप का सम्वाद पाकर दलबल के साथ चढ़ाई करना और प्रति-पक्षियो को पराजित कर उस कन्या को हर कर लाना गौरव और अभिमान का काम माना जाता था। इस प्रकार इन वीरता परक काव्यों के मूल में शृंगार की भावना विद्यमान है। वांछित सुन्दरी के प्रति आसक्ति उद्बुद्ध करने के लिए चारण कवि आश्रयदाता सम्राटो के सम्मुख नारी सौंदर्य का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करने में जमीन आसमान एक करते रहते थे, जिसका अन्त भयंकर युद्ध मे होता था। शृंगार की सरिता काव्य के अन्तर को सींचती रहती थी, पर युद्ध की विभीषिका उस पर छायी रहती थी। यही कारण है कि आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने वीर रस प्रधान प्रवृत्ति की प्रमुखता को लक्ष्य करके हिन्दी के इस आदिकाल को 'वीरगाथा' काल के नाम से सम्बोधित किया है। इतिहास लिखते समय शुक्ल जी के सम्मुख जितनी सामग्री उपलब्ध थी उसी के आधार पर उन्होंने यह नामकरण कर दिया है पर नवीन सामग्रियो के आलोक में उस समय की बहुत सी प्रामाणिक सामग्री अप्रामाणिक सिद्ध हो चुकी है और बहुत सा ऐसा साहित्य सामने आ गया है कि उसे देखते हुए अब यह कहना कि हिन्दी के आदिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति

वीर रस प्रधान है, समीचीन नहीं जान पड़ता है। इसमें शुक्ल जी का कोई दोष नहीं, उनकी अपनी सीमायें थी। जितने साधन और साहित्य उन्हे सुलभ थे उन्होंने उसी को आधार मानकर अपना निर्णय दे दिया है। उनका विश्वास था कि इस काल मे जिन रचनाओं को साहित्य की कोटि में लाया जा सकता है, उनमें अधिकांश वीरगाथाएँ ही हैं। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य' मे स्वीकार किया है कि जिन रचनाओं के आधार पर 'वीरगाथा काल' नाम स्वीकार किया गया है उनमें से अधिकांश रचनाएँ अप्रामाणिक सिद्ध हो चुकी हैं। इस काल मे और इसके पूर्व से ही नाथ पंथी और सहजयानी सिद्धों तथा जैन मुनियों की निर्गुणिया भावापन्न कविताएँ मिलती हैं। पं० राहुल सांकृत्यायन ने इन्हीं कविताओं के आधार पर इस युग को 'सिद्ध सामंत' युग कहना अधिक पसंद किया है, पर इस नामकरण मे भी यह दोष है कि इससे महत्वपूर्ण लौकिक रस से सिंचित रचनाओं का बोध नहीं होता जो इस काल मे पाई जाती हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दी साहित्य के इस आरम्भिक युग को 'आदिकाल' के नाम से पुकारना ही उपयुक्त जान पड़ता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी इसे आदिकाल के नाम से ही अभिहित किया है।

रचनाएँ :

राजनैतिक स्थिरता के अभाव एवं आन्तरिक अशान्ति के कारण इस काल मे जो साहित्य रचा गया उसका उस रूप में सुरक्षित रह पाना कठिन था। शुद्ध साहित्यिक रचनाएँ जो राजाश्रय में लिखी गई, सुरक्षा के अभाव मे या तो जन-कंठ मे सुरक्षित रह सकी या अत्यन्त उपेक्षित होकर परिवारो के बेठनों में, जिनके लिए उनका कोई महत्व नहीं था। यही कारण है कि अधिकांश रचनाओं का प्रामाणिक स्वरूप काल-कवलित हो गया और बाद में चल कर प्रतिभावान कवियों ने उन्हे स्वरूप प्रदान किया। प्राय: ऐसा कार्य उन आश्रयदाताओं की प्रेरणा से कवियो को करना पड़ता था जो अपने पूर्वजों की कीर्तिगाथा सुनने के उत्कट अभिलाषी थे। इस प्रकार प्राचीन कवि के नाम पर प्राचीन चरित काव्य की जाली पोथियाँ धड़ल्ले से लिखी गई और अधिकांश विद्वानों ने उन्हे प्रामाणिक भी मान लिया जिसमें आदिकाल की रचनाओं के साहित्यिक मूल्यांकन में बड़ी कठिनाई का अनुभव होता है। इस काल की रचनाओं को सुरक्षित रखने के, (१) राजकीय संरक्षण, (२) संगठित धर्म सम्प्रदाय, (३) और लोक परम्परा तीन प्रमुख साधन रहे। राजकीय संरक्षण और धार्मिक सम्प्रदायों में सुरक्षित ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर तो किसी सीमा तक विश्वास किया जा सकता है, पर लोक परम्परा से प्राप्त रचनाओं का कितना अंश प्रामाणिक और कितना अप्रामाणिक है, कहना बहुत कठिन है।

भाषा की दृष्टि से इस काल मे दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। जैन भाण्डारों

मे सुरक्षित परिनिष्ठित साहित्यिक रचनाओ में हेमचन्द्र के व्याकरण, मेरुतुंग के 'प्रबन्ध चिन्तामणि', राजशेखर के 'प्रबन्ध कोष' आदि में संग्रहीत दोहे, अब्दुर्रहमान कृत 'सन्देश-रासक' और लक्ष्मीधर के 'प्राकृत पैंगलम' प्रमुख है। लोक परम्परा मे चली आती रचनाओं में 'पृथ्वी राज रासो' और 'परमाल रासो' आदि रचनाएँ है जिनका मूल रूप सुरक्षित नही रह सका है और इनकी प्रामाणिकता मे सन्देह व्यक्त किया जाता है। इन रचनाओं की भाषा हिन्दी तो है, पर स्थान-स्थान पर अपभ्रंश का बहुल प्रयोग मिलता है। संस्कृत और प्राकृत का भी सम्मिश्रण पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है। व्याकरण और भाषा-शास्त्र के नियमों की कहीं-कहीं तो इस सीमा तक उपेक्षा की गयी है कि पद्यों का अर्थ निकाल पाना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार की दृष्टि से इस युग का साहित्य प्रबन्ध-काव्य और वीर-गीत जिन्हे अंग्रेजी में 'बैलेड' कहते है, दो वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है। वीर रस प्रधान चरित काव्यों को रासो की संज्ञा दी गई है। कुछ विद्वान् रासो शब्द का सम्बन्ध 'रहस्य' शब्द से जोड़ते हैं और आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल रासो शब्द को 'रसायण' शब्द का परिवर्तित रूप मानते है। इस प्रकार के काव्यो में एक निश्चित काव्य-रूढि का पालन किया गया है। जैसे स्वप्न में प्रिय-मूर्ति-दर्शन, कहानी कहने वाला सुआ, शिकार खेलते समय घोड़े का जगल में मार्ग भूल जाना, मुनि का श्राप, रूप-परिवर्तन, लिंग परिवर्तन, परकाय-प्रवेश, आकाश-वाणी, अभिज्ञान या साहिदानी, परिचारिका का राजा से प्रेम और उसका राजकन्या रूप मे अभिज्ञान, नायिका का चित्र, नायक का औदार्य, विरह-वेदना, चौर्य-प्रेम और फिर विवाह, नट-नटी द्वारा रूप-श्रवण और प्रेम, सन्देश-वाहक हंस या कपोत, विजन-वन में सुन्दरियो से साक्षात्कार, उजाड नगर का मिलना और नायक का राजा हो जाना, शत्रु-सन्तप्त सरदार की प्रिया को शरण देना और युद्ध मोल लेना तथा अतिप्राकृतिक दृश्य से लक्ष्मी प्राप्ति का शकुन आदि। रासो कहे जाने वाले सभी काव्यो में इस प्रकार के वर्णन रूढ़ हो गए थे।

इस काल में लिखी जाने वाली कितनी ही रचनाओं का नाम गिनाया जाता है, जिनमे अब सन्देह व्यक्त किया जाने लगा है। जैसे 'खुमान रासो', 'बीसलदेव रासो', 'हम्मीर रासो', 'विजयपाल रासो' आदि।

(१) खुमान रासो :

खुमान रासो की जो प्रति आजकल उपलब्ध है वह अपूर्ण है। 'कर्नल टाड' ने सम्भवतः इसकी प्रति देखी थी, जो इससे विस्तृत थी। यह वीर काव्य की प्रबन्ध-परम्परा में सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। इसके रचयिता दलपति विजय

था दौलत विजय ने चित्तौड़ के रावल 'खुमान' का इसमें वर्णन किया है। यद्यपि खुमान या खुम्माण नाम के तीन राजा हुए हैं। वर्तमान खुमान रासो में महाराणा प्रताप और महाराणा राज सिंह तक का वर्णन है। सभी खुमान राजा जिसके बहुत पूर्व हो चुके थे। ऐसी स्थिति में निश्चित रूप ने इस रासो की रचना १६वी शताब्दी से पूर्व की नहीं हो सकती। इसलिए इसकी चर्चा आदिकाल में नहीं की जा सकती।

(२) बीसलदेव रासो :

यह भी नरपति नाल्ह कृत एक संदिग्ध रचना है, जिसकी प्रामाणिकता में पूर्ण सन्देह व्यक्त किया जा सकता है।

(३) जयचन्द्र प्रकाश और जयमयंक जस चन्द्रिका :

ऐसा कहा जाता है कि भट्ट केदार और मधुकर नामक भट्ट कवियों ने जयचन्द्र के यश-वर्णन में इसकी रचना की थी पर ये पुस्तकें मिलती नहीं। अतः इनके सम्बन्ध में कुछ कह पाना कठिन है।

(४) हम्मीर रासो :

शारंगधर कवि की यह रचना भी संदिग्ध मानी जाती है।

(५) विजयपाल रासो :

नल्लसिंह रचित यह ग्रन्थ भी बाद का लिखा ज्ञात होता है।

(६) पृथ्वीराज रासो : रचयिता–चन्द बरदाई (रचना–सन् ११६८–११९२ ई०)

महाकवि चन्द बरदाई कृत इस रचना को भी अर्द्ध प्रामाणिक रचना के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। इस रासो में, जिसका प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हुआ है, ढाई हजार पृष्ठ और ६९ सर्ग अथवा समय हैं। इसका सबसे बड़ा सर्ग 'कनवज्ज युद्ध' है जो सम्भवतः इस ग्रन्थ का मूल कथानक है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस रासो का रचयिता चन्द सम्राट पृथ्वीराज का मित्र, कवि और सलाहकार था। इस रासो में वह इन्हीं तीन रूपों में चित्रित है। दोनों का जन्म और मरण भी एक ही तिथि को हुआ, इसका उल्लेख भी इसमें मिल जाता है। इससे स्पष्ट है कि निश्चित ही इसमें कुछ ऐसी घटनाएँ हैं जिनका सम्बन्ध कवि की मृत्यु के बाद से है और किसी अन्य कवि द्वारा ग्रन्थ को पूर्णता प्रदान करने के लिए जोड़ दी गयी है। इस सम्बन्ध में भी ऐसा विश्वास किया जाता है कि अन्तिम युद्ध में सम्राट पृथ्वीराज के बन्दी बनाए जाने और उसे गजनी ले जाए जाने की सूचना मिलते ही अपने प्रिय सखा एवं सम्राट पृथ्वीराज से मिलने कवि चन्द बरदाई गजनी के लिए चल पड़े, जहाँ दोनों की एक साथ मृत्यु बताई जाती है। दिल्ली से प्रस्थान करने

समय 'चन्द' ने रासो के शेष भाग को पूरा करने का कार्य अपने पुत्र 'जल्हण' को सौंप दिया—

पुस्तक जल्हण हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज।

+ + +

रघुनाथ चरित हनुमंत कृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथ्वीराज-सुजस कवि चन्द कृत चंद-नंद उद्धरिय तिमि॥

अतः पृथ्वीराज के वन्दी बनाए जाने तक की घटनाओं का वर्णन चन्दवरदाई द्वारा और बाद की घटनाओं का वर्णन उनके पुत्र जल्हण द्वारा हुआ, ऐसा लोगों का विश्वास है। अधिकांश विद्वान् इस रचना को अर्द्ध प्रामाणिक मानते हैं। डा० बूलर पृथ्वीराज रासो को अत्यन्त अप्रामाणिक और महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा ने इसे अनैतिहासिक माना है। पर इस ग्रन्थ को नितान्त अप्रामाणिक मान लेना ठीक नहीं जँचता। इसके कुछ अंश 'चन्द' द्वारा अवश्य लिखे गए हैं। रासो काव्य में पाई जाने वाली सभी कथानक रूढ़ियाँ इसमें प्राप्त होती हैं। इसमें युद्धों का प्रसंग बहुत है। कन्याहरण तथा विवाह आदि में युद्ध के प्रसंगों की योजना की गई है। एक ओर जहाँ 'चन्द' की फड़कती भाषा ने युद्ध का प्रभावोत्पादक वर्णन किया है, वहीं शृंगार रस की भी उसने निर्झरिणी बहाई है। वीर और शृंगार रस का इतना अच्छा सम्मिश्रण हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों में कम देखने को मिलता है। पृथ्वीराज और जयचन्द का युद्ध और मुहम्मद गोरी का युद्ध, चन्द का गजनी जाना और शब्द-वेधी बाण से मुहम्मद गोरी की मृत्यु जैसी घटनाओं से यदि एक ओर रोमांच हो उठता है तो वहीं दूसरी ओर पृथ्वीराज और संयोगिता के प्रेम-वर्णन जैसे प्रसंगों में पाठक रस-मग्न हुए बिना नहीं रह सकता। अवहट्ट भाषा इतनी पुरानी और दुरूह है कि पाठक इस रचना का भरपूर आनन्द नहीं ले पाता। फिर भी इसके अधिकांश स्थल ऐसे हैं जो काव्य-गुणों से युक्त साहित्यिक श्रेणी में रखने योग्य हैं। इस सन्दर्भ में दो एक उद्धरण पर्याप्त होंगे—

मनहु कला ससि भान कला सोलह सो बन्निय।
बाल बैस, ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय।
बिगसि कमल-स्रिग, भमर, बेनु, खंजन मृग लुट्टिय।
हीर, कीर अरु बिंब, मोति नख-सिख अहिघुट्टिय॥

+ + +

बज्जिय घोर निसान रान चौहान चहौं दिस।
सक्ल सूर सामंत समरि बल जंत्र मंत्र तिस॥

उट्ठि राज प्रिथिराज बाग मनो लग्ग वीर नट।
कढ़त तेग मनवेग लगत मनो बीजु भट्ट घट॥
थकि रहे सूर कौतिग गगन, रंगन मगन भइ श्रोन धर।
हदि हरष वीर जग्गे हुलसि हुरेउ रंग नवरत्त वर॥

(७) परमाल रासो : (रच०–जगनिक, सन् ११७३ ई०)

परमाल रासो के रचयिता जगनिक नाम के एक भाट थे, ऐसा उल्लेख मिलता है, जिन्होंने महोबे के दो प्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल की वीरता का इसमें अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। इसकी रचना गीतों के ढंग पर हुई है। परमाल रासो अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं होता। कुछ विद्वानों का कहना है कि पूर्व में यह पृथ्वीराज रासो का ही एक खंड था और बाद मे परमाल रासो नाम से इसे अलग रूप प्रदान कर दिया गया। पर यह इसलिए सत्य नहीं हो सकता कि प्रायः रासो-कारो ने अपनी कृतियों मे चरित-नायक की आद्यन्त प्रसंशा की है, किन्तु इसमे पृथ्वीराज की प्रसंशा नही है। **अतः यह पृथ्वीराज रासो का एक खंड नहीं बल्कि लोक–प्रचलित आल्हखण्ड का संग्रह परमाल रासो के आधार पर हुआ है, ऐसा लोगों का मत है।** परमाल रासो अपने गेय-तत्व एवं वीर रस प्रधान कथनों की लोक-प्रियता के कारण जन-कंठ में सुरक्षित रहा। फर्रुखाबाद के कलक्टर मिस्टर चार्ल्स इलियट ने जगनिक के लोक प्रचलित इन गीतों का संग्रह 'आल्ह खण्ड' के नाम से छपवाया, जिसमें इसका वीरत्व रूप तो सुरक्षित है पर जगनिक के मूल ग्रन्थ का क्या रूप था कहना कठिन है। आज भी उत्तर भारत के गाँवो मे वर्षा ऋतु में जब घटा घुमड़ कर आती है तो फूस की बैठकों मे ढोल की थाप पर आल्हा जिसे पंवारा भी कहते हैं, को लोग बड़े चाव से गाते हैं और सुनते हैं। इसमें साहित्यिकता तो नही है, फिर भी इसकी लोक-प्रियता मे सन्देह की गुञ्जाइश नहीं। **अनेक भौगोलिक अशुद्धियाँ, असंभावित कल्पनाओं एवं अतिशयोक्तियों के बावजूद आल्हा के छंद जन-मानस को अपनी लोकप्रियता से प्रभावित करते हैं।** जनकंठ का आश्रय पाकर इसके प्रसार की कोई सीमा नही रही। पर इसमें जो प्रवाह है, जो स्वच्छंदता है और जन-साधारण के मन को आकर्षित करने की जो शक्ति है वह इस काल के अन्य काव्यों के लिए ईर्ष्या की वस्तु है। गायक के कंठ से यह ज्यों ही फूटता है—

बारह बरिस लै कूकर जीयें औ तेरह लौं जियें सियार।
बरिस अठारह छत्रिय जीयें, आगे जीवन के धिक्कार॥

त्यों ही श्रोता वीर भाव मे रोमांचित हो आत्म विभोर हो जाते हैं। यथा स्थान इसमें शृंगार परक वर्णनों की छटा देखते ही बनती है। प्रकृति-वर्णन के लिए अवकाश

प्रायः ऐसे प्रसंगो मे कम ही होता है, पर जहाँ कही मानवीय भावनाओं को प्रकृति के उद्दीपक वातावरण के साथ जोड़ा गया है उससे सहज एवं स्वाभाविक सरसता की सृष्टि हुई है। आत्मा को स्पर्श करने वाली जिस ताजी अभिव्यक्ति को स्थान इस लोक-साहित्य मे मिला है वह अन्य साहित्यिक रचनाओं के लिए अनुकरणीय है। जैसे—

कारी बदरिया बहिनी लागा,
बदरा वीरन लगा हमार।
आज बरसि जा मोरे कनवज में,
कन्ता एक रैन रहि जॉय॥

इस प्रकार न जाने कितने गायक के कंठों ने इसके आकार वर्धन में अपना हाथ लगाया है। विभिन्न क्षेत्रों मे गाये जाने वाले इनके छंदों की भाषा मे भी स्पष्ट अन्तर देखने को मिल जाता है। ऐसी स्थिति मे हम इसे प्रामाणिक रचना के रूप मे तो स्वीकार नहीं कर सकते, पर इसे बिल्कुल अप्रामाणिक कहकर टाला भी नही जा सकता। 'पृथ्वीराज रासो' की तरह यह भी अर्द्धप्रामाणिक रचना है।

डिंगल काव्य

डिंगल अपभ्रंश के योग से बनी हुई राजस्थानी भाषा का साहित्यिक नाम है। चौदहवी शताब्दी के बाद डिंगल की धारा रुकने-सी लगी थी, पर आगे भी इसमें रचनायें होती रहीं। वीर और शौर्यवर्णन के लिए यह भाषा अत्यन्त उपयुक्त रहती है। राजस्थानी चारणो ने राजस्तुति और वीरतापूर्ण गर्वोक्तियाँ इसी भाषा मे की हैं। 'बेलिक्रिसन रुकमणीरी' जिसके रचयिता जोधपुर के राठौर राजा प्रिथीराज थे, इस भाषा की प्रमुख रचना है। इस प्रकार हिन्दी मध्यकाल मे भी इस भाषा में रचनायें होती रहीं। बाद मे इस भाषा मे भी शान्त और शृंगार परक रचनायें होने लगी।

पिंगल :

डिंगल के तौल पर राजस्थानी कवियों ने एक और शब्द गढ़ लिया था जिसका नाम है पिंगल, ऐसा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है। प्रादेशिक बोलियों के साथ जब मध्य देशीय भाषा का मिश्रण हुआ तो एक प्रकार की सर्वभारतीय भाषा बनी, जिसे हिन्दी में ब्रजभाषा या केवल भाषा कहते हैं। इसी श्रेणी की भाषा को राजस्थान में पिंगल कहा करते थे।

यहाँ तक आते-आते उत्तर भारत मे चलने वाली वीरता का दौर समाप्त हो चला था। बात-बात मे निकल पड़ने वाली तलवारें या तो टूट चुकी थी या म्यान में कहीं

जाकर ऐसी छिप गयी थी कि उनकी चमक मन्द पड़ गई। पारस्परिक संघर्षों में देशी राजे और सामन्त या तो समाप्त हो गए थे, या इतने दुर्बल पड़ गए थे कि उनमें युद्ध करने की शक्ति शेष नहीं रही। धीरे-धीरे मुसलमानों के पाँव देश में जमने लगे थे और वे अब आक्रमणकारी न होकर यहाँ के शासक बन बैठे। छिट-फुट प्रतिरोधात्मक लड़ाइयाँ अब भी हो जाया करती थीं पर उनमें अब वेग शेष नहीं रह गया था और विक्रम की १४वीं शताब्दी के अन्त तक देश में नयी व्यवस्था स्थिर होने लगी थी और जिन प्रकार की परिस्थितियों ने वीर गाथाओं को जन्म दिया था वह वातावरण भी समाप्त हो चला था। सामाजिक परिस्थितियाँ बदलीं, लोगों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन हुआ और परिणामस्वरूप कविता में भी परिवर्तन आया। जिस पुरानी भाषा और परम्परा का अनुकरण अब तक होता रहा उससे अलग हट कर वीर गाथाओं के अतिरिक्त बोलचाल की भाषा में लिखी जाने वाली रचनाओं के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं जिनमें पूरब के 'मैथिल कोकिल विद्यापति' और पश्चिम के 'खुसरो' का नाम उल्लेख्य है।

विद्यापति ठाकुर

महाकवि विद्यापति का जन्म दरभंगा जिले के बिसफी ग्राम के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल में (रामवृक्ष बेनीपुरी के अनुसार) सं० १४०७ अर्थात् सन् १३५० ई० में हुआ था। यह गाँव मिथिलेश राजा शिवसिंह की ओर से कवि को उपहार-स्वरूप मिला था। विद्यापति राजा शिवसिंह के मित्र, मंत्री, मार्गदर्शक और दरबार की शोभा वृद्धि करने वाले कवि भी थे। विद्यापति को शास्त्रज्ञान और विद्या-विदग्धता की समृद्ध परम्परा अपने गौरवशाली परिवार में ही प्राप्त हुई थी। विद्यापति के पिता गणपति ठाकुर सुप्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'कृत्य चिन्तामणि' के रचयिता और महाराज गणेश्वर के सभापण्डित थे। बचपन से ही विद्यापति अपने पिता के साथ महाराज गणेश्वर के दरबार में जाने-आने लगे। बाद में कीर्ति सिंह के दरबार से भी इनका सम्बन्ध रहा। कीर्तिसिंह के बाद मिथिला की राजगद्दी पर क्रमशः भवसिंह, देवसिंह, पद्मसिंह, लखिमादेवी, विश्वास देवी, हरिसिंह, नरसिंह, धीरमती, धीरसिंह और भैरवसिंह बैठे, जिनके दरबार में विद्यापति उपस्थित थे। इससे ज्ञात होता है कि विद्यापति एक दीर्घजीवी पुण्यात्मा पुरुष थे। वे पञ्चदेवोपासक थे। वे बहुत बड़े शिव भक्त भी थे। स्वयं शिव का भृत्य के रूप में, 'उगना' के नाम से आप के यहाँ रहने की कथा प्रसिद्ध है।

विद्यापति कवि, इतिहासकार, संगीतज्ञ, वृत्तान्त लेखक, कुशल प्रशासक और धर्म व्यवस्थापक के रूप में अपनी रचनाओं में हमारे सामने उपस्थित हैं। इनकी

रचनाएँ तीन भाषाओं में मिलती हैं। संस्कृत, अवहट्ट (अपभ्रंश) और मैथिली। संस्कृत में विभिन्न विषयों पर इनकी रचनाओं की संख्या तेरह के करीब है। अवहट्ट में इनकी दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—'कीर्तिलता' और 'कीर्ति पताका'। 'कीर्ति पताका' में महाराज शिवसिंह की कीर्ति एवं उनके आचरण का वर्णन है।

विद्यापति की मैथिली भाषा में कोई स्वतंत्र रचना नहीं मिलती, किन्तु समय-समय पर लिखे गए फुटकर पद ही मिलते हैं। ये पद तीन प्रकार के हैं। प्रथम कोटि में वे पद आते हैं जो शृंगार सम्बन्धी हैं। ऐसे अधिकांश पदों में राधा कृष्ण के नाम आये हैं। द्वितीय कोटि में भक्ति विषयक पद मिलते हैं। इन पदों में शिव-पार्वती, राधा कृष्ण और गंगा आदि के प्रति कवि की भक्ति-भावना का प्रकाशन हुआ है। तृतीय कोटि में कुछ ऐसे पद हैं जिनमें विविध विषयों की, मिथिला के लौकिक जीवन की, चर्चा है। विद्यापति के गीतों की सरसता कमनीयता और स्वर-माधुरी ने उन गीतों को इतना लोकप्रिय बना दिया कि बंगाल, आसाम, उड़ीसा, नेपाल और सम्पूर्ण हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में ये गीत अपनत्व के साथ गाये जाते हैं। इस प्रकार समस्त उत्तर पूर्व भारत में विद्यापति अत्यन्त लोकप्रिय कवि हैं। कुछ समय पहले तक विद्यापति को बंगला और मैथिली दोनों भाषाएँ अपना कवि मानती थी, परन्तु अब विद्यापति मैथिली के ही कवि है तथा वे भाषा और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की दृष्टि से हिन्दी-काव्य-परंपरा की महत्वपूर्ण इकाई सिद्ध और स्वीकृत हो चुके हैं।

विद्यापति प्रेम और सौंदर्य के कवि हैं। राधा और कृष्ण या यों कहिए नारी और पुरुष के रूप माधुर्य का जो सजीव चित्र कवि ने अंकित किया है, उसमें आकर्षण का प्रबल तत्व है जो प्रेम का कारण है। प्रेम के अंकुरित और सफल होकर स्थायित्व प्राप्त करने में पारस्परिक आकर्षण और साहचर्य दोनों का योग होता है। विद्यापति के पद-साहित्य में जो नारी की 'वयः सन्धि' का मोहक गतिशील चित्र है, 'नख-शिख' रूप का नयनाभिराम दृश्य है 'सद्यः स्नाता' का तरल सौन्दर्य है, तथा प्रेम प्रसंग के उत्सव का मनोमुग्धकारी आयोजन है, उसमें केवल शरीर की ही नहीं बल्कि मन और आत्मा की भंगिमाएँ भी हैं। उसमें केवल शारीरिक रूप ही नहीं है, बल्कि मानसिक सौन्दर्य और आत्मिक आस्था भी है। 'दूती-प्रसंग' 'नोक-झोक', 'सखी-शिक्षा', मिलन,' अभिसार, मान-अनुहार और 'विदग्ध विलास' का जो आयोजन है वह केवल कवि-मानस की उपज ही नहीं है, बल्कि वह समस्त लोक जीवन का अंग है। ये 'प्रेम महोत्सव के विभिन्न अंग हैं। विद्यापति का प्रकृति प्रेम उनके 'वसंत वर्णन' में देखना चाहिए। विद्यापति के विरह गीत यद्यपि संख्या में कम हैं किन्तु उनमें अनुभूति की जो निश्छलता और अभिव्यक्ति की स्फटिक स्वच्छता है, वैसा अन्यत्र कम उपलब्ध है।

"अनुखन माधव माधव सुमिरइत सुन्दरि भेल मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल, अपने गुन लुबुधाई।

× × ×

भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि, छल-छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत, आधा आधा बानि।
राधा सय जब पुनतहि माधव, माधव सय जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत, बाढ़त बिरहक बाधा।
दुहु दिसि दारु-दहन जैसे दगधइ आकुल कीट परान।"

× × ×

इस पद में प्रिय और प्रिया का जो पूर्ण तादात्म्य है वह प्रेम का चरम उत्कर्ष है, और विद्यापति की काव्य सफलता का ठोस प्रमाण भी। **विद्यापति के विरह-अंकन में कालिदास की प्रगीतात्मकता का प्रतिबिम्ब है, और सूरदास के विरह-निदर्शन का बिम्ब भी।**

विद्यापति ने भक्ति परक गीतों की भी रचना की है। उनके भक्ति परक गीतों में प्रार्थना और नचारी, शिव-स्तुति, पार्वती-स्तुति, शिव-पार्वती लीला, जानकी वन्दना और कृष्ण कीर्तन हैं। विद्यापति ने शान्त रस के निर्वेदजनक कुछ गीतों की भी रचना की है, जिनमें संसार की असारता का बोध, भक्त की दीनता की अनुभूति तथा भक्त का भगवान के सम्मुख आत्मसमर्पण और आत्मनिवेदन भी है। विद्यापति के भक्तिपरक गीतों में शिव-भक्ति के गीत अधिक हैं, राधाकृष्ण लीला के जो गीत हैं, उनमें शृंगार का आधिक्य है, इसलिए कुछ लोग विद्यापति को शैव ही मानते हैं। कुछ आलोचकों ने विद्यापति के शृंगार रस के गीतों में राधाकृष्ण को सुमिरन का बहाना मात्र माना है। वास्तव में विद्यापति दृढ़ आस्था के कवि थे। **इनके गीतों में कहीं भी अनुभूति की छलना या कृत्रिमता नहीं है,** इसलिए उनका शृंगार जितना **सघन और प्रबल है,** उनकी भक्ति भी उतनी ही **उज्ज्वल और गम्भीर है। विद्यापति के गीतों और जयदेव के गीत गोविन्द दोनों का एक ही उद्देश्य है – विलास कला कुतूहल के बीच—सरस मन से कोमल कान्ति पदावली में हरि स्मरण।** ये दोनो कवि अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल हैं। विद्यापति को भक्त कवि सिद्ध करने का आग्रह किये बिना भी यह कहना पड़ता है कि अगर उनके शृंगारपरक गीत भक्ति-विहीन हैं, तो व्रजभाषा का अधिकांश कृष्ण भक्ति काव्य भक्ति काव्य नहीं रह जायगा, और इस मधुर रस आप्लावित भक्तिकाव्य और रीतिकालीन शृंगार सने भक्तिकाव्य में कोई अन्तर भी नहीं रहेगा।

कीर्तिलता :

काव्य मे 'कहाणी' या 'कहानी' लिखने की एक परम्परा चल निकली थी। मुल्तान के ११वी शती के कवि अद्दहमाण या अब्दुल रहमान ने 'सन्देश रासक' नामक एक बडी सुन्दर प्रेम कहानी लिखी थी विद्यापति की कीर्तिलता भी एक ऐतिहासिक कहानी है जिसे उन्होंने काव्य के रूप में प्रस्तुत किया है। इस काव्य में तत्कालीन मुसलमानों, हिंदुओं, सामंतों, शहरों तथा परस्पर होने वाली लड़ाइयों और उसमें भाग लेने वाले सिपाहियों आदि का यथार्थ वर्णन हुआ है। काव्य के नायक कीर्ति सिंह की वीरता का चित्रण तो इसमें हुआ ही है साथ ही उनके विनत रूप की भी चर्चा इसमे उस स्थल पर हुई है जहाँ वे जौनपुर के सुल्तान फिरोज शाह के सामने उपस्थित हुए है। उनके इस विनत रूप मे हिन्दुओं की ऐतिहासिक पराजय की झांकी सुरक्षित है। कीर्तिलता की भाषा को विद्यापति ने स्वयं 'अवहट्ट' कहा है जो तत्कालीन प्रचलित काव्य भाषा से निश्चित ही भिन्न है।

खुसरो :

पृथ्वीराज की मृत्यु (सन् ११६२ ई०) के ६० वर्ष बाद खुसरो ने सन् १२८३ ई० के आस-पास अपनी रचनाएँ आरम्भ कीं। इन्होने गयासुद्दीन से लेकर अलाउद्दीन और कुतुबुद्दीन, मुबारक शाह तक कई पठान बादशाहो का शासन देखा था। वे फारसी के बहुत अच्छे लेखक और अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। इनकी मृत्यु सन् १३२५ ई० मे हुई। इनकी रचनाओं के सम्बन्ध मे विद्वानो में अनेक विवाद हैं। इसका एकमात्र कारण यही है कि इन्होने अपनी रचनाएँ एकाधिक भाषाओं मे की हैं। फारसी के तो अच्छे विद्वान् थे ही पर उन्होने उस समय की आम जनता में बोली जाने वाली भाषाओं में भी कविता लिखी है। फारसी और हिन्दी मिश्रित भाषा मे भी इनकी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। फारसी और हिन्दी का कोष जो पद्यो में तैयार किया गया है और 'खालिक बारी' के नाम से विख्यात है, कुछ लोगों का कहना है कि इसके रचयिता खुसरो ही है। इसमे सन्देह नही कि इन्होने हिन्दी में पर्याप्त रचनाएँ की हैं। खुसरो की हिन्दी रचनाओं में दो प्रकार की भाषा पायी जाती है। ठेठ खड़ी बोल-चाल मे उन्होंने पहेलियाँ, मुकरियाँ और दो शखुन रचे है, तथा गीतो और दोहों में मुख-प्रचलित काव्य-भाषा या ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। खुसरो का लक्ष जनता का मनोरंजन करना था जिससे उनकी भाषा उस काल के कवियों और चारणों द्वारा व्यवहृत रूढियो से जकडी काव्य भाषा से भिन्न है। नीचे के उदाहरणों से इसे स्पष्ट किया जा सकता है :

एक नार ने अचरज किया। साँप मारि पिंजड़े में दिया॥
जों जों साँप ताल को खाए। सूखे ताल साँप मर जाए॥
(दीया-बत्ती)

एक नार दो को ले बैठी। टेढ़ी होके बिल में पैठी॥
जिसके बैठे उसे सुहाय। खुसरो उसके बल बल जाय॥
(पायजामा)

उज्ज्वल बरन, अधीन तन, एक चित्त दो ध्यान।
देखत मे तो साधु है, निपट पाप की खान।
खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भए एक रंग॥
गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारै केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥

स्मरणार्थ

इस काल के विभिन्न नाम—

(१) बीजवपन-काल (आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी)
(२) वीरगाथा-काल (पं० रामचन्द्र शुक्ल)
(३) सिद्ध-सामन्त-युग (पं० राहुल सांकृत्यायन)
(४) आदि-काल (डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी)
(५) चारण-काल (डॉ० रामकुमार वर्मा)

प्रवृत्तियाँ तथा विशेषताएँ—

(१) **विधा**—रचनाओं के मुख्य दो रूप—(१) प्रबन्ध तथा (२) मुक्तक। प्रबन्धों को रासो के नाम से अभिहित किया गया।

(२) **वर्ण्य-विषय**—वीर-गाथायें लिखी गईं और युद्धों का अतिरंजनापूर्ण वर्णन हुआ। कवियों ने आश्रयदाताओं के पराक्रम, शौर्य एवं सौन्दर्य का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया। आश्रयदाता का सम्बन्ध पड़ोसी राजा की सुन्दरी कन्या से स्थापित किया गया। नारी-सौन्दर्य के ये स्थल शृंगार रस में ओतप्रोत होते, सुन्दरी को प्राप्त करने हेतु कवि अपने आश्रयदाताओं को प्रोत्साहित करना अपना परम कर्त्तव्य समझता था।

(३) **कवि**—इस युग के कवि आश्रयदाताओं के साथ युद्ध में भी जाते थे। उनके एक हाथ में कलम रहती और दूसरे हाथ में तलवार। इस युग के अधिकांश कवि भाट या चारण थे।

(४) रस—प्रधान रस वीर था। श्रृंगार रस का दूसरा स्थान था। करुणा, भयानक, रौद्र और वीभत्स भी यथास्थान पाए जाते हैं।

(५) **ऐतिहासिकता पर अतिरंजना का आवरण**—रचनाओं में ऐतिहासिकता का अभाव है। प्रक्षिप्त अंशों की बहुलता है। कल्पना की प्रखर प्रवणता के कारण ऐतिहासिकता की ओर कवियों की दृष्टि विशेषतः कम गयी है। कवियों की प्रतिभा अतिरंजना में अधिकरमी है। बहुत से ऐसे राजाओं का वर्णन किया गया है तथा उनसे युद्ध कराये गये है जो कभी धरती पर हुए ही नही।

(६) इन काव्यों में जन-साधारण की उपेक्षा की गयी। केवल राजाओं और सामन्तो के क्रिया-कलापो का ही वर्णन किया गया।

(७) **एक राष्ट्र और राष्ट्रीय-भावना का अभाव तथा संकुचित राष्ट्रीयता का वेग**—इन काव्यों में एक राष्ट्र की भावना का नितान्त अभाव है। सौ-पचास गांव के छोटे-मोटे राजा स्वयं मे राष्ट्र थे। ये आपस मे एक दूसरे पर आक्रमण प्रत्याक्रमण करते थे। सम्पूर्ण भारत की कल्पना नही थी।

(८) **काव्य में भाव-प्रवणता की कमी**—वस्तुओं की लम्बी-सूची तथा सेना के वर्णनों का आधिक्य है। ऐसे वर्णन अनेक स्थलों पर नीरस हो गए है।

(९) **प्रकृति-चित्रण**—आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूपो मे प्रकृति का चित्रण हुआ है। उद्दीपन के रूप मे प्रकृति-वर्णन अपेक्षाकृत अधिक सफल हुआ है। गिरि, सरिता आदि के वर्णन उत्तम हैं, किन्तु जहाँ इनकी गिनती गिनाई गई है, वे स्थल नीरस हो गए है।

(१०) भाषा—अपभ्रंश, डिंगल और पिंगल भाषाओं में रचनाएँ हुईं। साहित्य की प्रमुख भाषा राजस्थानी थी। इसे ही डिंगल के नाम से पुकारा जाता है। इस युग में भाषा ने तलवार का पानी पीया था। शस्त्रों की झन-झनाहट भाषा के प्रवाह में सुनाई पड़ती है।

(११) छन्द—दूहा, गाहा, छप्पय, पद्धड़ी, तोटक, आल्हा, आर्या, रोला, कुण्डलियाँ आदि इस काल के प्रिय छन्द रहे है। भावों के अनुसार छन्दों का परिवर्तन इस युग की विशेषता रही है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों मे—"रासों के छन्द जब बदलते है, तो श्रोता के चित्त में प्रसंगानुकूल नवीन कम्पन उत्पन्न करते है।"

(१२) इस युग के साहित्य का महत्त्व साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से कम एवं भाषा-विकास के अध्ययन की दृष्टि से अधिक है।

प्रमुख कवि एवं काव्य

अपभ्रंश की रचनाएँ :

कवि	—रचनाएँ
नल्हसिंह	—विजयपाल रासो
शार्ङ्गधर	—हमीर रासो
विद्यापति	—कीर्तिलता एवं कीर्तिपताका

डिंगल की रचनाएँ :

दलपति विजय	—खुमान रासो
नरपति नाल्ह	—बीसल देव रासो
जगनिक	—परमाल रासो या आल्ह खण्ड
मधुकर	—जय मयङ्क जस चन्द्रिका
भट्ट केदार	—जयचन्द-प्रकाश

परम्परामुक्त कवि :

अमीर खुसरो	—(मुकरी, पहेलियाँ, दोहे आदि)
विद्यापति	—(पदावली)

●

पूर्व मध्य काल

(भक्ति साहित्य)

(सन् १४००—१६५० ई०)

परिस्थिति :

केन्द्र में हिन्दू शासन के लगभग समाप्ति के साथ ही हिन्दी के आदिकाल की समाप्ति हुई। भारतीय इतिहास का यह वह युग था जहाँ पहुँच कर भारतीय पौरुष कुंठित हो गया था और उसने अपनी दुर्बलता के कारण विवश हो आक्रमण-कारी मुसलमान शासकों को देश में बस जाने दिया। देश के सम्मुख बहुत दिनों बाद यह एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हुई थी। मुसलमान आक्रमणकारियों के आक्रमणकाल में परस्पर लड़ने वाले हिन्दू राजाओं ने यह कभी नहीं सोचा था कि मुसलमान यहाँ आकर शासन करेंगे और देश पराधीन हो जायगा। उनका विचार था कि ये धन लोलुप यवन लूटमार करके चले जायेंगे, पर जब उन लोगों ने हाथ पाँव फैलाना आरम्भ कर दिया तो लोगों की आँखें खुलीं, जबकि समय हाथ से निकल चुका था। परस्पर की लड़ाइयाँ और निरन्तर पड़ने वाले आक्रमणों की मार से देश जर्जर हो गया था जिससे रक्षा कर पाने में देशी शासक पूर्ण असमर्थ सिद्ध हो चुके थे। राजा को ईश्वर या ईश्वरांश मानने वाली आस्थावान हिन्दू जनता विचलित हो गई थी और कुछ काल के लिए वह सर्वत्र शून्यता का अनुभव करने लग गई थी। जिन-जिन तत्वों से वह गौरव, गर्व और उत्साह का अनुभव करती थी, उनकी निस्सारता उनके सामने ही प्रमाणित हो रही थी। उसके सामने ही उसके मन्दिर तोड़े जाते थे, मूर्तियाँ गिराई जाती थी; न तो वह कुछ कर पाती थी और न तो उसके देशी शासक, जिन पर बहुत दिनों से सुरक्षा का भार सौंप कर वह निश्चिन्त सोती रही। छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों का अस्तित्व भी समाप्त हो चला था। कुछ तो परस्पर की लड़ाइयों में ही टूट गए और जो बच रहे वे भी मुसलमानी शासन के स्थापित हो जाने के कारण हतप्रभ होकर विलीन हो गए। ऐसी स्थिति में न तो देशी दरबार रहे और न तो उनमें खड़े होकर वीरता के गीत गाने वाले वीर रस के कवि। स्थिति भी ऐसी आ गई थी कि वीर गीतों को प्रेरणा प्रदान करने की सम्भावित परिस्थितियाँ भी नहीं रह पाई थी और यदि वे लिखे भी जाते तो बिना लज्जित हुए उन्हें सुनने वाला भी कोई शेष नहीं था।

यह साहित्यिक दृष्टि से अकाल और राजनीतिक दृष्टि से चिन्ता का काल था। मौर्य साम्राज्य के पतन और गुप्त साम्राज्य के उदय के बीच जैसी स्थिति संस्कृत साहित्य की हुई थी ठीक वैसी ही स्थिति हिन्दू साम्राज्य के छिन्न भिन्न हो जाने पर हुई। जिस प्रकार गुप्त काल के शासकों ने देश की श्रीवृद्धि कर साहित्य और कला को नवजीवन प्रदान किया उसी प्रकार हिन्दी मध्यकालीन सामन्तों की कला-प्रियता ने साहित्यकारों और कलाकारों को नवीन उत्साह और प्रेरणा प्रदान की। अन्तर केवल देशी और विदेशी का था। भारतीय इतिहास के मध्य काल के सामन्त हिन्दू थे जिनसे उनके द्वारा जिस संस्कृति और सभ्यता का विकास हुआ वह पूर्णतः भारतीय थी, किन्तु हिन्दी मध्यकाल के प्रमुख सामन्त मुसलमान अथवा उनसे संरक्षित थे जिनसे इस काल में जिस कला एवं संस्कृति को प्रोत्साहन मिला उसमें विदेशी मेल है।

बहुत से विदेशी आक्रामक तो ऐसे रहे जो भारत में केवल धन लूटने आए थे, राज्य करने नहीं। किन्तु गुलाम और खिल्जी वंश के लोगों ने शासन भी किया। गुलाम और खिल्जी वंश का भारत भूमि पर शासन (सन् १२००-१४१२ ई०) लगभग दो सौ वर्षों तक रहा। इतने समय में देशी राजाओं की स्थिति बहुत कुछ बिगड़ चुकी थी। वे बिल्कुल निःशक्त हो गए हों ऐसी बात नहीं थी किन्तु उनकी सुदृढ़ता पूर्ववत् नहीं रह पाई थी। आपसी फूट का महान रोग उनकी शक्ति के मूल में लग गया था और सम्राट पृथ्वीराज की पराजय से भी वे होश में नहीं आ सके थे। ऐसी ही परिस्थिति से चतुर सेनानी बाबर ने लाभ उठाकर भारत की स्वाधीनता को दीर्घ काल तक के लिए हथिया लिया। जिस समय बाबर ने भारत पर आक्रमण किया उस समय भी यहाँ राणा सांगा ऐसे वीर मौजूद थे जो प्रत्यक्ष युद्ध में अनेकों बार बाबर को पराजित कर सकते थे। पर वे करते कैसे उन लोगों के ही आमन्त्रण पर तो बाबर आया था और वे भी बेचारे क्या जानते थे कि बाबर आकर फिर जाने का नाम नहीं लेगा। उन लोगों ने तो उसे दिल्ली की मुस्लिम सल्तनत को उखाड़ फेंकने के लिए बुलाया था और सोचा था कि अन्य आक्रमणकारियों की भांति वह भी हीरे-जवाहिरात लूट कर अपने देश चला जायगा। बाबर का स्वप्न और उनके जीवन की कल्पना भारत देश, जिनके लिए वह कब से आशा लगाए बैठा था, उसे पाकर क्या वह छोड़ देता? उसने दिल्ली सुल्तान को पानीपत के मैदान में पराजित किया और अपने पथ के एकमात्र बाधक राणा सांगा को फतेहपुर सीकरी के मैदान में सन् १५२७ ई० में। तब जाकर राजपूतों की *आँखें खुलीं। समय हाथ से निकल* चुका था क्योंकि राजपूतों का सूर्य राणा सांगा डूब चुका था, पराजित हो चुका था।

बाबर का सम्पूर्ण जीवन एक प्रकार से युद्ध में ही बीता और खुदा की मरजी से अपने प्यारे बेटे हुमायूँ की प्राण रक्षा में अल्पकाल में ही बस बसा जिससे वह जीते

हुए भारतीय राज्यों की समुचित व्यवस्था न कर सका और हुमायूँ को परेशानियों का सामना करना पड़ा। **भारत में मुगल साम्राज्य की नींव उस दिन पड़ी जब शेरशाह द्वारा हारकर भागा हुआ हुमायूँ पुनः भारत लौटा।** शेरशाह बड़ा ही योग्य शासक था किन्तु वह अपनी सारी शक्ति राजनीतिक व्यवस्था एवं भूमि सुधार आदि जनहित कार्यों में खर्च करता रहा और आकस्मिक मृत्यु हो जाने के कारण उसे समय भी बहुत कम मिला जिससे उसके शासन-काल में साहित्य, कला एवं संस्कृति की कोई विशेष उन्नति नही हो सकी। यद्यपि महाकवि जायसी कृत 'पद्मावत' शेरशाह के शासन-काल मे ही रच गया। हुमायूँ भी सन् १५५६ ई० मे महल की सीढ़ी से गिरकर मर गया जिससे वह भी शेरशाह की भांति साहित्य एवं कला को कुछ भी नही दे सका। **भारतीय साहित्य एवं कला का नवीन प्रभात उसी दिन हुआ जिस दिन दिल्ली के तख्त पर सम्राट अकबर आसीन हुआ।** उसने अपने पचास वर्षों के शासन-काल मे मुगल साम्राज्य की नींव इतनी दृढ़ कर दी कि आगे दो सौ वर्षो तक मुगल सम्राटो ने जम कर सुख भोगा। सम्राट अकबर के शासनारूढ़ होने के पूर्व राजनीतिक जीवन मे अस्थिरता थी।

विषम राजनैतिक परिस्थितियो का प्रभाव धार्मिक जन-जीवन पर भी पड़ा। अनास्था के जिस भाव का संचार भारतीय जीवन मे हुआ, उसने अपना प्रभाव धार्मिक भावनाओ के क्षेत्र मे भी डाला। भारत की हिन्दू जनता धर्म से दूर हटने लगी थी और उसकी धार्मिक भावना दबने लगी थी। **इस देश की मिट्टी ही ऐसी है कि कभी भी भक्ति की धारा बिलकुल सूख नहीं पाई पर उसके प्रवाह में मंथरता अवश्य आ गई।** महाभारत काल से जिस भक्ति का सूत्रपात होकर पुराण काल तक विकसित होता गया, उसकी भावात्मक अनुभूति मे पूर्व का सा वेग तो नही रह पाया था पर उसकी क्षीण धारा का प्रभाव बिल्कुल खण्डित नही हुआ था। वह बर्फानी सरिता की भांति कही लक्षित और कही अलक्षित होकर बहती भर जा रही थी। भारतीय जनता ने देख लिया था कि उसके स्वत्व की रक्षा न तो उसके धर्म कर सके और न तो स्वयं के उसके पुरुषार्थ। ऐसी स्थिति में पूर्व से ही चले आते वज्रयानी सिद्ध और कापालिक जिनका प्रभाव देश के पूर्वी भाग मे था और नाथ पंथी योगी जिनका विस्तार पश्चिमी भागो की ओर था, अपना प्रभाव डालने लगे। फलतः इन सिद्धों और योगियों के प्रभाव के कारण जनता की दृष्टि आत्म कल्याण और लोक कल्याण की ओर से तो हटी ही, साथ ही वह कर्म पथ से भी विरत होने लगी। पं० रामचन्द्र जी शुक्ल के अनुसार उनकी अटपटी बानी गुह्य रहस्य और सिद्धि लेकर उठी थी। वे धाक जमाने के लिए वाह्य जगत की बातें छोड़कर भीतर के कोठों की बात बताया करते थे। सामान्य अशिक्षित, अर्द्धशिक्षित जनता पर इसका प्रभाव पड़ा और वह ईश्वर भक्ति तथा कर्म पथ को त्यागकर मंत्र तंत्र और उपचारो

में जा उलझो। पर विद्वान लोगों पर इस प्रवाह का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और अपने ढंग से वे शास्त्र चर्चा सीमित क्षेत्र में करते चले आ रहे थे। इस नवीन परिस्थिति के मूल में केवल मुसलमानी शासन ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैसा कि कुछ विद्वानों का कहना है कि जब मुसलमानों ने हिन्दुओं पर अत्याचार करना आरम्भ कर दिया तो वे कण्ठी माला जपने लगे, बात ऐसी नहीं है। मुसलमानी अत्याचारों का प्रभाव तो पड़ा, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, पर भक्ति भावना के विकास की भूमिका देश में इसके पूर्व से ही बनने लगी थी। यदि यही मूल कारण होता तो भक्ति का आरम्भ सबसे पहले उत्तर और पश्चिम में होता जहाँ मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं के मन्दिर तोड़े जा रहे थे, जब कि इसका आरम्भ दक्षिण में हुआ। इसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है कि भक्तिकाल के आरम्भ होने से पूर्व ही सहजयानी और नाथपंथी साधक देश में रमने लगे थे। इनके द्वारा रचित भावनात्मक और पश्चिमी प्रदेशों से प्राप्त होने वाली नीति शृंगार तथा कथानक साहित्य का अद्भुत समन्वय चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ जिसे भक्ति साहित्य की संज्ञा दी गई। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि इस समय ऐसे विशाल एवं व्यापक धार्मिक आन्दोलन का उदय हुआ कि जो बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी अधिक व्यापक था। यह धार्मिक आन्दोलन ऐसा नहीं था जो कि किसी एक अंचल विशेष या प्रान्त विशेष तक ही सीमित रहता, बल्कि ऐसा था कि इसकी चपेट में देश का अधिकांश भाग आ गया। इसके लिए सुदृढ़ मुस्लिम शासन ने भी अनुकूल भूमि प्रस्तुत की। जब तक देश में स्वशासन था, देश अनेक राज्यों में विभक्त हो पारस्परिक लड़ाइयों का केन्द्र बना हुआ था जिससे देश के स्तर पर एकता की भावना का उदय ही नहीं हो पा रहा था। पराधीन हो जाने के कारण जो नवीन समस्याएँ उत्पन्न हुईं वे थोड़े बहुत अन्तर के साथ सबके लिए समान थीं। विदेशी सबके शत्रु थे और उनके कारण सभी अपने को अपमानित अनुभव करने लगे थे जिससे परस्पर एकता की भावना का उदय हुआ। इस परिस्थिति में जो धार्मिक आन्दोलन चल पड़ा था उसका प्रभाव देशी स्तर पर दिखाई पड़ा।

इसकी व्यापकता को देखकर 'ग्रियर्सन साहब' (अंग्रेज इतिहासकार) हैरत में पड़ गए और उन्होंने यह अनुमान लगा डाला कि निश्चित ही इस धार्मिक आन्दोलन पर ईसाइयत की छाप है। अंग्रेजों का अपना विश्वास था कि भारत में कोई भी अच्छी चीज हो ही नहीं सकती, उनके लिए तो संसार में एक मात्र उनका देश योरोप ही है। 'ग्रियर्सन साहब' की यह क्लिष्ट कल्पना दुर्भावना से पूर्ण है। बिजली की चमक की भाँति जो यह धार्मिक आन्दोलन कौंध कर स्थिर होता गया उनके मूल में ऐसी जाति की धार्मिक कट्टरता है जिससे हिन्दुओं को जूझना पड़ रहा था। मुस्लिम जाति स्वभाव से ही कट्टर होती है, साथ ही उनकी कट्टरता इसलिए और बढ़ गई थी कि

वह शासन प्रसार के साथ इस्लाम धर्म का भी प्रचार करना चाहती थी और उसमें उसे पर्याप्त सफलता भी मिली। काफी मात्रा मे भय, प्रलोभन एवं राजकीय सम्मान की कामना से हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म स्वीकार किए। अतः धर्म परिवर्तन के परिणाम स्वरूप जो नये मुसलमान बने थे वे असली मुसलमानों से भी अधिक कट्टर थे और उनके प्रति हिन्दुओं में अपेक्षाकृत घृणा की भावना भी अधिक थी। यही कारण है कि मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता ने उदार हिन्दुओं को धार्मिक भावनाओं के प्रति कट्टर होने के लिए विवश किया। विभिन्न धर्म, जाति और संस्कृति को अपने में पचा कर आगे बढ़ने वाली हिन्दू जाति भी अनुदार बनी, पर इसका अर्थ यह नही कि उसकी यह शक्ति एवं विशेषता बिलकुल समाप्त हो गई। उसमें ह्रास अवश्य हुआ फिर भी नवीन धार्मिक भावनाओ का उसने स्वागत किया। सूफी सन्तो का धार्मिक आन्दोलन तथा मुसलमानो का एकेश्वरवाद समान रूप से हमारे भक्ति काव्य पर लक्षित होता है जिसकी पुष्टि सम्बन्धित कवियों की विवेचना मे हो जायगी।

धार्मिक आन्दोलन के आरम्भ का श्रेय जिस दक्षिण को है वह जटिल जाति व्यवस्था के रोग से अत्यन्त ग्रस्त था, फिर भी एक मध्यम मार्ग निकाल कर धार्मिक आन्दोलन को आगे बढाने का श्रेय वैष्णव आचार्य श्री रामानुजाचार्य को दिया जा सकता है। आरम्भ मे छुआछूत की भावना की उपेक्षा करके साधारण जनता को एक धार्मिक मंच पर इकट्ठा किया गया और कुछ काल बाद आचार्यों ने उसी सर्वसाधारण मे प्रचलित धर्म को शास्त्रीय रूप प्रदान किया जो उत्तर भारत के लिए अनुकरण का कारण बना। उत्तर भारत की जनता में जो धार्मिक भावना पहले से ही वर्तमान थी, वह दक्षिण के भक्ति आन्दोलन की टेक पाकर शक्तिशाली रूप में प्रकट हुई। यहाँ पौराणिक धर्म का प्रचार इस धार्मिक आन्दोलन के पहले से ही था।

इस युग में अवतारों को विशेष महत्व प्रदान किया गया। सभी प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों ने किसी-न-किसी रूप में अवतार की कल्पना की। शिव के अनेक अवतारो की कल्पना की गई। गोरखनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ को, शिव का अवतार माना गया और यहाँ तक कि जिस 'कबीर' ने अवतारवाद की स्वयं घोर निन्दा की उसे भी उनके अनुयाइयो ने 'ज्ञानी जी' का अवतार मान लिया। केवल भगवान ही नहीं 'सूरदास', 'हितहरिवंशदास' तथा तुलसीदास जी जैसे सन्तो को भी क्रम से 'उद्धव', मुरली और बाल्मीकि का अवतार कहा गया। इसका कारण यह है कि सगुण भक्ति के मूल में ही अवतार की कल्पना है। पूर्व में ही इसका संकेत किया जा चुका है कि विविध सम्प्रदायों एवं धार्मिक भावनाओ का इस काल मे संगम हुआ और सबका कुछ-न-कुछ प्रभाव भक्ति आन्दोलन पर पडा। फलतः इस काल के भक्ति-साहित्य मे सगुण और निर्गुण दो भक्तियों का विशेष रूप से निरूपण हुआ।

इस प्रकार विभिन्न रुचि और विश्वास तथा स्तर के लोगों के लिए साहित्य दृष्टि का संकल्प लेकर भक्त कवियों ने जनता के हृदय को सँभाला जो परिवर्तित राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में एक प्रकार की शून्यता का अनुभव करने लग गई थी। यह भक्ति आन्दोलन आगे चलकर इतना प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ कि हिन्दू ही नहीं देश में बसने वाले मुसलमान जिनमें सहृदयता थी, इसकी लपेट में आ गए। अवतार की महत्ता कल्पना ने भक्ति आन्दोलन में आस्था रखने वाले कवियों को ऐसी भूमि प्रदान की कि उन्होंने ईश्वर के ऐसे प्रेममय रूप को मानव सुलभ विशेषताओं के साथ सामने रखा कि हिन्दू और मुसलमान का भेद-भाव ही मिट गया। दोनों समान रूप से इस ओर आकर्षित हुए। परिणामस्वरूप दक्षिण से धीरे-धीरे चली आ रही भक्तिधारा को उत्तर में परिवर्तित राजनैतिक परिस्थितियों के कारण फैलने का पर्याप्त अवसर मिला। रामानुजाचार्य ने (सन् १०१६ ई०) शास्त्रीय पद्धति से जिस सगुण भक्तिधारा का प्रतिपादन किया था, इस ओर जनता को आकर्षित होने में विलम्ब नहीं लगा। गुजरात में स्वामी माध्वाचार्य (सन् ११९७ ई०—१२७६ ई०) ने द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार किया और देश के पूर्वी भाग के 'जयदेव' के कृष्ण प्रेम-संगीत की गूँज चली आ रही थी। दोनों ही धाराओं का प्रभाव जनता पर पड़ रहा था। मिथिला के कोकिल विद्यापति ने **'जयदेव'** के स्वर में जो ऐसा स्वर मिलाया कि तत्कालीन सारा साहित्यिक वातावरण उनसे गूँज उठा था। उत्तर या मध्य भारत में **रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में स्वामी रामानन्द ने ईसा की १५वीं शताब्दी में विष्णु के अवतार राम की उपासना पर बल दिया,** जिसके प्रभाव में एक नवयुक्त सम्प्रदाय चल पड़ा। इसी के समानान्तर दूसरी ओर स्वामी वल्लभाचार्य ने प्रेम के अवतार कृष्ण को लेकर जन-जीवन को रसमग्न किया। इन भक्तों ने ब्रह्म के सत् और आनन्दस्वरूप को राम और कृष्ण के रूप में जगत के व्यक्त क्षेत्र में साक्षात्कार के निमित्त प्रस्तुत किया। स्वामी रामानन्द के भक्तों की दो श्रेणियाँ थीं जिनमें एक निर्गुण भाव से राम की उपासना करता था और दूसरा सगुण भाव से। वल्लभाचार्य ने कृष्ण भक्ति का प्रचार उनके लीला पक्ष पर जोर देते हुए किया जिससे इनके भक्तों में मर्यादा पुरुषोत्तम और दुष्ट-दलन रूप प्रधान नहीं रह पाया। भक्तिकाल के कवियों की जो सबसे बड़ी विशेषता थी वह यह कि वे या तो स्वान्तः सुखाय रचनाएँ कर रहे थे अथवा लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर। उन्होंने राजाश्रय ग्रहण नहीं किया और न तो चारणों की भाँति सम्राटों का यशोगान ही किया।

निर्गुण काव्य धारा

ज्ञानाश्रयी शाखा :

निर्गुण भक्ति के विकास के मूल में अवतार वाद की उपेक्षा थी। देश में तुर्क

लोगों की संख्या कम नहीं थी जिन पर नाथपंथी साधुओं का प्रभाव था और जिनके हृदय में प्रेम भाव और भक्ति रस के लिए कोई स्थान नहीं था। इस्लाम के माध्यम से जो एकेश्वरवाद भारतवर्ष में आया उनका भी प्रभाव पड़ना अनिवार्य था क्योंकि वह शासक वर्ग का धर्म था। परिणामतः एक लम्बा समुदाय ऐसा था जिसे अवतार वाद अथवा सगुणोपासना की ओर नहीं ले जाया जा सकता था। ऐसे लोगों के लिए 'निराकार ब्रह्म' की उपासना अधिक ग्राह्य हुई जिसमें एक प्रकार की शुष्कता भी थी, जो नाथ पंथी साधुओं के प्रभाव में पड़े लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर सकती थी और अवतार वाद से भी उसका मेल नहीं खाता था। इसकी जो सबसे बड़ी विशेषता थी वह यह कि इसने अपना प्रसार ऐसी जनता में किया जो निम्न श्रेणी की समझी जाती थी और जिसे शास्त्र सम्मत धर्म में भागी बनने का अधिकार नहीं मिला था। निर्गुण भक्ति के प्रवर्तकों ने उपेक्षित और अवमानित जनता में आत्म गौरव का भाव जगाकर उस समय भक्ति आन्दोलन को पूर्णता प्रदान की, नहीं तो देश का एक बहुत बड़ा समाज भारतीय चिन्ताधारा से कट कर दूर जा पड़ता। पंडित रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'यह सामान्य भक्ति मार्ग एकेश्वरवाद का एक अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ, जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था और कभी पैगम्बरी खुदावाद की ओर।" यह निर्गुण पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसने जाति-पांति के भेदभाव को मिटाकर ईश्वर की भक्ति के लिए मनुष्य मात्र के अधिकार का समर्थन किया। निर्गुण भक्ति का विकास काव्य के क्षेत्र में दो शाखाओं के माध्यम से हुआ। ईश्वर भक्ति के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जिन लोगों ने 'ज्ञान-पक्ष' की महत्ता का प्रतिपादन किया वे ज्ञानमार्गी और जिन लोगों ने लौकिक प्रेम-गाथाओं के माध्यम से ईश्वर परक प्रेम की झांकी प्रस्तुत की वे लोग प्रेममार्गी कहलाए जिनमें सूफियों के काव्य आते हैं। निर्गुण काव्य धारा को प्रवाह देने वाले संतों में महाराष्ट्र के नामदेव और मध्य प्रदेश के रामानन्द जी का नाम प्रमुख है। इस युग के महान गुरु रामानन्द के बारह शिष्यों की चर्चा नाभादास के 'भक्तमाल' में मिलती है, जिनके नाम हैं—(१) अनंतानन्द, (२) सुखानन्द, (३) सुरसुरानन्द, (४) नरहर्यानन्द, (५) भावानन्द, (६) पीपा, (७) कबीर, (८) सेना, (९) धना, (१०) रैदास, (११) पद्मावती और (१२) सुरसुरी। इन निर्गुण संतों में कबीरदास का नाम प्रमुख है।

'सुन्दरदास' को छोड़कर अधिकांश सन्तों के पढ़े-लिखे न होने के कारण इनका प्रभाव शिक्षित जनता पर तो नहीं पड़ा, पर समाज से बहिष्कृत, पीड़ित जनता के बीच इन्हें अद्भुत लोकप्रियता प्राप्त हुई। इन सन्तों द्वारा उपदेश के प्रति इतना अधिक आग्रह दिखलाया गया कि इनके द्वारा रची हुयी रचनाएँ प्रचारात्मक बन कर रह गई और साहित्य के क्षेत्र में उन्हें कोई विशेष स्थायित्व नहीं प्राप्त हो सका। इस सम्प्रदाय

के सभी सन्त कवियों द्वारा एकेश्वरवाद तथा निर्गुण निराकार ईश्वर की उपासना और हठ-योग द्वारा साधना की सिद्धि पर बल दिया गया है। मूर्तिपूजा की निस्सारता पर जमकर प्रहार करते हुए गुरु की सर्वोपरि महत्ता पर सभी सन्तों ने जोर दिया है। जाति पाँति को लेकर जो भेदभाव तथा धार्मिक बाह्याडम्बर और पाखण्ड समाज को छिन्न भिन्न कर रहे थे उनका तिरस्कार कर मानव की स्वाभाविक ममता को महत्व प्रदान करते हुए अहिंसा ग्रहण की ओर जनता को ले जाने का स्तुत्य प्रयास इन सन्त कवियों द्वारा हुआ। इस प्रकार की धार्मिक भावना का निर्माण एकाधिक धर्मों के सम्मिश्रण में हुआ जिनमें सिद्ध और नाथ पंथियों तथा इस्लाम के मूलभूत सिद्धान्तों का विशेष हाथ है। साधना के निमित्त अपनी साम्प्रदायिक शब्दावली में इन सन्तों ने कुछ स्वीकारात्मक और नकारात्मक विधियों की व्यवस्था भी की। शिक्षा के अभाव तथा एक ही विषय के पिष्ट पोषण के कारण इनमें साहित्यिकता का अभाव दिखलाई पड़ता है।

ज्ञान मार्गी शाखा के कवियों का स्वरूप उस समय देखते ही बनता है जब वे जात-पाँत, परम्परा, धार्मिक आडम्बर तथा अवतारवाद पर प्रहार करने लग जाते हैं। इस खेवे के सभी सन्त कवियों में जो यह कटुता और दुराग्रह पाया जाता है उसके मूल में है उनकी अपनी स्वयं की परिस्थिति एवं तत्कालीन वातावरण। हिन्दू-धर्म विरोधी भावनाओं को तात्कालीन मुसलमान शासकों द्वारा प्रश्रय मिल रहा था। इस्लाम धर्म के प्रचार में लगे हुए 'पीर-पैगम्बर' निम्न श्रेणी की कही जाने वाली जातियों में अपना प्रभाव बढ़ा रहे थे, इसका कारण भी था। हिन्दू-वर्ण-व्यवस्था ने छूत-अछूत का ऐसा पचड़ा रच रखा था कि ऊँची कही जाने वाली जातियाँ मुसलमानों से कम घृणा अछूतों से नहीं करती थीं। इसकी प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई थी। कुछ तो धर्म परिवर्तन की ओर बढ़ रहे थे और कुछ जो जागरूक थे, परम्पराओं पर निर्मम प्रहार कर रहे थे। ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि या तो मुसलमान थे या निम्न श्रेणी के हिन्दू और दोनों ही हिन्दू परम्पराओं के शत्रु थे। अवतारों के रूप में भी जो कल्पना परम्परा से प्राप्त थी उससे भी उच्च कही जाने वाली जाति का गौरव वर्द्धन होता था। जितने भी अवतार हुए प्रायः क्षत्रियों के घर ही हुए। उच्च जातियों के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, इन सन्तों ने उनकी लपेट में ये अवतार भी आ गए, और इन लोगों ने जमकर अवतारवाद का खण्डन किया है। यही इन सन्त कवियों का प्रमुख उद्देश्य था।

इनका प्रमुख उद्देश्य साहित्य की सृष्टि नहीं बल्कि उपदेश देना था जिससे वे अपढ़ जनता को प्रभावित करना चाहते थे और उन्हें इस दिशा में सफलता भी मिली। जनता के बीच जाने के लिए इन्होंने जनता की भाषा को ही अपनी अभिव्यक्ति का

माध्यम बनाया जिनमें पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी और पंजाबी का प्राधान्य है। इनके द्वारा अधिकांश रचनाएँ छन्द की दृष्टि से साखी (दोहा) शब्दी, झूलना तथा कवित्त सवैया में प्रस्तुत की गईं जिनमें रहस्यवाद की उद्भावना की गई। शृंगार, शान्त, वीभत्स और अद्भुत रस इन सन्तों में अत्यधिक लोकप्रिय रहे, पर सबको रहस्यवाद का ऐसा परिवेश प्रदान किया गया है कि अपढ़ जनता भी उनमें कुछ अलौकिक तत्त्व ही ढूंढती फिरती थी। इनका प्रचार भी अधिकतर निम्न श्रेणी की कही जाने वाली जातियों में हुआ और इनके प्रचारक भी अधिकतर निम्न श्रेणी की जातियों से आए थे।

ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि

कबीर :

निर्गुण भक्ति के साधकों में 'कबीरदास' का नाम प्रमुख है। इनका जन्म कब और किस वंश में हुआ तथा वे किस माँ-बाप की सन्तान थे, इसके सम्बन्ध में विद्वानों में अत्यधिक मत-भेद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका जन्म सं० १४५६ अर्थात् सन् १३९९ ई० माना है। इनके सम्प्रदाय में जो विवरण प्राप्त होता है, उसके अनुसार—

> चौदह सौ पचपन साल गए चन्द्रवार एक ठाट ठए।
> जेठ सुदी बरसायत को पूरन मासी प्रकट भए॥

अर्थात् इनका जन्म सं० १४५५ (सन् १३९८ ई०) की ज्येष्ठ पूर्णिमा को हुआ। पर गणना करने पर इस वर्ष की ज्येष्ठ पूर्णिमा को सोमवार नहीं पड़ता (सन् १३९९ ई०) की पूर्णिमा को ही सोमवार पड़ता है। इसीलिए अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि कबीर का जन्म सं० १४५६ (सन् १३९९ ई०) में ही हुआ। जन श्रुति के अनुसार स्वामी रामानन्द ने काशी के एक भक्त ब्राह्मण की विधवा कन्या को पुत्रवती होने का आशीर्वाद भूल से दे दिया। परिणामस्वरूप उत्पन्न बालक को विधवा ब्राह्मणी सामाजिक भय से लहरतारा के ताल के पास फेंक आई, जिसका पालन-पोषण अली या नीरू नामक जुलाहे के घर हुआ जो बालक को ताल के पास से अपने घर उठा लाया था। यही बालक आगे चलकर प्रसिद्ध सन्त कबीरदास हुआ।

कबीरपंथी मुसलमानों का कहना है कि कबीर ने प्रसिद्ध सूफी मुसलमान फकीर शेख तकी से दीक्षा ली थी। शेख तकी चाहे कबीर के गुरु न रहे हों पर उन्होंने उनके सत्संग से लाभ उठाया था, इसमें सन्देह नहीं। शेख तकी का नाम भी कबीर ने लिया है, पर उस आदर के साथ नहीं जिस आदर के साथ गुरु का नाम लिया जाता है। कबीर झूसी, जौनपुर, मानिक आदि स्थानों पर गए थे जो उस समय मुसलमान फकीरों के केन्द्र हो रहे थे। कुछ लोगों का मत है कि लोई नामक स्त्री से

कबीर का ब्याह हुआ था, पर डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल धनिया नामक किसी स्त्री को कबीर की पत्नी मानते हैं जो बाद में रामजनिया नाम से पुकारी जाने लगी। कमाल और कमाली को कबीर के पुत्र और पुत्री होने की बात कही जाती है और इस सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियाँ भी प्रचलित हैं यदि यह सत्य है तो भी कबीर इनसे सन्तुष्ट नहीं थे। कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि सम्प्रदाय का **संगठन कबीर ने नहीं, वरन् उनके शिष्यों ने किया।** ऐसा मानने वालों में **आचार्य क्षिति मोहन सेन और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी** प्रमुख हैं। इसके भी पर्याप्त प्रमाण मिल जाते हैं कि कबीर के स्वयं दूर-दूर तक भ्रमण कर कबीर पंथ का प्रचार किया और हिन्दू एवं मुसलमान दोनों ही उनके शिष्य बने। बघेला राजा 'वीर सिंह' और 'बिजली खाँ' को भी उनके शिष्यों में स्थान दिया जाता है। धर्मदास, सुरत गोपाल, जग्गूदास और भगवान दासादि की गणना भी कबीर के प्रमुख शिष्यों में की जाती है। कबीर ने जिस प्रकार अछूत कही जाने वाली जातियों को गले लगाना आरम्भ कर दिया था उसके लिए उन्हें जीवन के अन्त में काफी विरोध भी सहना पड़ा जिस विरोध का केन्द्र काशी नगरी थी और लगता है कि इसीलिए उन्हें विवश होकर काशी छोड़ना पड़ा और मगहर की शरण लेनी पड़ी। जहाँ पर इनकी मृत्यु, सम्भवतः उनकी इच्छा के विरुद्ध हुई। क्योंकि इसके सम्बन्ध में यह कहने की **'जौ कबिरा काशी मरै तो रामै कौन निहोर'** उनकी प्रसन्नता का नहीं, वेदना का द्योतक है। जिस प्रकार इनकी जन्म-तिथि के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं, उसी प्रकार मृत्यु-तिथि में भी। संवत् १५०५ (सन् १४४८ ई०) और सं० १५७५ (सन् १५१८ ई०) दोनों को ही कबीर का मृत्यु-काल माना जाता है।

आरम्भ से ही कबीरदास में हिन्दू भाव से भक्ति करने की प्रवृत्ति दिखलाई देती थी, जिसे पालने वाले माता-पिता न दबा सके। वे राम-राम का जप किया करते थे और कभी-कभी माथे में तिलक भी लगा लेते थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय स्वामी रामानन्द का प्रभाव काफी बढ़ गया था और समाज के छोटे-बड़े सभी वर्गों में उनके प्रति आदर भाव था। ऐसा भी कहा जाता है कि कबीर **स्वामी रामानंद** से दीक्षा लेने के लिए एक दिन एक प्रहर रात रहते ही उस (पंचगंगा) घाट की सीढ़ियों पर जा लेटे जहाँ से **स्वामी रामानंद** जी स्नान करने के लिए जाया करते थे। अँधेरे में रामानंद जी का पैर कबीर के ऊपर पड़ गया और सहसा उनके मुँह से **'राम-राम कह'** शब्द निकल पड़ा। कबीर इसी को गुरु मंत्र मानकर अपने को रामानंद जी का शिष्य कहने लगे। वे साधुओं की संगत और जुलाहे का काम भी करते थे। इनके पंथ में हिन्दू और मुसलमान दोनों पाए जाते हैं। कबीर ने 'राम नाम' अपने गुरु स्वामी रामानंद जी से तो अवश्य लिया, पर कबीर के राम रामानंद के राम से बिलकुल भिन्न हैं। रामानंद जी की इस उदारता के प्रति कबीर

श्रद्धावान् थे जिनके द्वारा उन्होंने जाति-पाति का भेद और खानपान का आचार दूर कर दिया था। पर रामानंद जी द्वारा जिस वैष्णव संप्रदाय का निरूपण हुआ वह कबीर को आकर्षित नहीं कर सका। क्योंकि कबीर के ऊपर हठयोगियों तथा सूफी मुसलमान फकीरों का भी प्रभाव था। बौद्ध सिद्ध और नाथपंथी योगियों की भांति उच्च वर्गीय संस्कृति के प्रति विद्रोह की भावना, गुरु के महत्व में आस्था और पिंड-ब्रह्माण्ड की एकता पर विश्वास कबीर में था। कबीर की भाषा और शैली और उनके साध्य के स्वरूप पर भी बौद्ध-सिद्ध और नाथपंथी योगियो का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। परिणामतः कबीर की प्रवृत्ति निर्गुण उपासना की ओर बढ़ती गई और उनके राम साकार राम न रह कर ब्रह्म के पर्याय बन गए—

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "जो ब्रह्म हिन्दुओं की विचार पद्धति में ज्ञान मार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद एवं वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया।"

कबीर में धार्मिक, सांस्कृतिक एवं जातीय संस्कारों का एक अद्भुत स्वरूप विकसित हुआ था जिससे कबीर प्राचीन परम्पराओं, रूढ़ियों एवं सामाजिक परिस्थितियों के प्रति विद्रोही हो उठे थे? उनका सामाजिक दृष्टिकोण सृजनात्मक कम, और ध्वंसात्मक अधिक था। अंध विश्वासों से उन्हें चिढ़ थी। वे स्वभाव से अक्खड़ थे। आँखों देखी बातों पर ही उनका विश्वास था और किसी से भयभीत न होना उनके जीवन का मूलमंत्र था। महान से महान विरोध भी उन्हें न तो अपने पथ से डिगा पाते थे और न तो कोई शक्ति उन्हें अपनी बात कहने से रोक पाती थी। अच्छे का ग्रहण अनुचित का त्याग और संसार को पथभ्रष्ट होते न देख सकना कबीर का स्वभाव बन गया था। धार्मिक आडंबरों, वर्ण व्यवस्था और जाति-पाँति के भेदभाव को वे बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। आचार्य हजारी प्रसादी द्विवेदी के शब्दों में यदि कहा जाय तो अनुचित न होगा कि "वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नहीं थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे। वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बनकर भेजे गए थे।······कबीरदास ऐसे ही मिलन-बिन्दु पर खड़े थे जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसल-

मानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योगमार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति मार्ग, जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना, उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे।" परिणामस्वरूप वे सबकी गतिविधियों को समान रूप से देख सके हैं। सामाजिक वाह्याचारों पर जब वे व्यंग्य करने लगते हैं तथा उपासना के बाह्य नियमों के पालन तथा कर्मकाण्डी पंडितों और मुल्लों को खरी-खोटी सुनाने लगते हैं तो देखते ही बनता है। उन्होंने राम-रहीम की एकता पर बल दिया। हृदय को शुद्ध प्रेममय बनाने के निमित्त कबीर के उपदेशों में जो ध्वंसात्मक दृष्टि थी उसमें नवीन सृजन का आग्रह भी था। आस्तिकता, प्रेम, अहिंसा, समता, मनोनिग्रह, विचार एवं कर्तव्य की एकता, आडम्बरहीनता, सहजता, सत्यता, सत्संगति, सारग्राहिता तथा विनय आदि का उन्होंने ऐसा पल्ला पकड़ा कि विरोधी क्रियाओं में चलकर और अपनी कटूक्तियों के होते हुए भी लोक प्रियता के भागी बने।

रचनाएँ :

'कबीर' के नाम पर कही जाने वाली पुस्तकों की संख्या दर्जनों तक पहुँचती है पर उनमें से अधिकांश कबीर की लिखी नहीं हैं। कबीर ने स्वयं 'मसि कागद छुयो नहीं कलम गह्यो नहिं हाथ' की बात स्वीकार की है। काव्य-रचना उनके जीवन का मूल उद्देश्य नहीं था। उन्होंने अपने विचारों को जिन पदों या बानियों में अभि-व्यक्त किया था, कहा जाता है कि उनके शिष्य धरमदास ने उनका संग्रह उस समय किया जब कबीरदास की अवस्था ६४ वर्ष की हो चुकी थी। अभी तक यह संग्रह देखने को नहीं मिला। इनकी बानियों का 'बीजक' के नाम से संग्रह प्रसिद्ध है। ये कई हैं, पर पूरनदास वाला बीजक ही प्रकाशित बीजकों में अधिक प्रामाणिक माना जाता है। जिसके 'रमैनी', 'शब्द' और 'साखी' तीन भाग हैं। रमैनियाँ बीजक का एक महत्वपूर्ण अंश हैं जिनमें सामान्यतः सात-सात चौपाइयों के बाद एक-एक दोहा संकलित मिलता है। इसे कबीर पंथी संप्रदाय में साखी कहते हैं। 'रमैनी' और 'शब्द' में वस्तुतः गेय पद संकलित हैं जिनकी परंपरा बहुत पुरानी है। साखी के दोहे में मुख्यतः साम्प्रदायिक शिक्षा और सिद्धान्त के उपदेश मिलते हैं। 'डा० श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'कबीर ग्रन्थावली' की भी प्रामाणिकता में पूर्ण सन्देह व्यक्त किया जाता है।

छन्द-भाषा शैली :

कबीर ग्रन्थावली में संग्रहीत वाणी में तीन प्रकार के छन्दों का प्रयोग मिलता है। इनकी सभी रचनाएँ मुक्तक शैली में हैं, क्योंकि व्यंग्य करने के लिए मुक्तक ही सर्वथा

उपयुक्त ठहरते है। इन रचनाओं मे कबीर ने सामाजिक आचार-विचारों पर कस कर व्यंग्य किया है। प्रचार और उपदेश के क्षेत्र मे भी मुक्तक प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा अधिक उपयोगी ठहरता है। कबीर ने हृदय की गहनतम अनुभूतियों को भी इसी मुक्तक शैली मे प्रस्तुत किया है जिन्हे उनकी 'रमैनी' और 'शब्द' मे देखा जा सकता है। अनेक प्रकार के रूपकों एवं अन्योक्तियों के द्वारा ही कबीर ने ज्ञान की बातें कही हैं।

कबीर की भाषा के विषय मे निर्णय लेना कठिन जान पड़ता है। क्योंकि उन्होंने स्वयं अपनी वाणियों को व्यवस्थित ढंग से लिपिबद्ध नहीं किया था, वरन् उनके शिष्यों ने ही, जो विभिन्न भाषा-भाषी थे, उन्हें संग्रह का रूप प्रदान किया है। जिससे तत्कालीन विभिन्न भाषाओं का मेल उनकी रचनाओं में दिखाई पड़ता है। कबीर की भाषा व्याकरण के बन्धनों से सर्वथा मुक्त है। उनके गेय पदों में कहीं-कहीं ब्रजभाषा एवं पूरबी बोली के प्रयोग भी मिल जाते है। उदाहरणार्थ—

> "हौं बलि कब देखौंगी तोहि।
> अहनिस आतुर दरसन कारनि ऐसी व्यापा मॉहि॥
>
> × × ×
>
> बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहिं बाँधै धीर।
> देह छता तुम मिलहु कृपा करि आरतिवन्त कबीर॥"

आगे चलकर हमे सूर के पदों मे भी इसी भाषा के दर्शन होते हैं। बीजक के आधार पर विचार दास ने उनकी भाषा को 'ठेठ प्राचीन पूरबी' माना है। मूलतः इनकी भाषा सधुक्कड़ी भाषा है। इन्होंने काव्य रचना किसी एक स्थान पर बैठ कर नही की है, देश के विभिन्न अंचलों का भ्रमण कर उपदेश देना ही उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य था जिससे विभिन्न भाषा-भाषी क्षेत्रों की भाषा का आना जाना इनमे स्वाभाविक है। इनकी रचनाओं पर पजाबी और राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट है। डा० श्याम-सुन्दर दास ने उनकी भाषा को 'पंचमेल खिचड़ी' कहा है। इनमें पूरबी बोली, अवधी, भोजपुरी, पंजाबी और राजस्थानी सभी का मेल है। कबीर का अपना एक निराला व्यक्तित्व था। उनके जैसा मौलिक समाज सुधारक एवं क्रान्तिदर्शी सन्त उस युग मे दूसरा नहीं पैदा हुआ। भाषा और छन्द-शैली की दृष्टि से उनका महत्व भले ही न हो पर, भाव की दृष्टि से कबीर का महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों की जिस ढंग से चर्चा कबीर ने अपनी रचनाओं में की, उसने एक विशिष्ट काव्य-शैली को शक्ति प्रदान की, जिसको रहस्यवाद के नाम से पुकारा जाता है। कबीर का रहस्यवाद सूफियों के रहस्यवाद से प्रभावित होते हुए भी कुछ अर्थों में भिन्न था। सूफी 'साध्य' (ब्रह्म) को प्रियतमा के रूप में

देखते हैं और स्त्री-सौंदर्य में उसकी भावना करते हैं, पर कबीर इसके विपरीत स्वयं को स्त्री-रूप में कल्पित करते हैं तथा 'साध्य' को पुरुष के रूप में देखते हैं।

जहाँ पर कबीर ने अपनी साधना के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वहीं पर उनकी रचनाओं में रहस्यवाद का संकेत मिलने लगता है। अनेक प्रकार के रूपकों और अन्योक्तियों के माध्यम से ही इन्होंने अपनी रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति की है। ईश्वर-प्रेम की व्यंजना अन्योक्तियों द्वारा सूफियों में अत्यधिक प्रचलित थी। सूफियों के यहाँ 'ब्रह्म' को सर्वव्यापी प्रियतम या साकार के रूप में स्वीकार कर हृदय की भावनाओं को प्रस्तुत करने का विधान था। कबीर पर भी यही प्रभाव पड़ा और उनकी वाणियों में जो भावात्मक रहस्यवाद की झलक दिखाई पड़ती है वह सूफियों की सत्संगति का ही परिणाम है। कबीर के उन पदों में, जिनमें इन्होंने 'ब्रह्म' को पति या खसम मानकर तथा अपने को पत्नी के रूप में कल्पित करके उससे आत्म निवेदन किया है, रहस्यवाद की झलक मिल जाता है। एक अन्योक्ति के द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है—

> "साईं के संग सासुर आई।
> संग न सूती, स्वाद न माना, गा जोबन सपने की नाईं॥
> जना चार मिलि लगन सुधायो, जना पाँच मिलि माड़ो छायो।
> भयो विवाह चली बिन दूल्ह, बाट जात समधी समझाई॥"

कबीर के उन पदों में भी रहस्य-भावनाओं का दर्शन होता है जिनमें इन्होंने परमात्मा से सानिध्य की गहन अनुभूतियों को व्यक्त किया है। वह सबको जता देना चाहते थे कि मैंने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है। इसके लिए इन्होंने प्रतीकात्मक भाषा का सहारा लिया है। आत्मा के भीतर ही परमात्मा का निवास है, इससे सम्बन्धित वाणियों में भी उनकी रहस्यभावना प्रकट हुई है। इन्होंने अपने अलौकिक आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए अन्योक्तियाँ तो बाँधी ही, किन्तु इसके साथ ही उलटवासियों को भी अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग में लाया और कुछ विद्वानों के अनुसार इनकी उलटवासियों में भी कहीं-कहीं रहस्यवाद भावना को देखा जा सकता है।

रैदास :

ऐसा स्वीकार किया जाता है कि स्वामी रामानन्द जी के जो १२ शिष्य माने जाते हैं उनमें रैदास भी हैं। इन्हें रविदास के नाम से भी जाना जाता है। ये जाति के चमार थे, जिन्हें आजकल हरिजन के नाम से पुकारा जाता है। संत रैदास ने अपने कई पदों में अपने को 'खलास चमारा' कहा है। लगता है कबीर के बहुत बाद इन्होंने

रामानन्द जी से दीक्षा ली, क्योंकि इन्होंने अपने एक पद में कबीर और सेन नाई के तरने की बात कही है। इनके पदों को देखने से ऐसा जान पड़ता है कि वे निर्गुणोपासना में विश्वास करते थे। पर सगुणोपासना का उन्होंने कहीं खंडन नहीं किया। इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। फुटकल पद ही 'बानी' के नाम से **'संत बानी सिरीज'** में संग्रहीत हैं जिनमें इनके आत्मनिवेदन के साथ ही साथ तात्विक भावों की अभिव्यक्ति भी मिलती है। संत धन्ना और मीराबाई ने बड़े आदर के साथ रैदास का नाम लिया है।

दादू :

सत दादू अथवा दादू दयाल का जन्म सं० १६०१ (सन् १५४४ ई०) में अहमदाबाद में हुआ था। इनकी जाति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण और कुछ लोग धुनियाँ वंश में उत्पन्न मानते हैं। पं० सुधाकर द्विवेदी ने इनको मोची वंश में उत्पन्न माना है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इनके धुनियाँ होने की बात को अधिक प्रामाणिक मानने पर बल दिया है। इनकी मृत्यु सं० १६६० (सन् १६०३ ई०) में हुई। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सम्राट अकबर ने दादू को एक बार फतेहपुर सीकरी में बुलाकर सत्संग किया था, जो ४० दिनों तक चलता रहा।

सन्तदास और जगन्नाथदास नामक इनके दो शिष्यों ने इनकी बानियों का संग्रह **'हरड़े बानी'** नाम से किया था। फिर बाद में चल कर रज्जब जी ने इसका सम्पादन **'अंग-बन्धु'** नाम से किया। रचनाओं में तो इन्होंने संत कबीर के ही मार्ग का अनुसरण किया है पर उनकी सी अक्खड़ता और असामाजिक वृत्तियों पर प्रबल प्रहार करने की प्रवृत्ति इनमें नहीं पाई जाती। स्वभाव से ही ये विनम्र, संत प्रकृति के थे, जिसकी झलक इनकी रचनाओं में मिल जाती है। ये तुलसीदास के समकालीन थे। प्रेम के अनन्य उपासक होने के कारण भगवान के प्रति इनका विरह निवेदन इनके पदों में अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। इनकी भाषा में पश्चिमी राजस्थानी का मेल है और इन्होंने पदों में मुसलमानी साधना के शब्दों का भी प्रयोग किया है।

सुन्दरदास :

निर्गुण संतों में सुन्दरदास सर्वाधिक पढ़े-लिखे शास्त्रीय विद्वान थे। इनका जन्म चैत्र शुक्ल ९ सं० १६५३ (सन् १५९६ ई०) में द्यौसा नामक स्थान (जयपुर) में हुआ था। पिता का नाम परमानंद और माता का नाम सती था। ये जाति के खण्डेलवाल बनिए थे। जब इनकी अवस्था छः वर्ष की थी तभी इन्होंने दादू पंथ स्वीकार कर लिया। ३० वर्ष की आयु तक काशी में रहकर इन्होंने व्याकरण, वेदान्त और पुराणादि की शिक्षा प्राप्त की। फारसी का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था। काशी से लौट कर राजपूताने के फतहपुर (शेखावटी) नामक स्थान में रहने लगे, जहाँ के नवाब अलिफ खाँ ने इन्हें बहुत आदर दिया। देखने में भी इनका शरीर बहुत अच्छा,

रंग गोरा, और रूप सुन्दर था। ये बाल-ब्रह्मचारी थे और जहाँ कहीं भी स्त्री-चर्चा चलती थी वहाँ से दूर हट जाते थे। इनके मृदुल स्वभाव की कोमलता एवं भावुकता ज्ञान-गरिमा से मिलकर अनूठे साहित्य का निर्माण कर सकी है। देश-देशान्तर घूम आने के कारण इनके अनुभव का क्षेत्र अत्यन्त विशाल था इनके काव्य का विषय अधिकांश संस्कृत ग्रन्थों से संग्रहीत तत्त्ववाद है। यद्यपि इनकी रचना सरस प्रौढ़ व्रजभाषा में है, फिर भी उसे इन्होंने छत्र-बन्ध आदि प्रहेलिकाओं से उन्हें सजाने का प्रयास किया है। इसमें सन्देह नहीं कि ये शास्त्रीय ढंग के एकमात्र निर्गुण कवि हैं। इन्होंने अन्य निर्गुण कवियों की भाँति केवल पदों में ही अपनी रचनाएँ नहीं की हैं, वरन् कवित्त और सवैयों में भी की है, जिनमें यमक और अनुप्रास की सुन्दर योजना पायी जाती है। भक्ति, रामचर्चा, नीति तथा देशाचार को इनके काव्य में स्थान मिला है। सामाजिक आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में भी इन्होंने अपने ढंग से कुछ उक्तियाँ की हैं जिनमें उनके विरोधी स्वभाव का भी परिचय मिलता है। मौलिकता का अभाव होते हुए भी अपनी व्यापकता के कारण सुन्दरदास जी संत साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

सिक्ख गुरु तथा अन्य संत कवि :

जिन प्रमुख निर्गुण संत कवियों की चर्चा की गई है उनके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे संत कवि रहे हैं जिन्होंने इस संत काव्य-धारा को आगे बढ़ाया है। 'संत-सधना' जिन्हें कसाई जाति का कहा जाता है—संत नामदेव के समकालीन थे। इनका एक पद **आदि ग्रंथ** में संग्रहीत है। नाई जाति के भक्त **सेन या सेना** संत **ज्ञानेश्वर** के शिष्यों में थे। कुछ लोग इन्हें स्वामी रामानंद का शिष्य नहीं मानते हैं। इनका भी एक हिन्दी पद आदि ग्रंथ में संग्रहीत है। बावरी सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने वाली **बावरी साहिबा** मायानंद की शिष्या थीं और मायानंद रामानंद के प्रशिष्य और दयानंद के शिष्य थे। इनकी कोई रचनाएँ नहीं प्राप्त होतीं। बावरी साहिबा अच्छी कविताएँ लिख लेती थी। भगवद्-प्रेम में मस्त रहने के कारण ही इनका नाम सम्भवतः बावरी पड़ा होगा। भाषा पर इनका बहुत अच्छा अधिकार था। इनके दो पद ही प्राप्त होते हैं। इनके शिष्य संत बीरू साहब भी अच्छे कवि थे। कबीर के पुत्र कहे जाने वाले कमाल की भी गणना निर्गुण संतों में की जाती है। धरमदास बाँधवगढ़ के रहने वाले जाति के बनिए थे और कबीर के प्रभाव में आकर निर्गुण संत मत की ओर प्रवृत्त हुए। कबीर से इन्होंने सत्यनाम की दीक्षा ली थी और कबीरदास के स्वर्गवास के उपरान्त उनकी गद्दी के अधिकारी हुए। इनकी रचनाएँ थोड़ी होने पर भी काफी प्रिय थीं कबीर जैसी कठोरता और कर्कशता इनमें नहीं है। प्रेमतत्त्व को लेकर ही इन्होंने अपनी बानी का प्रसार किया। **विश्नोई संप्रदाय** के संस्थापक

जम्भनाथ की रचनाओं का छोटा सा संग्रह खंडवा से प्रकाशित हुआ है। निरंजनी-संप्रदाय के संस्थापक श्री हरिदास निरंजनी के शिष्य प्रशिष्यों में कई अच्छे साहित्यिक हुए हैं। स्वयं भी ये उत्कृष्ट रचनाएँ करते थे।

भारतीय धर्म साधना को प्रभावित करने वाले महात्माओं में **'गुरु नानक देव'** का स्थान बड़े महत्व का है। इनका जन्म सं० १५२६ (सन् १४६९ ई०) की अक्षय तृतीया को पंजाब के **राई-भोई** के तलवडी नामक ग्राम मे हुआ था जिसे अब ननकाना साहेब कहते है और पश्चिमी पाकिस्तान मे पड गया है। स० १५९५ (सन् १५३८ई०) मे इनका स्वर्गवास हुआ। सिक्ख साहित्य के प्रवर्तकों का साहित्य बडे ही महत्व का है। **प्रथम गुरु नानक से लेकर १०वें गुरु तक लेकर ये सिक्ख संत बराबर भक्ति भजन गाते रहे।** इनके द्वारा सुन्दर गेय पदों की रचनायें हुई हैं। अन्तिम गुरु **गोविंद सिंह** ने तो **'गुरु-ग्रंथ साहब'** का संपादन कर उसे गुरु की गद्दी पर ही प्रतिष्ठित कर दिया। इससे पूर्ववर्ती संतों के साहित्य को एक स्थान पर संग्रहीत करने का सुन्दर प्रयास किया गया है। 'गुरु ग्रंथ साहब' मे सभी सन्तों की वाणियाँ मिल जाती हैं। गुरु गोविन्द सिंह ने **'गोविन्द रामायण'** नामक रचना की। **इन संतों की रचनाएँ दोहा, साखी, श्लोक तथा गेय-पदों में मिलती है।** गुरु नानक के शिष्य गुरु अंगद तथा अमरदास, रामदास, अर्जुनदेव एवं गुरु तेग बहादुर आदि सभी कवि थे। शेष फरीद, आनन्दघन, मलूकदास, अक्षर अनन्य गुलाब साहब, गरीबदास और चरणदास आदि का नाम भी संत कवियो में लिया जाता है।

चरणदास द्वारा प्रवर्तित चरणदासी संप्रदाय की संत कवियत्री 'सहजो बाई' की समस्त रचनाओं का संग्रह 'सहजो प्रकाश' नाम से प्रकाशित हुआ है। इनके अनेक पद राग-रागिनियो से युक्त है, जिससे इनके संगीत ज्ञान का परिचय मिलता है। इनका जन्म दिल्ली के प्रतिष्ठित वणिक्-वंश मे सं० १७४३ (सन् १६८६ ई०) मे हुआ था। चरणदास की दूसरी शिष्या **'दयाबाई'** का जन्म भी दिल्ली मे स० १७७५ (सन् १७१८ ई०) में हुआ। इनकी दो रचनायें **'दयाबोध'** और **'विनय मालिका'** नाम से प्राप्त है। इनकी रचनायें भी सहजो बाई के ही ढँग पर हुई हैं।

प्रेमाश्रयी शाखा

ज्ञानाश्रयी शाखा के निर्गुण कवियों ने जिस प्रकार निर्गुण भक्ति साधना मे ज्ञान की महत्ता पर विशेष बल दिया उसी प्रकार प्रेमाश्रयी शाखा के सूफी कवियों ने हृदय पक्ष पर विशेष जोर दिया। इन कवियों ने अपनी बातें अटपटी भाषा एवं उलटबासियों के रूप मे न कहकर अत्यन्त सरल ढंग से की जो अत्यधिक स्वाभाविक और हृदय के सन्निकट थी। ईश्वर की प्राप्ति के लिए विकसित प्रेम को व्यक्ति के जीवन मे इन्होने

स्वीकार किया जिसके लिए इन कवियों ने साखी शब्दी और कवित्तों का सहारा न लेकर प्रबन्ध काव्यों का सहारा लिया। अपने प्रबन्ध काव्यों के लिए सूफी कवियों ने तत्कालीन समाज में प्रचलित लौकिक प्रेम कहानियों को चुना जिनसे जनता परिचित थी। इन्हीं परिचित लोक कथाओं को अपनाने के कारण सूफी सन्तों की रचनाओं का लोगों के ऊपर व्यापक प्रभाव पड़ा। साधना के क्षेत्र में गुरु की महत्ता प्रेमाश्रयी शाखा के कवि भी स्वीकार करते हैं। लौकिक प्रेम को ही उन्मुक्त कर अलौकिक प्रेम के धरातल पर ले जाना इन कवियों का प्रमुख लक्ष्य है। लौकिक प्रेम की प्राप्ति में जिस प्रकार अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा के बीच विकसित होने वाले प्रेम के मार्ग में भी अनेक बाधाएँ आती है। निष्काम और निःस्वार्थ प्रेम के द्वारा ही व्यक्ति परमात्मा से मिल सकता है पर बाधाओं से बच निकलने के लिए मार्ग दर्शक गुरु की आवश्यकता रहती है। सूफी भी एकेश्वरवादी होता है और वह आत्मा तथा परमात्मा में कोई अन्तर नहीं मानता। इसके सिद्धान्त मे अद्वैत भावना की ही प्रधानता रहती है। इनकी कुछ साम्प्रदायिक शब्दावलियाँ हैं जिनका प्रतीकात्मक प्रयोग ये करते रहते हैं। जैसे आत्मा के लिए बन्दा, प्रेम के लिए इश्क, परमात्मा के लिए हक और साधना की अन्तिम अवस्था के लिए मारिफत तथा गुरु के लिए पीर शब्द का। इस धारा के प्रमुख कवियों में अधिक मुसलमान सन्त ही रहे जिनको साहित्यिक महत्व प्रदान किया जा सकता है। इन कवियों द्वारा हिन्दू मुस्लिम संस्कृति की गंगा यमुना बहाने का अद्‌भुत प्रयास हुआ जिसका प्रभाव ज्ञानाश्रयी शाखा के सन्तों से किसी प्रकार कम नहीं हुआ। प्रेम कथाओं में सूफी सिद्धान्तों का सन्निवेश इन कवियों का प्रमुख उद्देश्य था जिनमें इन लोगों ने ज्ञानमार्गी सन्तों की भाँति ब्रह्म को पुरुष और आत्मा को नारी न मानकर ब्रह्म को नारी और आत्मा को पुरुष के रूप में स्वीकार किया। इससे मुसलमान सूफी सन्तों की अपनी धार्मिक मान्यताओं का परिचय मिल जाता है। हिन्दू कथानकों को तो इन लोगों ने चुना और उनके निर्वाह में उन्होंने हिन्दू आदर्शों की रक्षा भी की पर व्याख्या सूफी सिद्धान्तों की ही की। इनके प्रबन्ध काव्यों में प्रेमी-प्रेमिका के जिस अगाध प्रेम, जिन विरह जन्य कठिनाइयों, गुरु द्वारा दिए गए उपदेशों एवं मार्ग प्रदर्शन और अन्त में जिस महा मिलन का वर्णन है वह सूफी सिद्धान्तों के अनुसार ही है। भाषा इनकी अवधी तथा दोहा-चौपाई इनके प्रिय छन्द रहे। मसनवी पद्धति और शृंगार रस इनका प्रमुख प्रतिपाद्य रहा जिसके द्वारा इन्होंने सूफी रहस्यवाद का प्रवर्तन किया।

प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों ने हिन्दू प्रेम कथानकों को जो अपनी रचना का आधार बनाया है उससे यह नहीं समझना चाहिए कि इनकी धार्मिक दृष्टि उदार थी।

सन्त होने के नाते इनकी वाणी मृदुल अवश्य थी, पर इनमें धार्मिक कट्टरता की कमी नहीं है। इन लोगों ने हिन्दू विरोधी तत्वों को ही अपने काव्य में स्थान दिया है। इनके प्रबन्ध काव्यों का एक भी नायक पुरुष नहीं है, इन लोगों ने अपने काव्यों के नाम तक भी स्त्री परक दिए हैं और जहाँ कहीं भी हिन्दू नायकों की प्रसंगात चर्चा आयी भी है उन्हें ऐसे सन्दर्भ में रखा है कि वे राक्षस आदि कोटि में आते दिखलाई पड़ते है। इस प्रकार इन काव्यों में आकर हिन्दू प्रेम कथानकों के नायकों का सारा औदार्य और उनकी सारी उदात्तता समाप्त हो गई है। धार्मिक जहर इन कवियों में में भी है, पर अन्तर इतना ही है कि वह जहर मीठा है और देर से असर करता है। पर है जहर ही। आत्मा और ब्रह्म के प्रतीकों तक को इन कवियों ने उलट दिया है। ब्रह्म को पुरुष न मानकर नारी को ब्रह्म माना है। इसका अर्थ कदापि यह नहीं कि इन कवियों की संस्कृति नारी को पुरुष में अधिक महत्व देती है जिसका प्रभाव अनजाने इनके काव्य पर पड़ा है, बल्कि किसी-न-किसी रूप में इन्हें हिन्दू धर्म विरोधी अभियान चलाते रहना है न प्रत्यक्ष तो परोक्ष ही सही। इस प्रकार तत्कालीन मुसलमानी शासन की धार्मिक कट्टरता और हिन्दू-धर्म विरोधी प्रवृत्तियों से ये सूफी सन्त भी अपने को मुक्त नहीं रख सके हैं।

कुतवन :

ये चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य और जौनपुर के शासक हुसेन शाह के आश्रित कवि थे। ये लगभग संवत् १५५० (सन् १४९३ ई०) के आस-पास वर्तमान थे। सन् ९०९ हिजरी अर्थात् संवत् १५५८ (सन् १५०१ ई०) में इन्होंने 'मृगावती' नाम की कहानी चौपाई-दोहे के क्रम में लिखी। अवधी भाषा और मसनवी शैली में लिखा यह काव्य चन्दरनगर के राजा और कंचनपुर की राजकुमारी 'मृगावती' का प्रेम वर्णन है। इसमें सूफियों की शैली के अनुसार बीच-बीच में रहस्यमय आध्यात्मिक संकेत मिल जाते हैं।

मंझन :

इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं। केवल इनकी रचना 'मधुमालती' की एक खंडित प्रति प्राप्त हुई है। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार ये जायसी के पूर्ववर्ती कवि थे और इनका रचना काल सं० १९५० (सन् १८९३ ई०) और १९९५ (सन् १९३८ ई०) के बीच में है।

'मधुमालती' के बाद दक्षिण के शायर नसरती ने भी संवत् १७०० (सन् १६४३ ई०) में 'मधुमालती' के आधार पर 'गुलशने इश्क' नामक एक प्रेम कहानी दक्खिनी उर्दू में लिखी।

मलिक मुहम्मद जायसी

जीवन परिचय :

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि जायसी का जन्म अवध के जायस नामक ग्राम में हुआ था, जिससे ये जायसी कहलाए। मलिक इनकी पैतृक उपाधि थी जिसे भी इनके नाम के साथ जोड़ कर इन्हें मलिक मुहम्मद जायसी कहा गया। 'आखिरी कलाम' नामक इनकी पुस्तक की एक पंक्ति से इनके जीवन वृत्त पर कुछ प्रकाश पड़ता है—

"भा अवतार मोर नौमदी, तीस बरस ऊपर कवि बदी।"

उपर्युक्त पंक्ति से सिद्ध होता है कि जायसी का जन्म ९०० हिजरी अर्थात् सन् १४९२ ई० के लगभग हुआ था। कवि की यह जन्म तिथि अनुमानाश्रित ही है क्योंकि उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ ठीक ठीक नहीं खुलता। इनसे तो मात्र यही ध्वनि निकलती है कि जन्म के ३० वर्ष बाद ये सुन्दर कविता करने लगे। इन्होंने प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी (मोहीउद्दीन) को अपना गुरु बनाया था और जायस में ही रहते थे। उनकी प्रसिद्ध रचना 'पद्मावत' का आरम्भ इन्होंने जायस में ही किया था पर कुछ काल के लिए बीच में जायस से चले गए थे ऐसा जान पड़ता है। पुनः जायस लौट कर आने पर ही कवि ने 'पद्मावत' की रचना समाप्त की।

"जायस नगर धरम अस्थानू।
तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥"

प्रतिभा के धनी जायसी शरीर से असुन्दर ही नहीं बल्कि कुरूप भी थे और चेचक से उनकी एक आँख भी जाती रही। अपनी इस कुरूपता और काने होने का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपनी तुलना शुक्राचार्य आदि से की है किवदन्ती के अनुसार इनकी कुरूपता पर तत्कालीन सम्राट शेरशाह को हँसी आ गई थी, जिसके उत्तर में जायसी ने कहा था कि "मोहिं का हँससि कि कोहरहिं॥" इनकी गणना अपने समय के सिद्ध फकीरों में की जाती थी और अमेठी नरेश के यहाँ इनका बड़ा सम्मान था। जीवन के अन्तिम दिनों में जायसी अमेठी चले आए थे और किंवदन्ती के अनुसार वहीं मगराबन में दैवयोग से एक शिकारी की गोली से इनकी मृत्यु हुई। इनका मृत्यु काल ४ रजब ९४९ हिजरी अर्थात् सन् १५४२ ई० माना जाता है। अमेठी के राजाराम सिंह की जायसी पर बड़ी श्रद्धा थी। परिणामस्वरूप अमेठी राज की ओर से मंगराबन में जायसी की समाधि बनी, जिस पर आज भी महाकवि की स्मृति में दीपक जलाए जाते हैं।

जायसी अपने पुत्रों की अकाल मृत्यु हो जाने के कारण जीवन से और भी विरक्त हो गए थे। ये स्वभाव से बड़े निर्लोभी, सरल, साधु-संसंग के प्रेमी और ईश्वर भक्त थे। हिन्दू-मुसलमान सभी साधुओं का सत्संग इन्हें प्रिय था। सत्संग के कारण ही जायसी हिन्दू धर्म सम्बन्धी व्यापक जानकारी कर सके थे जिनका उपयोग उन्होंने अपने काव्य 'पद्मावत' में किया है। शेख मुहीउद्दीन औलिया के अतिरिक्त सैयद अशरफ का नाम भी जायसी ने गुरु के रूप मे लिया है।

रचनाएँ

जायसी द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या यद्यपि अधिक बताई जाती है पर अभी तक पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम, कहरानामा, मसलानामा और चित्ररेखा नामक छः कृतियां ही प्रकाशित हो सकी है। हिन्दी के प्रबन्ध काव्यकारों में लोकप्रियता की दृष्टि से गोस्वामी तुलसीदास के बाद महाकवि जायसी का ही नाम लिया जाता है। 'रामचरित मानस' की रचना करके तुलसीदास ने निर्गुण सन्तों और प्रेमाख्यानक सूफी कवियों को पर्याप्त निस्तेज किया और काव्य के माध्यम से चल रहा यह आन्दोलन एक प्रकार से अवरुद्ध ही हो गया, पर अपनी काव्य प्रतिभा, दृष्टि की व्यापकता, मानव जीवन की गूढ़ गम्भीर व्यंजना एवं मर्मस्पर्शिनी शक्ति के कारण जायसी का महत्व अक्षुण्ण रहा। सूफी सिद्धान्तों में दृढ भक्ति रखते हुए भी उन्होंने सत्संग के आधार पर अपने ज्ञान को व्यापक बनाया है। मुसल्मान फकीर होते हुए तथा अपने धर्म ग्रंथ कुरान के प्रति दृढ़ आस्था रखते हुए भी उनमें अन्य धर्मों के प्रति घृणा का भाव अपेक्षाकृत कम था। उनकी कृतियों से स्पष्ट हो जाता है कि योग, वेदान्त, रसायन, ज्योतिष, दर्शन तथा काव्य कला मे उनकी पर्याप्त रुचि थी। यह दूसरी बात है कि तत्संबंधी विषयों की व्यवस्थित जानकारी न होने के कारण वर्णन मे असंगतियाँ रह गई हैं। अन्य निर्गुण सन्तों की भांति अन्य साम्प्रदायिक मत-मतान्तरो के खण्डन मे रुचि न लेने के कारण ही जायसी अधिक लोकप्रिय हो सके हैं। भारतीय जनता मे प्रचलित प्रेम कथाओं को ही इन्होंने अपने काव्य का आधार बनाया है, जिसमे उनके रीति-रिवाज और धार्मिक सिद्धान्तों का भी उल्लेख हुआ है। सूफी सिद्धान्तों का निरूपण तो हुआ ही है। परिणाम स्वरूप इनकी रचना हिन्दू मुसलमान दोनों में ही लोकप्रिय हुई।

लोकप्रियता

जायसी की ख्याति के मूल मे उनकी रचना 'पद्मावत' है जो कवि की सर्वश्रेष्ठ रचना है। अन्य भाषाओं में भी इसके अनुवाद किए गए हैं। फारसी के कवि रजिया

तथा नज्मी ने अलग अलग 'पद्मावत' का अनुवाद फारसी में किया। इस काव्य की कहानी को फारसी गद्य और उर्दू के शेरों में भी उतारा गया है। मध्ययुग में अलावल ने बंगला और आधुनिक युग में ए० जी० शिर्फ ने अंग्रेजी में इसका अनुवाद प्रस्तुत किया। भारत के विभिन्न भागों में 'पद्मावत' की प्रतियाँ मिली हैं। निःसन्देह परवर्ती सूफी कवियों को 'पद्मावत' प्रभावित करता रहा है।

पद्मावत का रचना काल कवि के ही शब्दों में—

"सन नव सै सत्ताइस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा ॥"

९२७ हिजरी अर्थात् सन् १५२० ई० के लगभग ठहरता है। फारसी की मसनवी शैली में इस काव्य की रचना हुई है, पर पद्धति भारतीय है। फारसी की मसनवी शैली का केवल प्रभाव भर दिखलाई पड़ता है। मसनवी शैली में सर्वप्रथम ग्रन्थारम्भ में ही शाहेवक्त की प्रशंसा की जाती है और इसमें शाहेवक्त 'शेरशाह' की प्रशंसा की गई है—

"शेरशाह दिल्ली सुल्तानू। चारहु खंड तपै जस भानू ॥
ओ ही छाज राज औ पाटू। सब राजा भुइँ धरा ललाटू ॥"

'पद्मावत' में वर्णित प्रेम कथा को जायसी के पूर्व भी साहित्य में स्थान मिल चुका था। राज वल्लभ पाठक ने सन् १४१० ई० में संस्कृत भाषा में इसकी कहानी लिखी थी। 'पृथ्वीराज रासो' के पद्मावती समय की कहानी भी जायसी द्वारा वर्णित कहानी से मिलती जुलती है। हर्ष कृत 'रत्नावली' नाटिका की नायिका भी सिंहलद्वीप की ही है। आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने भी संकेत किया है कि 'जायसी ने प्रचलित कहानी को ही लेकर सूक्ष्म ब्योरों की मनोहर कल्पना करके इसे काव्य का सुन्दर रूप दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि पद्मावती की प्रेम कहानी का कोई न कोई लोक प्रचलित रूप अवश्य था जिसे समय समय पर अपने मतानुसार कविगण काव्य में चित्रित करते रहे हैं।

जायसी कृत 'पद्मावत' की कथा दिल्ली सुल्तान अलाउद्दीन और चित्तौड़ की रानी पद्मिनी को लेकर लिखी गई है जिसमें इतिहास, कल्पना तथा सूफी सिद्धान्तों का समन्वय है। संक्षेप में 'पद्मावत' की कथा इस प्रकार है। चित्तौड़ के राजा रत्नसेन सिंहलद्वीप के राजा गंधर्वसेन की कन्या पद्मावती की अलौकिक सौन्दर्य-कथा शुक द्वारा सुनकर मुग्ध हो सन्यासी वेष में सिंहलद्वीप जाकर रूपासक्ति के कारण उससे ब्याह कर चित्तौड़ लौटते हैं। रत्नसेन द्वारा निष्कासित राघवचेतन ने द्वेषवश समकालीन शासक अलाउद्दीन के सम्मुख पद्मावती का रूप वर्णन किया। फलतः सुल्तान ने उसे प्राप्त करने के लिए चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी। चित्तौड़ का पतन हुआ, रत्नसेन बन्दी बनाया गया और पद्मावती ने *प्रतापी वीर गोरा*, बादल तथा

सैनिकों की सहायता से उसे बन्दीगृह से मुक्त किया। बाद में कुंभलनेर के राजा देवपाल और रतनसेन मे पद्मिनी को लेकर ही युद्ध हुआ जिसमें परस्पर लड़ते हुए दोनों मारे गए। अलाउद्दीन ने चित्तोड़ पर अधिकार कर लिया और जब तक वह महल मे पहुँचा रतनसेन की दोनों रानियाँ 'पद्मावती' और नागमती सती हो चुकी थीं जिससे अलाउद्दीन को पद्मावती के स्थान पर एक राख की ढेर ही मिल सकी। **'पद्मावत' में रूपक का असफल निर्वाह**—'पद्मावत' की कहानी को जायसी ने एक रूपक का स्वरूप प्रदान करना चाहा है, पर इस दिशा मे उन्हे पूर्ण सफलता नही मिल सकी है क्योंकि रूपक का निर्वाह नही हो सका है। फिर भी इसकी कथा में रहस्यात्मकता का समावेश तो हो ही गया है। जायसी ने पद्मावती को बुद्धि, नागमती को संसार, अलाउद्दीन को माया, चित्तौड को मानव-तन, रतनसेन को आत्मा, राघव-चेतन को शैतान तथा तोते को गुरु के रूप में चित्रित करना चाहा है।

"तन चित उर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पद्मिनी चीन्हा।
गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा?
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदी सुलतानू॥

आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने इस काव्य को *प्रेमगाथा परम्परा की प्रौढ़ रचना* माना है। इसके पूर्वार्द्ध मे तो- प्रेम मार्ग का ही संकेत है, पर उत्तरार्द्ध में लोकपक्ष को स्थान मिला है। सूफी सन्तो ने अपने साध्य अर्थात् परब्रह्म को परम सौन्दर्य के रूप मे देखा है *और नारी सौंदर्य में उसकी छाया का अनुभव किया है।* इसीलिए जायसी का ब्रह्म प्रियतमा पद्मिनी के रूप में और जीव प्रियतम रतनसेन के रूप मे चित्रित है। पद्मिनी परम ब्रह्म रूप है और रतनसेन साधक अर्थात भक्त। यही कारण है कि जायसी ने अपने ग्रन्थ का नामकरण भी पद्मावती के नाम के आधार पर किया। पूर्व मे ही उल्लेख किया जा चुका है कि रूपक का पूर्ण निर्वाह नही हो पाया है। प्रेम प्रसंगों की चर्चा करते समय संयोग श्रृंगार वर्णन में जायसी ने जो अश्लीलता दिखाई है, उसे देख कर आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध मे पाठक सोच भी नही सकता। ऐसे स्थल नितांत लौकिक और मानवीय है।

कथानक रूढ़ियों का प्रयोग

तत्कालीन प्रचलित कथानक रुढियो का भी पद्मावत मे यत्र-तत्र प्रयोग मिलता है, जैसे प्रेमतत्व को प्रधानता देना और आश्रय आलम्बन रूप में राजकुमार तथा राजकुमारी की ही कल्पना करना। (२) गुण श्रवण द्वारा नायक के हृदय मे प्रेमोदय दिखाना। (३) सिंहलद्वीप को सौंदर्य-प्रेम और वैभव विलास की श्रेष्ठ भूमि

के रूप में कल्पित करना। (४) हीरामन शुक का पंडित और वेदज्ञ होना। (५) प्रेमिका की प्राप्ति के लिए प्रेमी का योगी होना और अथक प्रयत्न करना। (६) प्रेम-परीक्षक और सहायक रूप में महादेव और पार्वती का आना। (७) शिवमंदिर में प्रेमी-प्रेमिका का मिलन और नायक का मूर्छित होना। (८) देववाणी और आकाशवाणी का उपयोग (९) पक्षी का दूत कार्य करना। (१०) पुनर्वियोग। (११) अलौकिक शक्ति (लक्ष्मी) की कृपा से पुनर्मिलन। (१२) सपत्नी के प्रति ईर्ष्या। (१३) लौकिक कथा के माध्यम से प्रेमाभिव्यक्ति।

प्रेम निरूपण

'पद्मावत' में जायसी ने जिस प्रेम का आदर्श उपस्थित किया है वह सूफियों से भिन्न नहीं है। सूफी ईश्वर को परम सौंदर्यमय मानते हुए, उसे ही प्रेम का एकमात्र पात्र स्वीकार करते हैं। ममत्व और पूर्णत्व की अवस्था को ही सौंदर्य की संज्ञा दी गई है और इसी सौंदर्य की प्राप्ति मानव के समस्त प्रयत्नों का अन्तिम लक्ष्य है। प्रेम के माध्यम से ही सौंदर्यमयी इस सत्ता की अनुभूति हो सकती है। पर प्रेम की यह भावना बड़ी कठिन होती है और साधक को अपना उत्सर्ग तक कर देना पड़ता है। इस पथ पर चलने के लिए संसार से विरक्त हो जोगी, जपी, तपस्वी और सन्यासी बनना पड़ता है। पद्मावत में रतनसेन की स्थिति कुछ ऐसी ही है। उसे विरहाग्नि भी सरस प्रतीत होती है। काव्य में प्रेम मधु का रस भरने वाला कवि ही सच्चा कवि माना जाता है। कवि जायसी को तो सर्वत्र प्रेम की ही लालिमा दिखाई देती है। वे प्रेम के कवि हैं—

> मुहमद कवि जो प्रेम का ना तन रकत न मांसु।
> जेइ मुख देखा तेइँ हँसा, सुना तो आए आँसु॥

कबीर की भाँति खण्डन-मण्डन करने में जायसी का विश्वास नहीं था। उनकी प्रवृत्ति विध्वंसकारी नहीं बल्कि निर्माणकारी थी। उन्हें जहाँ कहीं भी अच्छाई दीख पड़ी है, उन्होंने उसे मस्तक झुकाया है, चाहे वह वेद हो अथवा कुरान। बुराइयों से वे दूर भागना चाहते थे। वे असली माने में फकीर थे जिससे प्रेम की पीर मिटाने के लिए माशूक ईश्वर की तलाश किया करते थे।

महाकाव्यत्व

मानव जीवन में आने वाले सभी भावों को महाकाव्यों में स्थान मिलता है, पर 'पद्मावत' में इसका इसलिए अभाव है कि यह जीवन की समग्रता को ग्रहण करने वाला महाकाव्य नहीं है। इस काव्य में रति को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है और अन्य भावों की अवतारणा गौड़ रूप में ही हुई है। वीर और शृंगार की योजना इस

काव्य में एक साथ होने के कारण लालित्य में कुछ कमी आ गई है। **इस काव्य में संयोग और वियोग दोनों वर्णन अपनी चरम सीमा पर पहुँचे हुए हैं।** रूप वर्णन में जायसी का मन खूब रमा है। शृंगार (रति) वर्णन में प्रकृति का उद्दीपन रूप चित्रित है। जायसी ने संयोग रति को उद्दीप्त करने के लिए षट्-ऋतु और वियोग 'रति' के लिए बारह मासा वर्णन का सहारा लिया है। जीवन की मार्मिक व्यथा को व्यक्त करने वाले प्रकृति के सादृश्य मूलक चित्र बड़े ही अच्छे बन पड़े है। बीच-बीच में आए जायसी के साम्प्रदायिक आग्रहों को यदि निकाल दिया जाय, जो खटकते है, तो संयोग शृंगार (रति) का इतना विशद एवं पूर्ण चित्रण हिन्दी साहित्य की प्रवन्ध काव्य-परम्परा में अन्यत्र दुर्लभ है। **वियोग वर्णन में जायसी ने बड़ी ही तन्मयता दिखाई है और यहीं लोक जीवन के प्रति उनका अनुराग देखते बनता है। वे भूल ही जाते हैं कि नागमती महलों में रहने वाली राज रानी है।** रतनसेन के अभाव में वह एक ग्रामीण बाला की भाँति चूने वाले घर की चिन्ता करती है कि नाह (रतन सेन) बिनु उसे कौन छायेगा।

रहस्यवाद

जायसी को रहस्यवादी कवि के रूप मे स्वीकार किया जाता है। इनका रहस्यवाद अन्य सूफी सन्तो की ही भांति अद्वैत भावना पर आश्रित है। इन्होने परमात्मा को प्रिया के रूप में देखते हुए जगत के समस्त रूपों को उसी की छाया से उद्भासित बताया है। पद्मावती के रूप वर्णन में नख-शिख वर्णन की प्रणाली और अंग-प्रत्यंग चित्रण मे सादृश्य मूलक अलंकारो का विधान परम्परानुसार ही हुआ है पर रूप सौन्दर्य के सृष्टिव्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना करना जायसी की अपनी विशेषता है—

अपरूप के कवि

'बेनी छोरि झार जो बारा, सरगपताल होइ उजियारा।'

यहाँ पर कवि पद्मावती के साधारण रूप की चर्चा न करके उसके ऐसे रूप की चर्चा करना चाहता है जिसका प्रभाव सारे संसार पर पड़ रहा है। कवि ने इस रूप को 'पारस' रूप कहा है जिसके स्पर्श मात्र से जगत के रूप मे माधुर्य की सृष्टि होती है। वस्तु वर्णन जायसी ने इस ढंग से किया है कि प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत परोक्ष सत्ता का भी भान पाठक को होता चलता है। इस पद्धति को समासोक्ति पद्धति के नाम से पुकारा जाता है। इस पद्धति के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि आदि से अन्त तक दो अर्थों का निर्वाह होता ही चले। अवसर निकाल कर कुछ ऐसे विशेषणो का प्रयोग कर दिया जाता है कि अप्रस्तुत अर्थ भी आभासित होने लग जाता है। **परोक्ष सत्ता की ओर संकेत करने का अतिरिक्त उत्साह जायसी में दिखाई पड़ता है।**

ने ऐसे प्रसंगों की अवश्य तलाश करते जान पड़ते हैं कि उन्हें अप्रस्तुत की ओर इशारा करने का मौका मिल जाय। सिंहलगढ़, उसके बगीचे, मानसरोवर, पद्मावती का बाह्य रूप आदि ऐसे ही प्रसंग हैं।

जायसी एकेश्वरवादी होते हुए भी अद्वैत वादियों की भाँति आत्मा और परमात्मा के अभेद को स्वीकार करते थे। भारतीय आर्य ग्रंथों का प्रभाव इन पर पड़ा था जिससे इनकी रचनाओं में वेदांत के बिम्ब प्रतिबिम्ब वाद की भी झलक मिल जाती है।

पद्मावत : कलापक्ष

प्रबन्ध काव्य के समस्त उत्तम गुणों से पद्मावत युक्त है। अलंकारों का भी पर्याप्त प्रयोग इस काव्य में देखने को मिल जाता है। अतिशयोक्ति अलंकार जायसी को बहुत प्रिय था और रूप वर्णन के सन्दर्भ में वह प्रायः अतिशयोक्ति पर उतर आते हैं—

"सरवर तीर पदमिनी आई। खोपा छोरि केस मुकलाई॥
ससि मुख अंग मलयगिरि बासा। नागिनि झाँपि लीन्ह चहुँ पासा॥
ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चन्द देखावा॥"

उत्प्रेक्षा के भी अच्छे उदाहरण 'पद्मावत' में मिल जाते हैं—

"कोमल कुटिल केस नग कारे। लरहिं भरे भुअंग बिसारे॥
बेधे जानु मलै गिरि बासा। सीस चढ़े लोटहिं चहुँ पासा॥"

उपमा और रूपक अलंकारों का भी जायसी ने जमकर प्रयोग किया है।

'बरिसै मघा झंकोरि झंकोरी। मोर दुइ नैन चुवहिं जसि ओरी॥
पुरवा लाग पुहुमि जल पूरी। आक जवास भई हौं झूरी॥'
हिया थार कुच कंचन लाडू। कनक कचोर उठे करि चाडू॥
कुन्दन बेल साजि जनु कूँदे। अंब्रित भरे रतन दुइ मूँदे॥

इस काव्य की रचना कवि ने दोहे चौपाइयों में की है। ठेठ अवधी भाषा का प्रयोग करने पर भी भाषा में मिठास अक्षुण्ण रखना जायसी की अपनी विशेषता है।

अन्य ग्रन्थ

जायसी के अन्य प्राप्त ग्रन्थ 'अखरावट' में जिसकी रचना पद्मावत के बाद मानी जाती है, जीव सृष्टि और ईश्वर के प्रेम सम्बन्धी विचार दो प्रकार के पद्यों में संकलित हैं। प्रथम प्रकार के पद्यों की रचना अक्षरों के क्रम से हुई है और दूसरे प्रकार के वे

पद्य है जिनका क्रम अक्षरों से नहीं है। 'आखिरी कलाम' में ईश्वर गुरु तथा मुहम्मद की स्तुति के साथ कवि के जीवन सम्बन्धी अनेक पद भी हैं। इसका रचना काल ६३६ हिजरी माना जाता है। 'कहरानामा' को ही पहले लोगों ने 'महरी बाइसी' के नाम से पुकारा था पर उसकी पूर्ण प्रति के मिल जाने से लोगों ने उसे 'कहरानाम' कहना स्वीकार कर लिया है। हाल ही में प्राप्त चित्ररेखा की कथा दोहा चौपाई वाली शैली में लिखी गई है। इसकी छोटी सी कथा में भी जायसी ने अनेक स्थलों पर परोक्ष सत्ता की ओर इंगित किया है। इसकी रचना जायसी ने उस समय की जब वे काफी वृद्ध हो चले थे। 'मसलानामा' एक मसलो अर्थात् लोकोक्तियों की एक छोटी सी पुस्तक है। इस पुस्तक की प्रत्येक पंक्ति में कोई न कोई कहावत या लोकोक्ति अवश्य प्रयुक्त हुई है—

'यह तन अलहमियाँ सो लाई।
जिहि की पाई तिहि को गाई॥'

इस पुस्तक में जायसी ने अपने को या साधक को स्त्री-रूप में रखकर हृदय के प्रेम को व्यक्त किया है जो उनकी अन्य रचनाओं से भिन्न है। सूफियों के यहाँ साधकों ने ईश्वर को स्त्री रूप में स्वीकार किया है। इसमें जायसी की भाषा का लोक-रूप भलीभाँति परिलक्षित हुआ है।

उसमान

ये गाजीपुर के रहने वाले थे और मुगल सम्राट् जहाँगीर के शासन काल में वर्तमान थे। इनके पिता का नाम शेख हुसैन था। उसमान शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्य परम्परा में हाजी बाबा के शिष्य थे। इन्होंने सन् १०२२ हिजरी अर्थात् सन् १६१३ ईसवी में 'चित्रावली' नाम की पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने जायसी का अनुकरण किया है।

शेख नवी

ये जहाँगीर के समय सवत् १६७६ (सन् १६१६ ई०) में वर्तमान थे। जौनपुर जिले के दोस्तपुर के निकट मऊ नामक स्थान के रहने वाले थे। शेखनवी प्रेममार्गी काव्यधारा के ऐसे कवि हैं जिनसे इस काव्यधारा की समाप्ति समझनी चाहिए। राजा 'ज्ञानदीप' और रानी देवजानी को लेकर इन्होंने 'ज्ञानदीप' नामक एक आख्यानक काव्य लिखा है।

कासिम शाह

प्रेममार्गी काव्यधारा के अत्यन्त साधारण कवि थे। संवत् १७८८ (सन् १७३१ ई०) के लगभग इनका वर्तमान रहना माना जाता है। राजा हंस और रानी जवाहिर की

कथा के रूप में इन्होंने 'हंस जवाहिर' नामक कहानी लिखी है। जायसी का अनुकरण इन्होंने भी करना चाहा है।

नूर मुहम्मद

दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह के समय में ये वर्तमान थे और जौनपुर जिले के कस्बा शाहगंज के सन्निकट सबरहद ग्राम के निवासी थे। यह ग्राम जौनपुर और आजमगढ़ की सरहद पर स्थित है। बाद में ये अपनी ससुराल भादों में आकर रहने लगे जो आजमगढ़ जिले में पड़ता है। इन्होंने संवत् १८०१ (सन् १७४४ ई०) में 'इन्द्रावती' नामक एक सुन्दर आख्यानक काव्य लिखा। ये फारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे जिनमें इन्होंने एक दीवान के अतिरिक्त 'रौजतुल हकायक' आदि कई किताबें लिखीं जो अब नष्ट हो जाने के कारण नहीं मिलतीं। फारसी अक्षरों में इनका एक और ग्रन्थ इधर मिला है जिसका नाम 'अनुराग बाँसुरी' है। इसका रचनाकाल संवत १८२१ (सन् १७६४ ई०) है। अन्य कवियों से इनमें एक विशेषता यह है कि इन्होंने चौपाइयों के बीच-बीच में दोहे न रखकर बरवै रखे हैं। इनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि मुसलमानों में उर्दू का आन्दोलन आरम्भ हो गया था। भाषा भी इनकी अपेक्षाकृत संस्कृत गर्भित है। कहीं-कहीं ब्रजभाषा शब्दों के भी प्रयोग इनमें मिलते हैं। 'अनुराग बाँसुरी' में शरीर, जीवात्मा तथा मनोवृत्तियों आदि को लेकर अन्यवसित रूपक (एलिगरी) बाँधकर कहानी कही गई है।

सूफी आख्यान काव्यों की परम्परा नूर मुहम्मद के आगे फिर न चल सकी। इस काव्य परम्परा में मुसलमान कवि ही हुए। केवल एक पंजाबी हिन्दू कवि सूरदास ने शाहजहाँ के शासन काल में 'नल दमयन्ती कथा' नाम की कहानी लिखी जो अत्यन्त साधारण कोटि की है। बाद में भी कुछ साधारण रचनायें मिलती हैं जिनमें 'चतुर्मुकुट की कथा' तथा 'युसुफ-जुलेखा' का नाम लिया जा सकता है।

सगुण धारा

कृष्ण भक्ति और उसका साहित्य

भारत के विशाल अंचल में समय-समय पर जिन कल्याणकारी आदर्शों की अभिव्यंजना हुई है, उनमें जीवन को सुखद और सरस बनाने वाला एक भक्ति मार्ग भी है जो अनादि काल से मातृत्व भावना के प्रतिफल रूप वात्सल्य, विश्वबन्धुत्व की भावना के प्रतिफल रूप सख्य और दाम्पत्य भावना के प्रतिफल रूप माधुर्यभाव से संसार में मानव जीवन के साथ जुड़ा हुआ चला आ रहा है। मनुष्य में जीवन की कामना जितनी प्रबल होती है, प्रेम की भावना भी उतनी ही प्रबल होती है। जीवन का रागतत्व ही व्यापक और उदात्त होकर अपनी सीमा में सम्पूर्ण चराचर को

समेटते हुए स्वयं अनन्त प्रेममय भगवान तक पहुँचकर असीम हो जाता है। भक्ति हृदय का धर्म है और धर्म का हृदय भी। भारतीय भक्ति-भावना के विकास का चरम उत्कर्ष श्रीकृष्ण के लीला वपु प्रेममय स्वरूप में प्राप्त होता है। कृष्ण की प्रेममयी लीलाओं का अस्तित्व भारतीय लोकजीवन मे अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है, भक्तों की आत्मा के संगीत के रूप में उनकी अभिव्यक्ति भी बहुत पुरानी है किन्तु आचार्यों की बुद्धि से अनुशासित उनका शास्त्रीय स्वरूप अपेक्षाकृत कुछ बाद में प्रस्तुत हुआ है। भक्तों ने भागवत धर्म का भावनात्मक पक्ष प्रस्तुत किया और आचार्यों ने उसका बौद्धिक पक्ष। कृष्ण की प्रेममयी ललित क्रीड़ाओं की कथा किसी एक कवि की कल्पना की देन नहीं है बल्कि एक दीर्घ विकासशील परम्परा का परिणाम है जिसमे लोक-मानस, भक्तों की भाव-साधना और आचार्यों के आत्मानुशासित बौद्धिक प्रयास का योग है। भक्ति के बिन्दु, वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, महाभारत, विभिन्न सूत्रों, संहिताओं पुराणों तथा शिलालेखों मे यत्र तत्र बिखरे पड़े हुए हैं, जिन्हें अपने भगीरथ प्रयत्न से एकत्र कर रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ ने भक्ति की गंगा ज्ञान के दुर्गम पर्वत के प्रतिरोध के बावजूद प्रवाहित की। इस भक्ति गंगा की धारा को छूकर बहने वाली हवा के शीतल झोंकों ने ज्ञानियों के नीरस मानस को भी सरस कर दिया, जिसका फल निर्गुण भक्ति साहित्य है। कृष्ण कथा के सूत्र, छान्दोग्योपनिषद, पतंजलि के महाभाष्य, बौद्ध घट-जातक, महाभारत, हरिवंश, भागवतादि पुराण और साम्प्रदायिक उपनिषदों के अतिरिक्त अनेक साहित्य ग्रन्थों में बिखरे हुए हैं। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यही ज्ञात होता है कि आलवारों के भक्ति-गीतों और रामानुज, मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभ आदि आचार्यों के प्रयास से भक्ति-गंगा दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित हुई। उत्तर-भारत में राधाकृष्ण की भक्ति का शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादन का प्रारम्भिक श्रेय निम्बार्काचार्य को है। उन्होंने अपनी 'दश श्लोकी' में राधाकृष्ण भक्ति का विवेचन किया है। निम्बार्क से प्रेरित इस राधाकृष्ण भक्ति आन्दोलन को उत्तर भारत मे वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु से ही ऐसी शक्ति और गति प्राप्त हुई जिससे कृष्ण भक्ति आन्दोलन सम्पूर्ण उत्तर भारत मे फैल गया। आसाम से लेकर गुजरात और महाराष्ट्र तक कृष्णभक्ति की अभिव्यक्ति असमियाँ, बंगला, गुजराती और मराठी आदि भाषाओं के साहित्य में हुई।

उत्तर भारत मे और विशेषतः ब्रज-प्रदेश मे कृष्णभक्ति के प्रेरणा-स्रोत वल्लभाचार्य का जन्म वैशाख कृष्ण ११ रविवार संवत् १५३५ (सन् १४७८ ई०) में हुआ और देहावसान आषाढ़ शुक्ल ३ संवत् १५८७ (सन् १५३० ई०) में माना जाता है। वल्लभाचार्य जी की जीवनी 'वल्लभदिग्विजय' मे प्राप्त होती है। इनका जन्म गोदावरी के तट पर 'कारवाद' गाँव में 'लक्ष्मण भट्ट' नामक एक तैलंग ब्राह्मण के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम 'इल्लमा गारू' था। १० वर्ष की आयु मे ही बालक

वल्लभ ने वेद, वेदान्त दर्शन और पुराणों का अध्ययन कर लिया। वल्लभाचार्य ने अनेक बार उत्तर और दक्षिण भारत की यात्राएँ की और अनेक स्थलों पर वैष्णव आचार्यों से शास्त्रार्थ करके अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। अपनी दूसरी ब्रजयात्रा के समय ही इन्होंने संवत् १५५६ (सन् १४९९ ई०) में श्रीनाथ जी के प्रकट होने पर उनके मन्दिर की स्थापना की। वल्लभाचार्य जी के दो पुत्र थे गोपीनाथ और विट्ठलनाथ। विट्ठलनाथ ने ही वल्लभ संप्रदाय को संगठित और सुव्यवस्थित किया। वल्लभाचार्य जी के मुख्य ग्रन्थ हैं (१) पूर्व मीमांसा भाष्य, (२) उत्तर मीमांसा या ब्रह्म सूत्र भाष्य, जो 'अणु भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। (३) श्री भागवत की सूक्ष्म टीका और सुबोधिनी टीका (४) तत्वदीप निबंध, (५) १६ छोटे-छोटे प्रकरण ग्रन्थ। इन ग्रन्थों में ही वल्लभाचार्य जी ने अपने दार्शनिक सिद्धांत, भक्ति के स्वरूप और सेवा भाव के आचरण पक्ष का विवेचन किया है।

वल्लभाचार्य जी का दार्शनिक सिद्धांत 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है और उसका आचरण पक्ष 'पुष्टिमार्ग' के नाम से जाना जाता है। वल्लभाचार्य ब्रह्म और जीव की नितांत एकता के पक्षपाती हैं। इनके विचार में ब्रह्म नितांत विशुद्ध और माया के संपर्क से लेशमात्र भी संपृक्त नहीं है। मायाशबल ब्रह्म के मानने वाले शांकर वेदान्त से अपने मत की भिन्नता दिखाने के लिए इन्होंने अद्वैत से पूर्व 'शुद्ध शब्द का प्रयोग कर अपने मत को 'शुद्धाद्वैत' के नाम से व्यवहृत किया है। शुद्धाद्वैत के नाम-करण का कारण है—'माया के संबंध से रहित होने के कारण ब्रह्म शुद्ध कहा जाता है और यही माया रहित स्वतंत्र ब्रह्म इस संसार में कार्य तथा कारण रूप सर्वत्र व्यापक है। इसी कारण यह मत 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है। आत्मा और परमात्मा के शुद्ध अद्वैत भाव का प्रतिपादन करने के कारण भी इनका सिद्धांत 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है। वल्लभ के मत में ब्रह्म सर्व धर्म विशिष्ट अंगीकृत किया गया है अतः उसमें विरुद्ध धर्मों की भी सत्ता है। अखिल रसामृत मूर्ति श्री आनन्द कन्द कृष्ण ही परम ब्रह्म है। वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म ही जीव तथा जगत् के रूप में आविर्भूत होता है। भगवान सच्चिदानन्द रूप हैं। अपने आनन्दांश को तिरोहित कर जीव की सृष्टि करते हैं और चित्त तथा आनन्द दोनों को तिरोहित कर जड़ जगत की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार ईश्वर में सत, चित, आनन्द तीनों गुणों का विकास रहता है और आनन्द की प्रधानता रहती है। यह सृष्टि ईश्वर लीला का विकास है। '*सृष्टि*' और '*संहार*' दोनों भगवान की लीला है। वल्लभाचार्य के अनुसार मार्ग दो प्रकार के हैं—(क) मर्यादा मार्ग (ख) पुष्टि मार्ग। मर्यादा मार्ग वैदिक मार्ग है जिसमें लोक मर्यादा की रक्षा होती है, कर्मानुरूप फल प्राप्त होता है और उसका अंतिम लक्ष्य है मोक्ष। यह मोक्षफल शास्त्र विहित ज्ञान और कर्म के आचरण से मिलता है। पुष्टिमार्ग श्रीमद्भागवत पुराण के सुन्दर सिद्धांतों का विलास है। 'पुष्टि'

शब्द जो भागवत की ही देन है, उसका अर्थ है—'भगवदनुग्रह' भगवान का अनुग्रह, भगवान की कृपा। **'पुष्टि' का प्रधान साधन है भक्ति-प्रपत्ति।** पुष्टि मार्ग वही है जिसमें साधक सर्वथा समग्र विषयों को त्याग कर देह, वासना, कामना आदि समस्त पदार्थों का कृष्णार्पण कर देता है। **पुष्टि भक्ति चार प्रकार की** होती है—

(१) प्रवाह पुष्टि, (२) मर्यादा पुष्टि, (३) पुष्टि पुष्टि (४) शुद्ध पुष्टि। भगवदनुग्रह के बाद भक्त को प्रेमाभक्ति प्राप्त होती है। प्रेमाभक्ति की विकास की अवस्थाएँ हैं—प्रेम, आसक्ति और व्यसन। भक्ति का लक्ष्य राधाकृष्ण की शाश्वत लीला में प्रवेश है।

पुष्टिमार्ग का व्यवहार पक्ष अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत है। ब्रह्म सम्बन्ध के द्वारा भागवत तत्ववेत्ता गुरु 'मुमुक्षु शिष्य का भगवान के साथ सम्बन्ध जोड़ देता है। गुरु शिष्य को शरण मंत्र का उपदेश देता है। पुनः गुरु शिष्य को दीक्षा मंत्र और आत्म निवेदन मंत्र देता है। भक्त में सच्ची प्रपत्ति, सत्य निष्ठा, एकान्तिकी भक्ति और अनन्याभक्ति चाहिए। **पुष्टिमार्ग के आचरण पक्ष में साधक के लिए प्रातःकाल के जागरण से लेकर रात्रि के शयन तक के लिए भगवान की सेवा की विविध विधियों का विधान है।** 'वल्लभ' मत के अनुसार संसार में तीन ही मुख्य लक्ष्य हैं—(१) आचार्य वल्लभ का आश्रय (२) भागवत पुराण की आचार्य वल्लभ द्वारा लिखित सुबोधिनी टीका (३) भगवान राधिकानाथ श्रीकृष्ण की उपासना। वल्लभाचार्य ने निर्गुण ईश्वर के बदले कृष्ण के सुबोध सगुण लीला वपु की व्याख्या की जिससे प्रेमाभक्ति की स्थापना हुई। कृष्ण के इस लीला रूप के गायक भक्त कवियों ने व्रजभाषा के माध्यम से हिन्दी का काव्य भण्डार भरा। **व्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में काव्य और संगीत दो कलाओं का जो समन्वित स्वरूप उपस्थित हुआ वह अत्यन्त मनोहर और अन्यत्र दुर्लभ है।** वैसे तो व्रजभाषा के सभी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में भाव गांभीर्य और कला-कौशल का मोहक समन्वय हुआ है, किन्तु अष्टछाप के कवियों में और विशेषकर सूरदास के काव्य में इसका चरम उत्कर्ष देखा जा सकता है।

वल्लभाचार्य जी के पुत्र विट्ठलनाथ जी ने बिखरे हुए वल्लभ सम्प्रदाय को संगठित और सुव्यवस्थित किया और उन्होंने वल्लभाचार्य जी के ४ शिष्यों **कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास** और **कृष्णदास** तथा अपने ४ शिष्यों **गोविन्द स्वामी ? छीत स्वामी, चतुर्भुज दास** और **नन्ददास** को मिलाकर सम्भवतः संवत् १६०२ (सन् १५४५ ई०) में **अष्टछाप की स्थापना की** जिसकी पूर्ति संवत् १६०७ (सन् १५५०) ई० में हुई। अष्टछाप के इन आठों गायक कवियों का कार्य था नाथ जी के मंदिर में स्वरचित पदों का कीर्तन गायन। सम्प्रदाय, काव्य और संगीत कला की दृष्टि से अष्टछाप का महत्व अक्षुण्ण है। **भक्ति भावना और रचना सौंदर्य की दृष्टि से सूरदास अष्टछाप की भक्ति-मणिमाला के सुमेरु हैं।** अतः सर्वप्रथम उनकी चर्चा अपेक्षित है।

सूरदास

मध्यकाल के अनेक अन्य कवियों की भाँति आत्मचरितात्मक कथन से उदासीन होने के कारण सूरदास की कोई प्रामाणिक जीवनी उपलब्ध नहीं होती। उनके जीवन चरित का जो रूप प्राप्त है उसका आधार वल्लभ सम्प्रदाय का वार्त्ता साहित्य है।

जन्म और परिचय

सूरदास का जन्म वैशाख शुक्ल ५ को दिल्ली के निकटवर्ती 'सीही' ग्राम के एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे जन्मान्ध थे और अपने ४ भाइयों में सबसे छोटे थे। बचपन से ही वे विरागी और संगीत प्रेमी थे। पद रचना और उसके गायन में उनकी प्रवृत्ति जीवन के आरम्भिक काल से ही थी। सूरदास ने आगरा मथुरा के बीच 'रुनकता' ग्राम में कुछ दिन रहने के बाद 'गऊ घाट' को अपना निवास स्थान बनाया। सम्भवतः 'गऊ घाट' पर रहते हुए ही सूरदास ने सत्संग के सहारे संगीत शास्त्र और काव्यादि का गम्भीर ज्ञान प्राप्त किया जो उनके काव्य में अभिव्यक्त है। सूरदास संवत् १५६७ (सन् १५१० ई०) में वल्लभाचार्य जी के शिष्य हुए और उन्हीं से भागवत की कथा का उपदेश भी प्राप्त किया। इसके बाद सूरदास गोकुल में श्रीनाथ जी के मन्दिर में स्वरचित पदों का कीर्तन करने लगे। सूरदास अष्टछाप के ही नहीं ब्रजभाषा और हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूरदास और अकबर की भेंट का उल्लेख है जो संभवतः संवत् १६३० (सन् १५७३ ई०, के आसपास अनुमानित है। सूरदास वृन्दावन आने के बाद स्थायी रूप से पारसोली ग्राम में 'चन्द्र सरोवर' के निकट बस गये। इन्होंने अपने जीवन काल में विनय और कृष्ण लीला विषयक हजारों पदों की रचना की। इनका देहावसान संभवतः संवत् १६४० (सन् १५८३ ई०) के करीब हुआ। उनकी मृत्यु के समय विट्ठलनाथ जी और अष्टछाप के अनेक कवि उपस्थित थे।

ग्रन्थ रचना

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट और इतिहास ग्रन्थों में सूरदास के रचे हुए २५ ग्रन्थों का उल्लेख है किन्तु इनमें से कुछ अप्रमाणिक हैं और कुछ 'सूरसागर' के पदों की पुनरावृत्ति मात्र है। सूरदास रचित तीन ग्रन्थों की चर्चा होती है—

(१) सूरसागर (२) सूर सारावली (३) साहित्य लहरी।

सूर सारावली और साहित्य लहरी इन दो ग्रन्थों को कुछ आलोचकों ने सूरदास की रचनाएँ मानी है पर कुछ दूसरे आलोचक इसे सूरदास की रचना नहीं मानते। अतः सूरदास की निर्विवाद प्रामाणिक एकमात्र रचना सूरसागर ही है जिसमें हजारों

पद है। कहा जाता है कि सूरदास ने सवा लाख पदों की रचना की किन्तु अभी तक कुल ५-६ हजार के लगभग ही पद उपलब्ध हैं। किसी कवि की श्रेष्ठता उसके काव्य की मात्रा पर नहीं उसके गुण पर आधारित होती है। सूरसागर के उपलब्ध ५-६ हजार पदों में से एक हजार के करीब ही पद ऐसे है जिनके आधार पर सूरदास हिन्दी साहित्य में वात्सल्य और शृंगार के सर्वश्रेष्ठ कवि अधिष्ठित होते हैं।

सूर की भक्ति भावना

यद्यपि सूरदास वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे किन्तु उनकी भक्ति भावना उदार थी जिसमें शिव को सम्मान प्राप्त है और रामचरित का भी गायन है पर सूर की आत्मा कृष्ण की लीलाओं के गायन मे ही विशेषतः रमी है। साम्प्रदायिक संकीर्णता के अभाव के कारण ही सूर साहित्य मे भक्ति के प्रायः सभी रूप उपलब्ध हो जाते हैं। साम्प्रदायिक आग्रह के साथ सूरसागर के अध्ययन से उसमे पुष्टिमार्गी भक्ति तत्व भी पूर्णतः प्राप्त होते हैं। सम्प्रदाय निरूपित श्रीकृष्ण का स्वरूप, उनकी नित्य लीला, अवतार लीला और लीला का प्रकट और प्रच्छन्न रूप सूरसागर में प्रतिपादित है। ब्रह्म, जीव, जगत और माया का स्वरूप और सम्बन्ध भी पुष्टिमार्गी है। **प्रेम सूरदास के भक्ति-काव्य का मूल तत्व है।** पुष्टिमार्गी भक्ति समर्थित वात्सल्य एवं दाम्पत्य भावना का चरमोत्कर्ष सूर साहित्य में प्राप्त होता है। राधा कृष्ण की ललित क्रीड़ाओं का मनोहर अंकन सूरदास ने किया है।

सूरदास का काव्य

प्रेम सूरदास के काव्य का केन्द्रीय भाव है जिसके भक्ति अनुशासित संयोग और वियोग दोनों रूपो, अनेक पक्षों और स्वरूपों का अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापक अंकन हुआ है। भक्ति, काव्य और संगीत का समन्वित स्वरूप सूर साहित्य में उपलब्ध है। सूर साहित्य मे भक्त और गृहस्थ दोनो की भावनाओं का क्रमशः विकसित होता हुआ गतिमान रूप अंकित है। व्यक्ति जीवन के विकास के साथ ही भावनाओं का सन्तुलित विकास भी सूर साहित्य मे है। शान्त, वात्सल्य सख्य और माधुर्य भक्ति रसो का या दूसरे शब्दो मे **शांत, वात्सल्य और शृंगार काव्य रसों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया है उतना किसी अन्य कवि ने नहीं।**

वात्सल्य

श्री कृष्ण के बाल्य जीवन का अत्यन्त विशद चित्रण सूर ने किया है। सूरदास ने बालक श्रीकृष्ण का रूप वर्णन, क्रीड़ाओ और चेष्टाओं का वर्णन, विभिन्न संस्कारों का वर्णन तथा बालक की अन्तःप्रकृति और अनेक बाल भावों की स्वाभाविक व्यजना की है। बालक श्रीकृष्ण के रूप चेष्टा-क्रीड़ा या अन्तःप्रकृति के वर्णन में कृष्ण के

ईश्वरत्व और सूर की भक्ति भावना की सुगन्धि सर्वत्र व्याप्त है। श्रीकृष्ण का जन्म तो शोभा सिन्धु का अनन्त प्रवाह ही है जिसमें सारा ब्रज देश आप्लावित है—

शोभा सिन्धु न अन्त रही री।
नन्द भवन भर पूरि उमंग चलि, ब्रज की बीथिनि फिरत बही री।

बालक कृष्ण क्रमशः विकसित हो रहे हैं। बालक के साथ माता-पिता का तादात्म्य होता है। सूरदास बालक कृष्ण के साथ ही माता-पिता को, विशेषतः माँ यशोदा को, सदैव ध्यान में रखते हैं। कृष्ण के विकास के साथ ही माता यशोदा की कामनाओं का भी विकास होता है—

सुतमुख देखि यशोदा फूली।
हरषित देखि दूध की दँतियाँ प्रेम मगन तन की सुधि भूली।
बाहिर तें तब नन्द बुलाए, देखो धौं सुन्दर सुखदाई।

बालक की सरल स्वाभाविक चेष्टाएँ, व क्रीड़ाएँ और तर्क माता के हृदय-सागर में आनन्द-सागर भर देते हैं।

शोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु तनु मंडित, मुख दधि लेप किये।
चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिये।
लट लटकनि मनो मत्त मधुपगन, मादक मधुहिं पिये।
कठुला कंठ वज्र केहरि नख, राजत रुचिर हिये।
धन्य सूर एको पल या सुख, का सत कल्प जिये।

इस पद में श्रीकृष्ण का रूप है और भक्त सूर का हृदय भी। बाल स्वभाव जनित धृष्टता, कौतुक प्रियता, उत्सुकता और चातुर्य का सूर के बाल-कृष्ण में प्राचुर्य है। बालक की उत्सुकता और कौतुक प्रियता का ही परिणाम है—

मैया मैं तो चन्द खिलौना लैहों।
जैहों लोटि धरनि पर अबहीं तेरी गोद न ऐहों।

और बालहठ से परेशानी में भी आनन्दानुभूति करती हुई माँ की ममता जनित चातुर्य का निरूपण है। श्रीकृष्ण के माटी खाने और माखन चोरी करने पर माँ यशोदा की खीझ और श्रीकृष्ण का बहाना मनोहर आकर्षक और हृदयस्पर्शी भी है। बालक में स्पर्धा का भाव होता है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी।

सूरदास के वात्सल्य वर्णन में बालक का रूप भी है और हृदय तथा बुद्धि भी किन्तु माँ का केवल हृदय ही हृदय।

> जसोदा हरि पालने झुलावे।
> हलरावै दुलराइ मल्हावै, जोई सोइ कछु गावै।
> मेरे लाल को आउ निन्दरिया, काहे न आनि सुवावै।
> तू काहे न वेगि सी आवे, तो को कान्ह बुलावै।
> कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
> सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि करि करि सैन बतावै।
> इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावै।
> जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ, सो नन्द भामिनि पावै।

यह पद मातृ हृदय का निर्मल दर्पण और बाल जीवन का सजीव चित्र है।

वात्सल्य के संयोग पक्ष में सूर ने बालक कृष्ण के अन्तर्बाह्य रूप का उद्घाटन किया है और वियोग में माँ यशोदा के हृदय की विह्वलता और विशालता का।

> नन्द व्रज लीजै ठोकि बजाय।
> देहु विदा मिलि जाहिं मधुपुरी, जहँ गोकुल के राइ।
> नैननि पंथ कह्यौ क्यों सूझ्यौ, उलटि दियौ जब पाइँ।

इस पद में गहरी उत्सुकता और अधीरता के बीच विरक्ति खिसलाहट आदि अनेक वृत्तियों का अंकन है।

> संदेसो देवकी सों कहियो।
> हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करत हो रहियो।

इस पद में मातृ हृदय की परिस्थिति जन्य असमर्थता, हीनता और उदासीनता की अभिव्यंजना है।

शृङ्गार :

शृंगार रस का स्थायी भाव दाम्पत्य रति है। इसके संयोग और वियोग दो पक्ष हैं। सूर सागर में कृष्ण, राधा और गोपियां हैं, उनकी ललित क्रियाएँ हैं और उनके बीच का बंधन प्रेमतत्व है। कृष्ण और राधा के दाम्पत्य रति में रूप और साहचर्य दोनों का योग है। बाल क्रीड़ा के सखा सखी ही यौवन लीला के सखा सखी हो गये। राधाकृष्ण के प्रथम दर्शन में ही प्रेम का जो बीज अंकुरित हुआ है वह आगे चलकर संयोग और वियोग में विशाल वृक्ष बन गया है।

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीताम्बर बाँधे, हाथ लए भौंरा चक डोरी

× × ×

औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।

राधा कृष्ण की संयोग लीला में परिवेश, प्रकृति और परिस्थिति का सहयोग है। रूप, भावना और आत्मा तीनों स्तरों पर राधा कृष्ण की समानता उनके संयोग का कारण है। राधा कृष्ण की प्रेम लीला प्रेम और सौन्दर्य का शाश्वत पक्ष है। सूर साहित्य में रूप है, रूप के ग्राहक नेत्र हैं, रूप का आलम्बन मानस है, हृदय है, हृदय के अनेक भाव हैं और शरीर पर अभिव्यक्त उनके अनुभाव भी हैं।

संयोग में सूरदास जी राधाकृष्ण की ललित लीलाओं का अवलोकन कर आत्म-विभोर हैं और विप्रलंभ में उनकी जाग्रत चेतना का प्रसार विश्वव्यापी हो गया है। श्रीकृष्ण के मथुरा जाने के बाद कृष्ण के विरह में गोपियाँ और अन्य ब्रजवासी ही नहीं वरन् नदी और वृक्ष भी व्याकुल हैं—

देखियत कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियो उन हरि सों, भई विरह जुर जारी।
गिरि प्रजंक तैं गिरति धरनि धँसि, तरंग तरफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर, जल पूर प्रस्वेद पनारी।

और ब्रज प्रदेश में कृष्ण गमन के बाद अगर कहीं हरियाली दिखायी पड़ती है तो गोपियाँ खीझ उठती हैं—

मधुवन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।
तुम हो निलज लाज नहिं तुमको फिर फिर पुहुप धरे।

सूरदास ने भ्रमर गीत में गोपियों की विरह व्यंजना में वियोग की दसों दशाओं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण की अभिव्यक्ति की है और गोपियों के विरह वर्णन में अनेक ऐसी भावदशाओं का भी चित्रण हुआ है जिनका जीवन में तो अस्तित्व है किन्तु काव्यशास्त्र में कभी उनकी चर्चा नहीं हुई है। भ्रमरगीत में ज्ञान और भक्ति, निर्गुण और सगुण आदि के शास्त्रीय और भावात्मक विवाद के बीच गोपियों की विरह-वेदना की मर्मस्पर्शी व्यंजना है, जो अद्वितीय है।

भ्रमर गीत में वियोगिनी राधा का जो चित्र सूर ने चित्रित किया है उसमें सम्पूर्ण विरहिणियों का विरह ही घनीभूत होकर मूर्त बन गया है। राधा की विरह

वेदना सूर की अपनी ही विरह वेदना जान पड़ती है। विश्व के महान कवियों ने अपने काव्य में जिन नारी चरित्रों के निर्माण मे अपनी आत्म शक्ति का भरपूर उपयोग कर उन चरित्रो से अपना तादात्म्य स्थापित किया है, उनमें राधा का चरित्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राधा के संयोग और वियोग के चित्रण में सूर की आत्मा स्वयं द्रवीभूत होकर काव्य बन गयी है। वियोगिनी राधा का एक चित्र सूर ने इस पद मे अत्यन्त आकर्षक ढग से खीचा है—

> अति मलीन वृषभानुकुमारी।
> हरि-स्रम जल भीज्यो उर अंचल, तिहिं लालच न धुवावति सारी।
> अधमुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यों गथ हारे थकित जुवारी।
> छूटे चिकुर वदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी।
> हरि संदेश सुनि सहज मृतक भइ, इक विरहिनि दूजे अलि जारी।
> सूरदास कैसै करि जीवै, ब्रजवनिता बिनु स्याम दुखारी।

इस पद मे विरह संतप्त राधा का रूप है, हृदय की व्याकुलता है और स्मृति की गन्ध भी है जो प्रेमियों का जीवन रस है।

वात्सल्य और शृंगार के अतिरिक्त सूरसागर मे हास्य, वीर, भयानक और अद्भुत आदि रसो का भी आयोजन हुआ है। सूरदास के काव्य में नायिका भेद के भी विभिन्न तत्त्व सहज में ही आ गये है। कृष्ण राधा और अन्य गोपियों की प्रेम लीलाएँ वृन्दावन के उन्मुक्त प्राकृतिक परिवेश में हुई है इसलिए सूर साहित्य में प्रकृति चित्रण भी है।

कला पक्ष

सूर के काव्य में भाव पक्ष ही नही कला पक्ष भी अपने चरम उत्कर्ष पर है। सूर का काव्य व्यंजना का काव्य है अतः अलंकारो में शब्दालंकारो से अधिक अर्थालंकारो का उपयोग हुआ है। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षादि अलंकार विशेष प्रयुक्त है किन्तु अनुप्रास और यमक का भी अभाव नही है। रूपकों से सूर का विशेष लगाव है क्योंकि सूर-का ठोस सगुण रूप से विशेष सम्बन्ध है। भ्रमर गीत में वक्रोक्ति है। सूरदास में विधायक कल्पना का विकास नवीन प्रसंगों की उद्भावना में हुआ है। हिन्दी गीतिकाव्य के इतिहास मे सूरदास का अन्यतम स्थान है। भावों की तरलता और सबलता, भाषा का प्रवाह और उसकी ध्वन्यात्मकता तथा संगीत की शास्त्रीय मर्यादा से अनुशासित सूरदास के गीत हिन्दी साहित्य की गौरव वृद्धि मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सूरदास की काव्य-भाषा भावानुरूप और परिनिष्ठित है। सूरदास ब्रजभाषा के ऐसे प्रथम कवि हैं जिन्होंने ब्रजभाषा को परिष्कृत काव्य-भाषा का रूप दिया।

सूर की भाषा में सार्थक शब्द योजना और धारावाहिक प्रवाह है जिससे वह बलवती और सजीव हो उठी है। व्यक्तियों और भावों के अनुरूप विशिष्ट शब्दावली मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग में सूरसागर की ब्रजभाषा निखर उठी है।

कुंभनदास

कुंभनदास के जीवन चरित्र का आधार वार्ता साहित्य है। इनका जन्म संवत् **१५२५ (सन् १४६८ ई०) में हुआ था। ये गोरवाक्षत्री थे।** जीवन के आरम्भिक काल से ही काव्य रचना और संगीत में इनकी रुचि थी। **कुम्भनदास संवत् १५५६ (सन् १४९९ ई०) के करीब वल्लभाचार्य के शिष्य हुए।** ये अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि और संगीतज्ञ थे। वार्ता साहित्य के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि कुंभनदास के संगीत और काव्य रचना की ख्याति सुनकर अकबर ने फतहपुर सीकरी में कुंभनदास को बुलाया जहाँ अकबर के सामने इन्होंने यह पद गाया—

संतन को कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पनहियाँ टूटी बिसरि गयो हरि नाम।
जिनको मुख देखे दुख उपजत तिनको करिबे परी सलाम।
कुम्भनदास लाल गिरधर बिनु और सबै बेकाम।

इस पद से कुंभनदास की निर्भीकता और दृढ़ भक्ति भावना का परिचय मिलता है। कुंभनदास अनासक्त गृहस्थ थे। **संवत् १६४० (सन् १५८३ ई०) के लगभग इनका देहावसान हुआ।** इन्होंने कोई स्वतंत्र काव्य ग्रन्थ नहीं लिखा। किन्तु इनके कृष्ण भक्ति विषयक फुटकल पद ही उपलब्ध हैं जिनसे इनकी भक्ति भावना और रचना शक्ति का परिचय मिलता है। कुम्भनदास ने निकुंज लीला सम्बन्धी पदों की रचना की है।

कृष्ण तरनि-तनया तीर, रासमण्डल रच्यो।
अधर केल मुरलिका वेणु बाजै।
जुवती जन जूथ संग निरतत अनेक रंग,
निरख अभिमान तजि काम लाजै।
स्याम तन पीत कौसेय सुभ पद नखनि,
चन्द्रिका सकल कलिमल-हर भुव भ्राजै।
ललित अवतंस सम्भु धनुष लोचन चपल,
चितवन मानो मदन बान नाजै।
मुखर मंजीर कटि किंकिनी कुनित रव,
वचन गम्भीर जनु मेघ गाजै।

दास 'कुम्भनदास' कुम्भ दास हरिदास वर्य,
धरनि नखसिख स्वरूप अद्भुत बिराजैं।

निम्नलिखित पद में कुंभनदास के संगीत ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है।

गावत गिरधरन संग, परम मुदित रास रग
उर परि रयमान सेत नागर नागरी।
रा री गम प धनि गम प धनि उघत कल राग
सुरन लाग डाट लेत ताल अति उजागरी।
चवित तावूक देत, ध्रुवताल गतिलेत गिड़ गिड़िता,
गिड़गिड़िवा तता थुग थेई अलाग लाग री।
सुरति केलि वन विलास वलि-वलि-वलि कुंभनदास,
श्री राधा वर नंद नंदन वर सुहाग री।

परमानन्ददास

इनका जन्म संवत् १५५० (सन् १४६३ ई०) की मार्ग शीर्ष शु० ७ सोमवार को कन्नौज मे हुआ था। ये कान्य कुब्ज ब्राह्मण थे। बचपन से ही काव्य और संगीत से प्रेम था। संवत् १५७७ (सन् १५२० ई०) मे ये वल्लभाचार्य जी के शिष्य हुए। ये अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि और कीर्तनकार थे। संवत् १६४१ (सन् १५८४ ई०) मे इनका देहावसान हो गया। **परमानन्ददास ने विशेषतः कृष्ण कथा विषयक फुटकल पदों की रचना की है।** सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के कवियों में वात्सल्य के ये दूसरे प्रसिद्ध कवि हैं। परमानन्ददास ने शृंगार के पदों की भी रचना की है जिनमें इनकी भक्ति भावना और कवि निपुणता का परिचय मिलता है। परमानन्ददास द्वारा रचित निम्नांकित ग्रन्थ कहे जाते हैं—

(१) परमानन्द सागर, (२) परमानन्ददास जी को पद, (३) दान लीला, (४) उद्धवलीला, (५) ध्रुव चरित्र, (६) संस्कृत रत्नमाला। इन ग्रन्थों में केवल परमानन्द सागर ही उनकी स्वतन्त्र एवं प्रामाणिक रचना है। बाल लीला का निम्न पद दर्शनीय है—

रहि री ग्वालिनि ! जोवन मद माती।
मेरे छगन मगन मे लालहि कत लै उछँग लगावत छाती।
खीझत तैं अबही राखे हैं नान्ही नान्ही उठत दूध की दाँती।
खेलन दै घर जाहु आपने, डोलत कहा इतौ इत राती।
उठि चली ग्वालि लाल लागे रोवन तब जसुमति लाई बहु भाँती।
परमानन्द ओट दै अंचल फिरि आई नैन मुसिक्याती।

प्रेमासक्ति का एक पद यों है—

सहज प्रीति गोपालहिं भावै।
मुख देखें मुख होत सखी री प्रीतम नैन सुनैन मिलावै।
सहज प्रीति कमलनि अरु भानुहिं, सहज प्रीति कुमुदनि अरु चन्दै।
सहज प्रीति कोकिला बसन्तहिं, सहज प्रीति राधा नंद नन्दै।
सहज प्रीति चातक अरु स्वातै, सहज प्रीति धरनी जल धारै।
मन क्रम वचन दास परमानंद सहज प्रीति कृष्ण अवतारै।

कृष्णदास

कृष्णदास का जन्म संवत् १५५३ (सन् १४९६ ई०) में गुजरात के 'चिलोतरा' नामक ग्राम में हुआ था। कृष्णदास संवत् १५६७ (सन् १५१० ई०) में वल्लभाचार्य जी के शिष्य हुए। कृष्णदास भक्त के अतिरिक्त एक कुशल प्रबन्धक भी थे। इसलिए ये श्रीनाथ जी के मन्दिर के 'अधिकारी' बने। ये आजीवन अविवाहित थे। कृष्णदास ने श्रीनाथ जी के मन्दिर से बंगाली पुजारियों को हटाकर अत्यन्त चतुरता से उस पर अधिकार किया। कृष्णदास के जीवन और मन्दिर सम्बन्धी कार्यकलापों के विवरण से लगता है कि उनमें भक्त की भावुकता और उदारता कम, प्रशासक की दृढ़ता और कुशलता अधिक थी। कृष्णदास के प्रयास से ही विट्ठलनाथ जी संवत् १६०५ (सन् १५४८ ई०) को पौष शुक्ल ५ से संवत् १६०६ (सन् १५४९ ई०) आषाढ़ शुक्ल ५ तक श्रीनाथ जी मन्दिर में प्रवेश न कर पाये और दर्शन से वंचित रहे। अन्त में कृष्णदास का हृदय परिवर्तन हुआ और वे विट्ठलनाथ जी के सामने नतमस्तक हुए। संवत् १६३६ (सन् १५७९ ई०) के करीब एक कुएं में गिर जाने से इनकी मृत्यु हुई। कृष्णदास को गुजराती भाषा की प्रारम्भिक शिक्षा अपनी जन्मभूमि मे प्राप्त हुई होगी, किन्तु व्रजभाषा काव्य और संगीत का ज्ञान इन्हें व्रज प्रदेश में ही हुआ। प्राय. कृष्णदास सूरदास की प्रतियोगिता में पद रचना करते थे। अतः सूरदास के पदों के भाव और शैली का इन पर पर्याप्त प्रभाव है। राम लीला में इनकी विशेष आसक्ति थी अतः इनके अधिक पद शृंगार परक हैं।

तेरे चपल नैन जो खजनतैं नीके।
ताप हरन अति विदित विस्व महिं देखत संब दल लागत फीके।
स्याम स्वेत राते अनियारे गिरधर कुंजर रसद मुख जी के।
कृष्णदास सुरति कौतुक वस प्यारी दुलरावति आपने पिय को।

रास-सम्बन्धी एक पद द्रष्टव्य है—

नाचत रास मे गोपाल संग, मुदित गोकुल की नारी।
तरुन तमाल स्याम लाल कनक वेलि प्यारी।

चलि निर्तंब नूपुर कटि लोल बंक ग्रीवा।
रास तान मान सहित वेनु गान सींवा।
स्रमजल कन कन भरत सुभग रंग रेनु सोहैं।
कृष्णदास प्रभु गिरिवरधर, ब्रजजन मन मोहैं।

गोविन्द स्वामी

गोविन्द स्वामी का जन्म संवत् १५६२ (सन् १५०५ ई०) में वर्तमान भरतपुर के 'आन्तरी' ग्राम मे हुआ था। वे सनाढ्य ब्राह्मण थे। कुछ समय तक गृहस्थ जीवन बिताने के पश्चात् सांसारिक प्रपंचो से विरक्त होकर वे भगवत भजन करने लगे। काव्य और संगीत के शास्त्र का इन्होंने सम्यक् अध्ययन किया था। ये संगीत के आचार्य और उच्चकोटि के गायक थे। संवत् १५६२ (सन् १५३५ ई०) मे गोविन्द स्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य हुए। इनके संगीत ज्ञान और गायन कला पर तानसेन भी मुग्ध थे। कहा जाता है कि विट्ठलनाथ जी के देहावसान का समाचार सुनकर गोविन्द स्वामी ने संभवतः १६४२ (सन् १५८५ ई०) में ही शरीर त्याग किया। गोविन्द स्वामी जितने अच्छे गायक थे उतने अच्छे कवि नहीं थे। राधाकृष्ण के शृंगार लीला विषयक पदों की रचना इन्होंने की है। इनके कुछ बाल-लीला के पद भी उपलब्ध हैं।

शृंगार-लीला विषयक एक पद देखिए—

पिय जू करत मनु हारी समुझि देखि री पिय प्यारी।
कुंज के द्वार कब के बैठे सोहन, ललना, निठुर वृषभानु दुलारी॥
अलक सँवारन के मिसि भामिनि, फिरत पिया तन नैन निवारी।
गोविन्द प्रभु रूप देखि पिया को मुख भयो तन दृष्टि सों भरत अंकवारी॥

बाल लीला का भी एक पद द्रष्टव्य है—

झूलो पाल्ने बलि जाऊँ।
स्याम सुन्दर कमल लोचन देखत अति सुख पाऊँ॥
अति उदार विलोकि आनन पियत नाहिं अघाऊँ।
चुटकी दै दै नचाऊँ, हरि को मुख चूम उर लाऊँ॥
रुचिर बाल विनोद तिहारे निकट बैठिकैं गाऊँ।
विविध भाँति खिलौना लै लै गोविन्द प्रभु को खिलाऊँ॥

छीत स्वामी

इनका जन्म संवत् १५७२ (सन् १५१५ ई०) के लगभग मथुरा मे हुआ था। अपने आरम्भिक जीवन में बड़े दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति थे। प्रारम्भ में ये शैव थे। विट्ठल-

नाथ जी के प्रभाव से इनका हृदय परिवर्तन हुआ और ये संवत् १५६२ (सन् १५३५ ई०) में पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद वे गोवर्द्धन के पास ही रहने लगे। वे अष्टछाप के एक अच्छे कवि थे। इनका देहावसान संवत् १६४२ (सन् १५८५ ई०) के करीब हुआ। इन्होंने किसी सुव्यवस्थित काव्य-ग्रन्थ की रचना नहीं की, किन्तु इनके कुछ फुटकल पद मिलते हैं।

कृष्ण-आसक्ति विषयक इनका एक पद यों है—

मेरी अँखियन के भूषन गिरधारी।
बलि बलि जाऊँ छबीली छबि पर, अति आनन्द सुखकारी।
परम उदार चतुर चिंतामनि, दरस परस दुख हारी।
अतुल सुभाव तनक तुलसी दल मानत सेवा भारी।
'छीत स्वामी' गिरिधरन विसद, जस गावत है कुल नारी।
कहा बरन गुन-गाथ नाथ के श्री विट्ठल हृदय बिहारी।

चतुर्भुजदास

इनका जन्म संवत् १५८७ (सन् १५३० ई०) के लगभग गोवर्द्धन के पास 'जमुनावती' ग्राम में हुआ था। वे अष्टछाप के कवि कुंभनदास के सबसे छोटे पुत्र थे। बचपन में ही श्रीकृष्ण भक्ति में इनका मन रमा था। संवत् १६९७ (सन् १६४० ई०) में विट्ठलनाथ जी से दीक्षित होकर वे सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुए। बचपन में ही इन्हें काव्य और संगीत की शिक्षा मिली थी और बचपन से ही काव्य रचना में इनकी प्रवृत्ति और गति थी। सम्प्रदाय में इनका सम्यक् सम्मान था। सम्भवतः संवत् १६४२ (सन् १५८५ ई०) में इनका देहावसान हुआ। चतुर्भुजदास ने कीर्तन के स्फुट पदों की रचना की थी। अपने पदों में उन्होंने श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर गोपी-विरह तक की ब्रजलीला का गायन किया है।

प्रानपति विहरति जमुना कूले।
लुब्ध मकरंद के बस भयो भँवर ज्यों, देखि रवि उदय मानो कमल फूले।
करत गुंजार लै मुरली जु साँवरो, सुनत ब्रजवधू तन-सुधि जु भूले।
चतुर्भुजदास प्रभु जमुने प्रेम सिंधु में लाल गिरिधरन रासि कूले।

नन्ददास

नन्ददास का अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद महत्वपूर्ण स्थान है। इनका जन्म संवत् १६५० (सन् १८९३ ई०) के लगभग 'सूकर क्षेत्र' के पास 'रामपुर' ग्राम में हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम जीवाराम था। कहा जाता है कि वे रामभक्त गोस्वामी तुलसीदास जी के छोटे भाई थे और दोनों

भाइयों ने एक साथ नरसिंह पंडित में शिक्षा प्राप्त की थी। जीवन के प्रारम्भिक काल में यद्यपि ये भक्ति शास्त्र से परिचित थे, पर भक्ति भावना से भावित नहीं थे। ये प्रारम्भ में अत्यन्त रागी व्यक्ति थे, किन्तु बाद में इन्होंने अपने सम्पूर्ण राग़ को कृष्णार्पण कर दिया और कृष्णभक्त बन गए। संवत् १६०७ (सन् १५५० ई०) में वे विट्ठलनाथ जी के शिष्य हो गये और पुष्टि सम्प्रदाय में सम्मिलित हुए। काव्य निपुणता के कारण शीघ्र ही सम्प्रदाय में इन्हें सम्मान प्राप्त हुआ। पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् भी एक बार ये गृहस्थ जीवन बिताने के लिए गाँव पर रहने लगे। सम्भवतः पहली बार नन्ददास जी की वासनाएँ दमित थीं। उनका क्षय नहीं हुआ था। कुछ दिनों के गृहस्थ-जीवन के बाद वे पुनः गोवर्द्धन चले आये और श्रीनाथ जी की सेवा में लग गए। संवत् १६४० (सन् १५८३ ई०) के लगभग इनका देहान्त हुआ। नन्ददास ने फुटकल पदों एवं अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उनके ग्रन्थ हैं—(१) अनेकार्थ मंजरी (अनेकार्थ नाम माला अनेकार्थ भाषा) (२) मान मंजरी (नाम मंजरी, नाम माला, नाम चिंतामणि माला) (३) रस मंजरी (४) रूप मंजरी, (५) विरह मंजरी, (६) प्रेम बारह खड़ी (७) स्याम सगाई, (८) सुदामा चरित्र, (९) रुक्मिणी मंगल (१०) भँवर गीत, (११) रास पंचाध्यायी, (१२) सिद्धान्त पंचाध्यायी, (१३) दसम स्कंध भाषा (१४) गोवर्द्धन लीला, (१५) पद्मावली।

नन्ददास के साहित्य से ज्ञात होता है कि इन्हें काव्य-शास्त्र और दर्शन का अच्छा ज्ञान प्राप्त था। अनेकार्थ भाषा और नाम माला जैसे कोषग्रन्थों की रचना से उनका भाषा विषयक ज्ञान प्रमाणित होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि अपने ग्रन्थों के साथ 'मंजरी' शब्द लगाना उन्हें विशेष प्रिय था। रूप मंजरी और रस मंजरी चौपाई छन्द में लिखी गई रचनाएँ हैं। रस मंजरी में नायिका भेद का भागोपांग वर्णन है। 'रूपमंजरी' और 'रसमंजरी' ये दो पुस्तकें रीतिकाल की भूमिका प्रस्तुत करती हैं। 'प्रेम बारह खड़ी' या 'प्रेम बारहखड़ी' नन्ददास रचित दोहा छन्द में एक छोटी सी पुस्तक है जिसमें गोपियों के विरह-दशा का वर्णन है। 'स्याम सगाई' में राधाकृष्ण के विवाह की चर्चा है। 'सुदामा चरित्र' और 'रुक्मिणी मंगल' भागवत पर आधृत छोटी-छोटी रचनाएँ हैं। नन्ददास की सम्पूर्ण रचनाओं में 'भँवर गीत' और 'रास पंचाध्यायी' विशेष महत्त्वपूर्ण है। भाषा की कोमलता, शब्दों की सजावट और भावों की सरसता के साथ-साथ साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की पुष्टि इन रचनाओं में सफलता से हुई है। भ्रमरगीत के जिस मार्मिक विषय को महाकवि सूरदास ने मुक्तक के रूप में अत्यन्त विस्तार के साथ गाया था, नन्ददास ने उसे प्रबन्ध काव्य के छोटे किन्तु सुगठित वस्तु विन्यास में ढाल दिया है। एक रोला तथा एक दोहे के

पश्चात् दस मात्राओं की एक टेक के क्रम से इस रचना की संगीतात्मकता बढ़ गयी है—

> "मुनि मोहन संदेस रूप सुमिरन ह्वै आयो ।
> पुलकित आनन अलक अंग आवेस जनायो ।
> विह्वल ह्वै धरनी-परी-व्रजवनिता मुरझाई ।
> दै जल छींट प्रबोधहि ऊधो बात बनाई ।
> सुनो व्रजनागरी ।"

गोपियों के इस सघन प्रेम-भाव को उनका मोह समझ कर उद्धव ज्ञानोपदेश देने लगते हैं और गोपियाँ तर्कों से उनका खण्डन करती हैं। उद्धव और गोपियों के इस भँवरगीत के संवाद के माध्यम से **ज्ञान और भक्ति** का जो विवाद उपस्थित है उसमें दोनों पक्षों से *शास्त्रोयता का आग्रह* और तर्क का सहारा लिया गया है। संस्कृत की सुललित पद योजना के सहारे माधुर्य गुण की पराकाष्ठा का निदर्शन है। नन्ददास की *'रास पंचाध्यायी'* जिसे हिन्दी का *'गीत गोविन्द'* भी कहा जा सकता है, इनमें शृंगार के संयोग और वियोग का आकर्षक चित्रण हुआ है। *'दसम स्कंध भाषा'* भागवत के आरम्भिक २९ अध्यायों का अनुवाद है।

पदावली नन्ददास रचित फुटकल पदों का संग्रह है।

नन्ददास के काव्य कला की विशेषताएँ हैं—**भाषा की मधुरता और शब्दों की सजावट**। वे उपयुक्त शब्दों को कलात्मक ढंग से सजाने में सिद्ध हस्त थे, इसलिए **'और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया'** की उक्ति प्रचलित है। नन्ददास भाषा और साहित्य शास्त्र के पंडित थे। इनके साहित्य में माधुर्य और प्रसाद दो गुणों का उत्कर्ष हुआ है। भक्त माल में नाभादास जी ने नन्ददास के लिए ठीक ही लिखा है—

> "लीला—पद रस-रीति, ग्रन्थ रचना में नागर ।
> सरस उक्ति युत युक्ति, भक्तिरस गान उजागर ।"

मीराबाई

कृष्ण भक्ति काव्य-कानन की कोकिला मीराबाई का जीवन चरित पुष्ट प्रमाणों के अभाव में विद्वानों के अनुमान और तर्क के सहारे जो कुछ जैसा निर्मित है उसका सारांश यह है कि—मीराबाई का जन्म संवत् १५५५ के आसपास हुआ था और इनके पिता का नाम रत्नसिंह था। मीरा को बचपन से ही अपने गिरधर लाल से लगन लगी थी। मीरा ने स्वयं कई पदों में गिरधर लाल को 'बाल सनेही' कहा है। मीरा का विवाह मेवाड़ के प्रसिद्ध राणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र कुँवर भोजराज से संवत् १५७३ (सन् १५१६ ई०) में सम्पन्न हुआ, किन्तु दुर्भाग्यवश भोजराज का निधन संभवतः

१५७१ से (१५१८–१५२३ ई०) १५८० के बीच में ही हो गया। मीरा को युवावस्था में प्राप्त इस दुःखद वैधव्य के कारण जीवन से वैराग्य उत्पन्न हो गया। जीवन की अनेक दुःखद घटनाओं ने मीरा को संसार की ओर से हटाया और कृष्ण की ओर उन्मुख किया। मीरा माया के प्रपंच जनित लोक-लाज छोड़ कर एकान्त भाव से कृष्ण को समर्पित हो गई। मीरा को इस भक्ति-साधना के बीच अनेक प्रकार के कष्टों एवं पारिवारिक अत्याचारों को सहन करना पड़ा। पारिवारिक घटनाओं से ऊबकर मीराबाई मेवाड़ छोड़कर मेड़ता गईं और फिर मेड़ता से उन्होंने तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थान किया और कृष्ण की लीला भूमि वृन्दावन में पहुँचीं। वृन्दावन का दर्शन कर मीरा द्वारिका चली गईं और वहीं 'रणछोड़' जी के मन्दिर में आत्मरचित पदों में कृष्ण-लीला और आत्म-विरह वेदना का निवेदन करने लगीं। कहा जाता है कि लगभग संवत् १६०३ (सन् १६४६ ई०) में मीराबाई भगवान की मूर्ति में समा गईं।

मीराबाई के रचित जिन ग्रन्थों 'नरसी जी रो माहरो' 'गीत गोविन्द की हिन्दी टीका' 'राग गोविन्द,' 'सोरठ के पद,' 'मीरा बाई का मलार,' 'गर्वा गीत' और फुटकल पदों की चर्चा होती है उनमें मीरा बाई रचित कृष्णलीला विषयक आत्म विरहानुभूति जनित गीत ही सर्वाधिक लोकप्रिय, प्रामाणिक और प्रतिनिधि हैं। मीराबाई के इस प्रकार के करीब २०० पद प्राप्त हैं। **मीराबाई के पदों का मुख्य विषय उनकी आभ्यान्तरिक सघन विरहानुभूति का प्रकाशन ही है।** इन गीतों में उनके आराध्य मनमोहन के प्रति उनकी उत्कट प्रेमभावना विविध रूपों में अभिव्यक्त हुई है। **श्रीकृष्ण का रूप वर्णन और गिरिधर लाल के प्रति मीरा का आत्म समर्पण** मीराबाई की पदावली के मूल विषय हैं। मीराबाई के पदों में जीवन का विषाद और भगवत रति का प्रकाशन है। मीरा ने श्रीकृष्ण को अपना आराध्य और पति माना है। मीरा के कुछ पदों में इनके इष्ट देव का निर्गुण रूप भी व्यक्त हुआ है। इसलिए कुछ आलोचक उन्हें सन्तमत में दीक्षित मानते हैं। **मीरा के रहस्यवादी गीतों में भी भावों की सच्चाई, स्पष्टता और भाषा का अनूठा प्रवाह है।** इनके कुछ पदों में गोपीभाव की भी झलक मिलती है। अपने अनेक पदों में मीरा ने कृष्ण को अपना 'पिव,' **'सैंयाँ'**, 'भरतार' कहकर सम्बोधित किया है। इस प्रेम-दिवानी मीरा के पदों में भावों की जो सच्चाई और गहराई है उसका अनेक अन्य रहस्यवादी और भक्त कवियों में अभाव है।

मीरा के काव्य में भाव की सघनता, तरलता किन्तु **हल्का** का जो उत्कृष्ट रूप मिलता है वह श्लाघ्य है। इनके पदों में अपने मनमोहन के प्रति पूर्वराग और विरह गर्भित प्रेम की सच्ची कहानी गायी गई है। यहाँ भावों का ऐसा दबाव और प्रबल प्रवाह है कि भाषा सार्थक होकर भी असमर्थ हो गई है। **मीरा के काव्य में भाव पक्ष**

ही प्रबल है, उसमें कला-कुशलता उतनी नहीं है। मीरा के पदों में भावों की जो सच्चाई और प्राकृत सौन्दर्य है उसे अलंकरण की, साज सँवारे की आवश्यकता नहीं, उनकी तो सादगी में ही अद्भुत शक्ति है, अनोखा जादू है। फिर भी उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, अनुप्रास आदि अलंकार अनायास ही आकर पदों के माधुर्य को और अधिक मधुर बनाते हैं।

मीरा के पद काव्य की दृष्टि से जितने महत्त्वपूर्ण हैं संगीत की दृष्टि से उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मीरा ने अपने पदों में सूरदास की ही भाँति विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है किन्तु गायन की राग रागिनी पद्धति के बीच में उनके रूप में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया है। मीरा के जीवन की भाँति उनका काव्य भी संगीतमय है, जो उनकी आत्मा का संगीत है। मीरा ने सूरदास और तानसेन की भाँति नये रागों का भी निर्माण किया है। यही कारण है कि 'मीरा की मलार' प्रसिद्ध है। मीरा का सम्पूर्ण जीवन और काव्य वेदना का एक प्रगीत है। निश्चय ही मीरा—

'गीति वेदना सौख्य मग्न थी, थी प्रेम पुजारिन।
प्रेम सौख्य वेदना विकल थी, थी गीत पुजारिन'।

निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि

यद्यपि 'निम्बार्काचार्य' का समय अनिश्चित है किन्तु निश्चय ही ये **उत्तर भारत में राधाकृष्ण की भक्ति के प्रथम आचार्य** थे। १६वीं सदी के प्रसिद्ध भक्त **श्री भट्ट** को इस सम्प्रदाय का सबसे पहला हिन्दी कवि माना जा सकता है जिनकी रचना 'युगल शतक' है। इस 'युगल शतक' में क्रम यह है कि पहले एक दोहा रखा गया है और फिर उस दोहे के भाव को पद में विस्तृत किया गया है। 'युगल शतक' को इस सम्प्रदाय में **'आदि वाणी'** भी कहा जाता है। इसमें राधाकृष्ण की संयोग लीला की चर्चा है। श्री भट्ट के शिष्य हरि व्यासदेव ने 'युगल शतक' की टीका के रूप में 'महावानी' की रचना की है। कुछ लोगों के अनुसार यह युगल शतक से स्वतन्त्र और कई अर्थों में भिन्न रचना है। महावानी में 'युगल शतक' की एक दोहा और उसके बाद पद की प्रणाली अपनायी गई है। इस सम्प्रदाय के तीसरे हिन्दी कवि परशुराम देव हैं जिन्होंने 'परशुराम सागर' नामक बृहद् ग्रन्थ लिखा जो अप्रकाशित है। 'परशुराम सागर' में राधाकृष्ण की शोभा शृंगार, स्तुति के अतिरिक्त प्रेम वैराग्य सत्संग आदि विषयों की चर्चा है। इस सम्प्रदाय के एक कवि रूप रसिक जी भी हैं जिनकी तीन रचनाएँ हैं—'वृहदोत्सव मणिमाला', 'हरिव्यास सिद्धान्त' और 'नित्य विहार पदावली'। उनके पदों में माधुर्य विशेष है। तत्ववेत्ता जी इस सम्प्रदाय के एक अन्य कवि हैं जिन्होंने अधिकांश छप्पय लिखे हैं। परशुराम देव की शिष्य परम्परा में तीसरी पीढ़ी

पर वृन्दावन देव हुए जिनके पदों का संग्रह कृष्णामृत गंगा कहा जाता है। वृन्दावन देव की शिष्य परम्परा में अनेक कवि हुए जिनमें गोविन्द देव, बांकावती आदि प्रमुख है।

निम्बार्क सम्प्रदाय की दूसरी शाखा **'हरिदासी शाखा'** है। जिसमे प्रसिद्ध संगीतज्ञ स्वामी हरिदास जी से प्रत्येक संगीत प्रेमी परिचित है। आगे चलकर यही 'हरिदासी सम्प्रदाय' ललितकिशोर जी देव के समय से **'टट्टी सम्प्रदाय'** भी कहा जाने लगा। **राधाकृष्ण भक्ति की तन्मयता की चरमावस्था हरिदासी सम्प्रदाय में मिलती है।** 'केलिमाला' और 'सिद्धान्त के पद' हरिदास स्वामी के दो काव्य ग्रन्थ है। हरिदास जी की रचना मे संगीत की मंथरता, चरणों की दीर्घता और मंदता तथा मादक शब्दो की अल्पाक्षरी योजना है। हरिदासी सम्प्रदाय में अनेक अच्छे कवि हुए हैं।

रसखान

इनका आरम्भिक नाम सैय्यद इब्राहिम था। जन्म लगभग सवत् १५९० (सन् १५३३ ई०) मे हुआ। यह दिल्ली के निवासी थे और पठान बादशाही वंश के थे। राजनैतिक प्रपंचों को चपेट में आकर दिल्ली के कलह और दुर्भिक्ष के कारण संवत् १६१२ (सन् १५५५ ई०) के लगभग वृन्दावन आकर बस गये। कहा जाता है कि रसखान एक स्त्री पर आसक्त थे, (बनिये के लड़के का भी उल्लेख है) स्त्री बहुत मानवती थी और इनका अनादर किया करती थी। एक दिन यह श्रीमद्भागवत का फारसी अनुवाद पढ रहे थे। उसमे गोपियों के अनन्य और अलौकिक प्रेम को पढ इन्हे ध्यान हुआ कि उसी से क्यों न मन लगाया जाय जिस पर इतनी गोपियाँ मरती थी। इसी बात पर वृन्दावन चले आये। सन् १५७० ई० के बाद संभवत: ये वैष्णव हुए। सन् १६१४ ई० मे प्रेमवाटिका की रचना की। लगभग सन् १६१८ ई० के आसपास रसखान की मृत्यु हो गयी।

रसखान की रचनाओं के विषय मे विद्वानो मे एकमत नहीं है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार इनके ग्रन्थ है—(१) रसखानि शतक, (२) सुजान रसखान, (३) प्रेमवाटिका और (४) पदावली। प्रेमवाटिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है। **प्रेमवाटिका में भक्तियोग के रहस्यपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन तथा गोपी भाव की प्रेमासक्ति की उत्कृष्टता का प्रदर्शन सरल दोहों में करना रसखान की विलक्षण प्रतिभा का द्योतक है।**

रसखान की कविता का मुख्य विषय कृष्ण विषयक रति से है। प्रेमवाटिका में रसखान ने प्रेम का सैद्धान्तिक स्वरूप अंकित किया है और अपने सवैयों में उनका क्रियात्मक रूप उपस्थित किया है। रसखान ने प्रेम को त्यागमय और कामनारहित

माना है जिसमें प्रेम के आश्रय और आलंबन का तादात्म्य हो जाता है। रसखान ने प्रेमी-प्रेमिका का मानसिक ही नहीं शरीर के एकत्व का भी समर्थन किया है—

> अकथ कहानी प्रेम की, जानत लैली खूब।
> दो तनहूँ जहँ एक भय, मन मिलाय महबूब॥

रसखान के सवैये इतने श्रुतिमधुर और भावभरे हैं कि पाठक काव्य-रस में सर्वांग डूबने लगता है। रसखान के सवैयों की सार्थक शब्द योजना, वर्ण मैत्री और चित्र योजना के संयोग से महज ही ग्राह्य बिंब निर्मित हो गये—

> इत दूने खिचैं रहैं कानन लौं, लट आनन पर लहराइ रही।
> छकि छैल छबीली छटा छहराइ कै, कौतुक कोटि दिखाइ रही।
> झुकि झूमि झमाकनि चूमि अमी, चहि चाँदनी चंद चुराइ रही।
> मन भाई रही रसखानि छवि, मोहन की तरसाइ रही॥

सम्पूर्ण रागों का कृष्णार्पण कर एकांत भाव से कृष्ण की भक्ति में लीन होने के पश्चात् रसखान का अपने आराध्य कृष्ण की लीला भूमि के कण-कण से अनन्य प्रेम स्थापित हो गया। वे अपने मानव शरीर की सार्थकता गोकुल और वृन्दावन के दर्शन में ही मानने लगे। रसखान व्रजप्रदेश के तृण, तरु, लता, पशु, पक्षी और पत्थर तक से अपना सम्बन्ध जोड़कर सारे संसार की संपत्ति व्रज की धूलि के समक्ष मूल्यहीन मानने लगे—

> "मानुष हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
> जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन।
> पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यौ कर छत्र पुरंदर धारन।
> जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दि कूल कदंब की डारन॥

रसखान की भाषा शुद्ध व्रजभाषा है। फ़ारसी के विद्वान् होने के कारण रसखान के सवैयों में फ़ारसी-अरबी के शब्द भी मिल जाते हैं, पर वे छन्द के बीच में अजनबी नहीं लगते। निश्चय ही रसखान रस-सिद्ध और भाषा सिद्ध कवि थे।

अन्य कृष्णभक्त कवि

गदाधर भट्ट, सूरदासमदनमोहन तथा श्रुवदास की भी रचनाएँ कृष्णभक्ति काव्य के अन्तर्गत आती हैं। गदाधर भट्ट दक्षिणी ब्राह्मण थे और इनके जन्म आदि के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इतना प्रसिद्ध है कि ये श्री चैतन्य महाप्रभु को 'भागवत' सुनाया करते थे। इनका नाम महाप्रभु चैतन्य द्वारा प्रवर्तित गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के कवियों के अन्तर्गत आता है। सूरदास मदनमोहन भी गौड़ीय सम्प्रदाय

के वैष्णव थे। ये अकबर के समय में संडीले के अमीन थे। सरकारी खजाने के कई लाख रुपए को इन्होंने साधुओं पर खर्च कर दिया था, पर बादशाह ने इन्हें क्षमा कर दिया था। इनकी फुटकर रचनाएँ मिलती है। इनका रचनाकाल सन् १५३३ ई० और सन् १५४३ ई० के बीच है। ध्रुवदास जी हितहरिवंश के शिष्य थे। वृन्दावन मे रहते थे। इनके छोटे-बड़े कुल चालीस ग्रन्थ मिलते हैं। इन्होंने पद, दोहा-चौपाई तथा कवित्त-सवैये मे भक्ति-परक रचनाएँ की है।

रामभक्ति साहित्य

देश के सम्मुख जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, अस्थिरता का जो वातावरण सर्वत्र हो गया था, उसके बीच मे स्थायित्व का कोई न कोई मार्ग निकालने के लिए लोक मत का आग्रह बराबर बढता जा रहा था। निर्गुण भक्ति के प्रवाह मे हिन्दू जनता कुछ काल के लिए अपने वर्णाश्रम-धर्म के संस्कारो को भूलने अवश्य लगी थी, पर उसने शीघ्र ही अनुभव किया कि निश्चित रूप से उसे एक ऐसे आदर्श के आश्रय की आवश्यकता है जो उसे उपेक्षामय एवं निराशा पूर्ण वातावरण से निकाल कर लोक मंगलकारी भावों के प्रति आस्थावान बना सके। निर्गुण कवियो की अटपटी बानी चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति तो रखती थी, पर वह जनता के सामने कोई ऐसा निश्चित आदर्श नही उपस्थित कर पाती थी जिसके पीछे वह आँखें मूँद कर चल पडे। बुद्धि ग्राह्य इस धार्मिक भावना को ग्रहण करना भी साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं था और इसका प्रचार भी ऐसे वर्ग मे अधिकतर हुआ जो बौद्धिक दृष्टि से अत्यन्त अविकसित था। इतने पर भी जो व्यापकता इसे प्राप्त हुई थी, उसका मूल कारण यह था कि इसमे जाति-पाँति एवं छुआछूत आदि जैसे सामाजिक रोगों की उपेक्षा की गई थी, जिससे उपेक्षित और पीड़ित जनता को इससे क्षणिक राहत मिली। पर आकाश की ओर सिर उठाकर वह कब तक देखती उसे तो ऐसे आदर्श की अब भी आवश्यकता थी जो उसके आसन्न संकट मय जीवन मे प्रकाश की किरण दिखा सके। भारतीय जनजीवन आरम्भ से ही सामूहिक सामाजिक हितो में विश्वास करता चला आया है और निर्गुण भक्ति धारा के सन्त व्यक्तिगत मोक्ष की बात करते थे। उनमें लोक मंगल की भावना का अभाव था। ऐसी स्थिति मे स्वामी 'रामानन्द' जी द्वारा प्रवर्तित सगुण भक्ति धारा अत्यन्त अनुकूल पड़ रही थी।

युगानुरूप इसमें स्वामी रामानन्द जी ने पर्याप्त परिवर्तन किए थे जिससे उन्होंने भक्ति का द्वार ऊँच-नीच, छोटे और बड़े सभी के लिए खोल दिया था। इसके अनुसार ईश्वर की कल्पना आदर्श मानव के रूप में की गई और राम को ईश्वर का अवतार मानकर एक ऐसे सामाजिक आदर्श की स्थापना की गई कि जिससे हिन्दू

जनता को, जो कि डूब रही थी, एक सहारा मिला। यह वह समय था जबकि हिन्दी कविता का प्रवाह राज-दरबारों से हटकर भक्ति और प्रेम पंथ की ओर चल पड़ा था। देश में मुसलमान राज्यों के पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाने के कारण वीरोत्साह, पुरुषार्थ और बल-विक्रम की ओर से हिन्दू जनता अपना ध्यान हटाकर अत्यन्त दीन हो, निराशा के वातावरण में भक्ति की ओर उन्मुख हो चुकी थी। युग की आवश्यकताओं के अनुसार एवं लोक संग्रह की दृष्टि से निर्गुणब्रह्म निरर्थक सिद्ध हो रहा था। देश को निराकार नहीं एक ऐसे साकार ईश्वर की आवश्यकता थी जो दीन-दुखियों की पुकार सुन सके और तत्काल उस पुकार को सुनकर उनकी रक्षा के लिए प्रस्तुत हो सके तथा समाज में फैल रहे अधर्म का नाश करके धर्म की प्रतिष्ठा कर सके। एक ऐसे अविचल आदर्श की प्रतिष्ठा की आवश्यकता थी जो कठिन से कठिन संकट में विचलित न होते हुए संघर्ष की ओर उन्मुख होता हुआ अन्ततः लक्ष्य की प्राप्ति तक पहुँचता हो अथवा पहुँचाता हो। इनके अनुसार लोक रक्षक वर्णाश्रम-धर्म पालक धनुर्धर राम का आदर्श ही जन-मानस का नेतृत्व कर सकता था। सगुण भक्ति धारा के राम निर्गुण भक्ति धारा के राम से बिलकुल भिन्न थे। यद्यपि प्रसिद्ध सन्त 'कबीर' ने भी यह राम नाम स्वामी रामानन्द से ही लिया था जो रामभक्ति साहित्य के विकास-मूल में हैं। सगुण-भक्ति धारा के राम जन-कल्याण की कामना से अवतार लेते हैं, वे दशरथ सुत हैं और मानवोचित सभी सामाजिक धर्मों का पालन करते हुए एक ऐसे आदर्श की स्थापना करते हैं जो दीन दुखीजनों का सहायक है, दुष्टों के लिए घातक और धर्मानुयायियों के लिए रक्षक है तथा लोक मंगल की दृष्टि में रख कर अपने वैयक्तिक सुखों की बलि देने को सदा प्रस्तुत है। इस प्रकार राम को विष्णु का अवतार माना गया।

स्वामी रामानन्द और उनकी शिष्य परम्परा की थोड़ी चर्चा निर्गुण धारा के प्रसंग में हो चुकी है जिसमें उनके उदार दृष्टिकोण पर प्रकाश डाला गया है। स्वामी 'शंकराचार्य' के अद्वैतवाद में यद्यपि व्यावहारिक सगुण सत्ता को भी स्वीकार किया गया था, पर जनता को भक्ति के जिस दृढ़ आधार की आवश्यकता थी उसका प्रसार रामानुजाचार्य जी (सन् १०१६ ई०) द्वारा हुआ। उन्होंने विशिष्टाद्वैत के अनुसार यह प्रमाणित करना चाहा कि जगत के सारे प्राणी ब्रह्म के ही अंश हैं जो उसी से उत्पन्न होते हैं और पुनः उसी में लीन हो जाते हैं। रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा बराबर देश में फैलती गई और आगे चल कर इस सम्प्रदाय में अच्छे-अच्छे साधु महात्मा हुए। इसी सम्प्रदाय के वैष्णव आचार्य श्री राघवानन्द जी काशी में रहते थे, विक्रम की १४वीं शताब्दी के अन्त में उन्होंने अनुभव किया कि बढ़ती हुई आयु को देखते हुए इस सम्प्रदाय के भार को किसी योग्य पुरुष के कंधों पर डालना

चाहिए। संयोग से उन्हें ऐसे महात्मा 'रामानन्द' मिल गए जिन्हें उन्होने दीक्षा दी। स्वामी रामानन्द जी ने देश का भ्रमण कर अपने सम्प्रदाय का प्रचार किया।

स्वामी रामानन्द

स्वामी जी के समय के सम्बन्ध मे कहीं कुछ लिखित प्रमाण नहीं मिलता जिसमे कुछ समसामयिक बातो के आधार पर ही कुछ जानकारी की जा सकती है। दिल्ली के बादशाह सिकन्दर लोदी के समय मे स्थित किसी मानिकपुर के 'शेख तकी' पीर मे उनका वाद-विवाद हुआ था, ऐसा वैरागियो की परम्परा से प्राप्त होता है। 'कबीर' के शिष्य 'धर्मदास' ने लिखा है कि अपने गुरु शेख तकी पीर के कहने से ही सिकन्दर लोदी ने कबीर साहब को जंजीर मे बांध कर गंगा में डुबवाया था। इससे स्पष्ट होता है कि स्वामी रामानन्द जी सिकन्दर लोदी के समय वर्तमान थे, जो सन् १४८६ ई० से सन् १५१७ ई० सं० १५७४ तक दिल्ली की गद्दी पर रहा। ऐसे ही तथ्यों के आधार पर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने विक्रम की १५वीं शती के चतुर्थ और १६वी शती के तृतीय चरण के भीतर रामानन्द जी के रहने का अनुमान लगाया। स्वामी रामानन्द ने उपासना पद्धति को महत्व प्रदान करते हुए जगत में लीला विस्तार करने वाले विष्णु के अवतार राम का आश्रय लिया। राम इनके इष्टदेव हुए और राम नाम इनका मूल मंत्र। इन्होंने विष्णु के अन्य रूपों मे से 'राम-रूप' को ही लोक मंगलकारी समझ कर स्वीकार किया और उसके आधार पर एक शक्तिशाली सम्प्रदाय का संगठन किया। रामानुज सम्प्रदाय की भांति उच्चवर्णों को ही दीक्षा लेने का अधिकारी न मानकर रामभक्ति का द्वार सभी जातियों के लिए खोल दिया। पर यह न समझना चाहिए कि रामानन्द जी वर्णाश्रम के विरोधी थे, केवल उपासना क्षेत्र में ही सबके अधिकार को समान माना है जिनमें वे किसी प्रकार का लौकिक बन्धन नहीं मानते थे। वे राम नाम की महिमा सबको सुनाते। स्वामी रामानन्द जी समय-समय पर स्तुति के निमित्त स्वरचित हिन्दी पद गाया करते थे जिनमे दो-तीन पदो का पता अब तक लग पाया है। इनके अतिरिक्त इनका कोई प्रामाणिक जीवन-वृत्त नहीं मिल पाता। कुछ लोग इन्हें अद्वैतियों के ज्योतिर्मठ का ब्रह्मचारी भी मानते हैं। इस प्रकार स्वामी रामानन्द जी और उनके शिष्यों द्वारा रामभक्ति आन्दोलन का प्रचार और प्रसार हुआ जिसको आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास जी ने बड़ी ही दृढ़ भित्ति प्रदान की।

गोस्वामी तुलसीदास

स्वामी रामानन्द और उनकी शिष्य परम्परा द्वारा देश मे रामभक्ति का प्रचार-प्रसार निरन्तर होता चला आ रहा था। स्वामी रामानन्द के शिष्यों ने गुरु द्वारा प्राप्त 'राम नाम' का प्रचार अपने-अपने संस्कारो द्वारा किया। 'राम' शब्द निर्गुण

और सगुण दोनों ही मार्ग के अनुयायियों में समान रूप से लोकप्रिय हुआ। निर्गुण-मार्ग शिष्य परम्परा में आने वाले 'कबीर' और उनके अनुयायियों द्वारा 'राम' नाम की महत्ता का भरपूर प्रचार हो चुका था, पर स्वामी रामानन्द जी का तात्पर्य जिन राम नाम से था और उसके माध्यम से वे जिस भक्ति मार्ग का प्रवर्तन करना चाहते थे उसकी महती उपलब्धि तो सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तुलसीदास के माध्यम से ही हो सकी। इसका कदापि यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि तुलसीदास के पूर्व सगुण मार्गी भक्ति के प्रचार-प्रसार की दिशा में कोई कार्य हुआ ही नहीं था। निर्गुण भक्ति-धारा के समानान्तर सगुण भक्ति धारा का विकास स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा के माध्यम से हो रहा था, पर साहित्य के माध्यम से उनकी पूर्ण प्रतिष्ठा तो उसी समय हुई जबकि तुलसी कृत 'रामचरित मानस' सामने आया। इसके माध्यम से तुलसीदास ने *दशरथ के सुत राम को विष्णु का अवतार मान कर* केवल *सगुण मार्गी* भक्ति को पुष्ट ही नहीं किया बल्कि उन्होंने निर्गुण पंथियों का उत्तर भी दिया। कबीरदास के कथन "दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम को मरम है आना।" का ठीक-ठीक उत्तर तुलसीदास की उक्ति—

> 'जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
> सोइ दसरथ सुत भगतहित कोसल पति भगवान॥'

में मिल जाता है। अकेले तुलसीदास के 'रामचरित मानस' ने उत्तर भारत में अपनी लोकप्रियता के कारण सगुण मार्गी भक्ति का जितना प्रचार किया, उतना प्रचार इस सम्प्रदाय के सभी संत एवं कवि मिल कर नहीं कर सके। अपनी इस कृति में इन्होंने अपनी जिस प्रतिभा और पाण्डित्य का परिचय दिया, उससे प्रभावित हो विद्वान उनके महत्व को आँकने में अपने को असमर्थ पाते हैं। **'नाभादास' जी ने इन्हें 'कलिकाल का वाल्मीकि' अंग्रेज विद्वान 'स्मिथ' ने इन्हें मुगल काल का सबसे महान व्यक्ति तथा 'ग्रियर्सन' ने इन्हें बुद्धदेव के बाद सबसे बड़ा लोक नायक माना है।**

जीवन परिचय

भारतीय महापुरुषों के जीवन परिचय के सम्बन्ध में प्राय: गड़बड़ी देखने को मिलती है। इसका प्रधान कारण तो यह है कि ये भारतीय महापुरुष अपना जीवन परिचय प्रकट ही नहीं करना चाहते थे। क्योंकि वे उसे शालीनता, मर्यादा और सिद्धान्त के विपरीत मानते थे। महाकवि तुलसीदास के जीवन परिचय के सम्बन्ध में भी यही कठिनाई है। महाकवि तुलसी के जन्म, माता-पिता, परिवार, गुरु आदि के सम्बन्ध में अनेक मत और जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। जिन पुस्तकों द्वारा तुलसी के

चरित्र पर प्रकाश भी पड़ता है वे या तो पूर्ण प्रामाणिक नहीं हैं या उनमें कवि के सम्पूर्ण जीवन वृत्तो का वर्णन नहीं मिलता है। ऐसी स्थिति में उनकी रचनाओं में उनके द्वारा दिए गए संकेतों के आधार पर ही उनकी प्रामाणिक जीवनी प्रस्तुत की जा सकती है। पर कठिनाई तो यह है कि तुलसी की रचनाओं में तत्सम्बन्धी उल्लेख भी बहुत कम मिलता है। अन्तः साक्ष्य के आधार पर जीवनी के सम्बन्ध में प्रकाश डालने का कार्य 'रामचरित मानस', 'कवितावली' 'विनय पत्रिका', 'बरवै रामायण', और 'दोहावली' जैसी उनकी रचनाएँ करती है।

'रामहि प्रिय पावन तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।'

उपर्युक्त पंक्ति मे तुलसीदास ने हुलसी शब्द का प्रयोग साभिप्राय किया है। यद्यपि विद्वान् लोग इस चौपाई का अर्थ अपने-अपने ढंग से लगाते हैं, पर यदि इसका सीधा अर्थ लिया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास को रामकथा, माता हुलसी के हृदय के समान है। यह हुलसी और कोई नही उनकी आदरणीया माँ ही है जिसकी पुष्टि जनश्रुति एवं वाह्य साक्ष्य द्वारा भी हो जाती है। जनश्रुति के आधार पर यह माना जाता है कि कविवर रहीम ने तुलसीदास के एक दोहे का उत्तरार्द्ध रचा था। और उसके अनुसार भी तुलसी की माँ का नाम हुलसी ठहरता है—

'सुरतिय नरतिय नागतिय सब चाहत अस होय।
गोद लिए हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय।'

उपर्युक्त दोहे मे हुलसी शब्द पर श्लेष है जो यह व्यक्त करता है कि तुलसी की माता का नाम हुलसी प्रसिद्ध था। इनका बचपन का नाम तुलसी नहीं वरन् 'राम बोला' था जिसका उल्लेख 'विनय-पत्रिका' में मिल जाता है—

'राम को गुलाम नाम 'राम बोला' राख्यो राम।
काम इहै नाम है, हौं कबहूँ कहत हौं।'

ऐसा ही उल्लेख 'कवितावली' मे भी मिल जाता है—

'साहिब सुजान जिन नामहूँ को पच्छ कियो,
राम बोला नाम हौं गुलाम राम साहि को।'

कहा जाता है कि बचपन में ही तुलसी राम-नाम बराबर लिया करते थे। जनश्रुतियों मे तो यहाँ तक कहा गया है कि तुलसी ने पाँच वर्ष के बालक के रूप में उत्पन्न हो जन्मते ही राम नाम का उच्चारण आरम्भ कर दिया था। जिससे इस अद्भुत बालक को 'राम बोला' नाम से पुकारा जाने लगा। यही बचपन का 'राम

बोला' आगे चलकर तुलसीदास के नाम से विख्यात हुआ जिसका संकेत 'बरवै रामायण' में मिल जाता है—

'केहि गिनती मँह गिनती जस बन घास।
राम जपत भे तुलसी तुलसी दास।'

इसी प्रकार की पंक्ति 'दोहावली' में भी देखने को मिल जाती है—

'राम नाम को कलप तरु कलि कल्यान निवास।
जो सुमिरत भयो भाँगते, तुलसी तुलसी दास।'

माता तथा स्वयं के नाम के अतिरिक्त अन्य किसी स्वजन का नाम इनकी रचनाओं में नहीं आया। गुरुमहिमा और उनकी कृपा का उल्लेख उन्होंने अवश्य किया—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।

× × ×

मांग्यो गुरपीठ अपनाइ गहु बाँह बोलि,
सेवक सुखद सदा बिरद बहत हौं।

× × ×

बन्दौं गुरु पद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि।

अतः जिस प्रकार श्लेष के माध्यम से 'हुलसी' शब्द तुलसी की माता के नाम का द्योतक माना जाता है उसी प्रकार 'नर रूप हरि' अर्थात् नरहर्यानन्द को तुलसी का गुरु माना जा सकता है। अपनी जाति पाँति के सम्बन्ध में भी तुलसी ने अपनी रचनाओं में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है बल्कि अनेक से रुककर कहीं-कहीं तो वे जाति व्यवस्था के प्रति अनास्था ही व्यक्त करने लग जाते हैं—

मेरे जाति पाँति न चहौं काहू की जाति पाँति।
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।

× × ×

साह ही को गोत, गोत होत है गुलाम को।

× × ×

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगारि न सोऊ।

× × ×

भक्ति भारत भूमि भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहि कै।

कुछ पंक्तियाँ ऐसी भी हैं जिनके आधार पर इनका 'शुक्ल' ब्राह्मण होना और भले कुल में जन्म लेना भी निश्चित किया जाता है। 'भक्त माल' में आये एक पद 'सकल सुकुल संबलित भक्त पद रेनु उपासी' के आधार पर इन्हें नन्ददास का भाई भी बताया जाता है।

इनकी बाल्यावस्था बड़ी ही संकटमय रही है। जन्मोपरान्त ही माता-पिता का स्वर्गवासी हो जाना और कालान्तर में घर से निकाल दिया जाना आदि अनाथ बालक तुलसी के मानसिक क्षोभ को बढ़ाते रहे। अन्तःसाक्ष्य की कतिपय पंक्तियों के आधार पर इनकी जाति और कुल पर तरह-तरह की अटकल बाजियाँ की जाती रही है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि इनका जन्म न तो मंगन कुल में हुआ था और न ये माता-पिता की अवैध सन्तान ही थे। हाँ, इतना अवश्य है कि सन्तों का आश्रय ग्रहण करने से पूर्व इन्हे उदरपूर्ति के लिए द्वार-द्वार पर भिक्षा माँगनी पड़ी और 'जाति-कुजाति' सबके टुकड़े पर जीवन यापन करना पड़ा। इस ग्लानि और दैन्य-दशा की अभिव्यक्ति तुलसी ने 'कवितावली' और 'विनय-पत्रिका' में की है। बाल्यावस्था की ही भाँति वृद्धावस्था भी बड़ी कष्टदायक सिद्ध हुई। इन्हे महामारी का शिकार होना पड़ा था। पीड़ा के निवारण के लिए इन्होंने राम, शंकर और हनुमान की स्तुति की है। इनकी मृत्यु का संवत् १६८० (सन् १६२३ ई०) तो सर्वमान्य है, किन्तु कुछ लोगों ने भ्रमवश 'सावन स्यामा तीज सनि' के स्थान पर 'सावन शुक्ला सप्तमी' लिख दिया है, जो अप्रामाणिक है। गोस्वामी जी के परम मित्र एवं काशी के तत्कालीन जमीन्दारटोडर के वंशज 'सावन कृष्ण ३' को ही उनकी निधन-तिथि स्वीकारते हैं और उसी दिन सीधा देने की प्रथा है। ज्योतिष की गणना के अनुसार भी 'सावन स्याम तीज' शनिवार के ही दिन पड़ती है। 'मूल गोसाईं-चरित' के निम्न दोहे में भी इसी तिथि का उल्लेख मिलता है—

'संवत सोलह सै असी असी गंग के तीर।
सावन स्यामा तीज सनि, तुलसी तजे सरीर ॥'

लोकप्रियता का कारण

समन्वित दृष्टि

जिस समय तुलसीदास ने साहित्य-जगत में पदार्पण किया उस समय देश में संक्रान्ति की स्थिति व्याप्त थी। समग्र हिन्दू जाति राजनैतिक संत्रास की विभीषिका से त्रस्त थी। देश की सामाजिकस्थिति छिन्न-भिन्न हो गयी थी—परस्पर द्वेष, ईर्ष्या, और घृणा की भावना पढ़ती जा रही थी। लोगों के हृदय से धार्मिक

भावना विलुप्त होने लगी थी और नास्तिकता का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था। देशवासी अपनी संस्कृति को भूलने लगे थे। बात-बात में सन्यासी हो जाना साधारण सी बात थी, परिणाम स्वरूप 'अलख' जगाने वाले साधुओं की भरमार हो गयी। अहं के वशीभूत इन साधुओं ने पंडितों और ब्राह्मणों की बराबरी का दावा किया और वेद पुराणादि धर्म-ग्रन्थों की निन्दा करने से भी बाज नहीं आये। ऐसी विषम स्थिति में तुलसीदास ने बड़ी ही सफलता पूर्वक अपने गुरुतर दायित्वों का निर्वाह किया। इस सफलता का कारण उनकी समन्वयात्मक-दृष्टि, सारग्राहिणी प्रतिभा और काव्यात्मक चेतना में ढूँढा जा सकता है। भारतवर्ष नाना परस्पर विरोधी संस्कृतियों तथा विभिन्न धर्मानुयायी अनेक जातियों, उपजातियों का देश है। अतः इस देश का लोकनायक वही व्यक्ति हो सकता है जिसमें विशाल समन्वित दृष्टि हो तथा जो शृंखला की टूटी हुई कड़ियों को फिर से मजबूती के साथ जोड़ने की शक्ति रखता हो। तुलसीदास ऐसे ही व्यक्ति थे, जिन्होंने समाज के विविध स्तरों को बड़े ही निकट से देखा था। उच्च ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी इन्हें दरिद्रवत् जीवन बिताना पड़ा था। अशिक्षित जनता, पुराण पंथी पंडितों, दिग्गज आचार्यों और अनेक तपः पूत सन्यासियों के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ था। बचपन से ही दर दर भटकने और ठोकर खाने के कारण वे लोक-ज्ञान से तो परिचित हो ही गये थे किन्तु उनका शास्त्रीय ज्ञान भी कम व्यापक नहीं था। 'रामचरितमानस' में जहाँ अनेक स्थलों पर लोक धर्म की स्थापनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण मिलता है, वहीं उनके शास्त्रीय ज्ञान का गम्भीर परिचय भी।

शैवों और वैष्णवों का समन्वय

हमारे यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश को क्रमशः सृजक, पालक एवं संहारक माना जाता है। इन्हें मिलाकर त्रिदेव की बड़ी ही महत्वपूर्ण कल्पना की गई है। बाद में चलकर वैष्णव लोग विष्णु को और शैव लोग शंकर को ही सर्वशक्तिमान समझने लगे। इस प्रकार शैव और वैष्णवों का कलह बढ़ता ही गया और तुलसी के समय तक तो यह अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया। शैव लोग वैष्णवों से घृणा करने लगे और वैष्णव शैवों से। तुलसीदास ने राम और शिव को परस्पर एक दूसरे का भक्त बताकर बड़े ही कौशल के साथ विवाद को शान्त किया। उन्होंने एक ओर तो शंकर के मुँह से 'सोइ मम इष्ट देव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनिधीरा।' कहलवा कर शिव को राम का अनन्य भक्त बतलाया तथा दूसरी ओर राम के मुँह से 'शंकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास। ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास' अथवा 'सिव द्रोही मम दास कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा' आदि कहलवा कर राम को शिव का उपासक सिद्ध किया। इतना ही नहीं रामेश्वरम् में सेतु निर्मित हो जाने

पर तुलसी ने राम के द्वारा शिवलिंग की स्थापना एवं अर्चना कराकर राम की अनन्य शिव भक्ति को भी प्रदर्शित किया।

शाक्त-वैष्णव समन्वय

इसी प्रकार शाक्तों और वैष्णवों के परस्पर विरोध को भी गोस्वामी जी ने मिटाया। 'रामचरितमानस' में सीता को ब्रह्म राम की शक्ति के रूप में स्वीकार करके गोस्वामी जी ने अपनी इसी समन्वित दृष्टि का परिचय दिया है। उद्भव स्थिति संहार कारिणी, क्लेशहारिणी सर्वश्रेयस्करी रामवल्लभा सीता' का स्मरण गोस्वामी जी ने आरम्भ मे ही कर लिया है। साथ ही सीता के द्वारा शक्ति स्वरूपा पार्वती को स्तुति भी करायी है—

नहिं तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना।
भव भव विभव पराभव कारिनि। विश्व विमोहनि स्ववस विहारिनि।

सिद्धान्त पक्ष-

तुलसी के पूर्व स्वामी शंकराचार्य जी ने अपनी जिस 'अद्वैतवादी' दार्शनिक विचार-धारा का प्रचार किया था उसका प्रभाव व्यापक रूप से अन्य विचारधाराओं पर भी पड़ा। कालान्तर मे विभिन्न वैष्णव आचार्यों ने शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए अपने अपने मतों की प्रति स्थापना की। रामानुजाचार्य ने शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए अपने 'विशिष्टाद्वैतवाद' का उपस्थापन किया। तुलसी चूँकि रामानुजाचार्य के ही मतानुयायी थे, अतः इन्होने भी विशिष्टाद्वैतवाद को ही स्वीकार किया और इसीलिए जीव को ईश्वर का अंश मानकर उसे चेतन, अमल और अविनाशी बताया—

ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।
सो माया बस भयेउ गोसाईं। बंध्यो कीर मरकट की नाईं।

इसी प्रकार विशिष्टाद्वैतवादियों की भाँति संसार को नित्य शाश्वत एवं अविनाशी बताया है। किन्तु अन्यत्र कई स्थानों पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद का प्रतिपादन भी मिलता है। यहाँ पर ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या घोषित करते हुए शंकर के ही अनुसार अविद्या माया का भी निरूपण किया गया है। स्पष्ट है कि तुलसीदास जी ने अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद में समन्वय स्थापित करते हुए दार्शनिक विवाद को भी शान्त किया।

ज्ञान और भक्ति में समन्वय है

ज्ञान और भक्ति के क्षेत्र में श्री गोस्वामी जी की समन्वित दृष्टि स्पष्ट है। पारस्परिक

विवाद के कारण ज्ञानी और भक्त एक दूसरे को तुच्छ और नीच समझते थे। ज्ञान की श्रेष्ठता का प्रतिपादन गोस्वामी जी ने इस प्रकार किया है।—

कहहिं सन्त मुनि वेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना।

किन्तु इस ज्ञान की श्रेष्ठता उसकी भक्ति सापेक्षता में ही निहित है। साथ ही ज्ञान मार्ग की कठिनाई की ओर भी उन्होंने संकेत किया है—

'ज्ञान क पंथ कृपान कै धारा'

अथवा

'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका'

इसी प्रकार भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ बतलाते हुए उन्होंने लिखा है—

'भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी'।

इतना होने पर भी गोस्वामी जी ने ज्ञान और भक्ति में किसी प्रकार का भेद स्वीकार नहीं किया है क्योंकि दोनों ही संसार के कष्ट निवारक कल्याणकारी मार्ग हैं—

'भगतिहिं ज्ञानहिं नहिं कछुभेदा। उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।'

भक्ति मार्ग श्रेष्ठ और आसान अवश्य है किन्तु उसे ज्ञान और वैराग्य से युक्त होना चाहिए—

'कहहिं भगति भगवत कै संजुत ग्यान विराग'

निर्गुण और सगुण का जो विवाद चला आ रहा था, अभी तक उसका कोई समुचित समाधान नहीं हो पाया था। यहाँ तक कि तुलसी के पूर्ववर्ती महाकवि सूर भी इस संघर्ष से वंचित न रह सके। उन्होंने अपने 'भ्रमरगीत' में निर्गुण ब्रह्म का खण्डन करके सगुण ब्रह्म की स्थापना की। तुलसीदास ने ही सर्व प्रथम दोनों में समन्वय उपस्थित किया। यही कारण है कि जहाँ एक ओर उन्होंने ब्रह्म को निर्गुण, निराकार, अद्वैत, अनामय, अविकार आदि स्वीकार किया है वहीं दूसरी ओर उसे दीनबन्धु, शरणागत वत्सल, भक्त वत्सल तथा दयालु आदि भी कहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलसी ने अपने राम को सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों में देखा है।

सामाजिक समन्वय

इसी प्रकार से गोस्वामी जी ने राजा-प्रजा के समन्वय, नर और नारायण के समन्वय तथा ब्राह्मण और शूद्र के समन्वय पर भी दृष्टिपात किया है। ब्राह्मण कुल श्रेष्ठ गुरुवर वशिष्ठ जी को निषादराज से भेंट करते हुए दिखाकर अपनी इसी

समन्वित दृष्टि का परिचय दिया है। राजा और प्रजा के पारस्परिक संबंधों को उदारतापूर्वक चित्रित किया है।

'मुखिया मुख सो चाहिए खानपान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक।'

साहित्य मे समन्वय

गोस्वामी जी ने जिस प्रकार परिवार, समाज, धर्म, संस्कृति और दर्शन आदि मे समन्वय उपस्थित किया है उसी प्रकार से साहित्य के क्षेत्र में भी सुन्दर समन्वय किया है। ब्रज और अवधी दोनो भाषाओं का समन्वित रूप उनके राम चरित मानस में देखने को मिलता है। रामचरित मानस के बीच-बीच में संस्कृत-श्लोकों को रखकर उन्होंने हिन्दी और संस्कृत मे समन्वित दृष्टि का परिचय दिया है।

छन्द समन्वय

वर्णिक और मात्रक छन्दो के प्रयोग द्वारा छन्दों मे भी सुन्दर समन्वय किया है। उस समय जितनी भी काव्य-शैलियाँ प्रचलित थी, प्रायः उन सबका प्रयोग गोस्वामी जी ने न्यूनाधिक रूप में किया है। जायसी की दोहा चौपाई पद्धति पर 'रामचरित मानस' की रचना की गई तो पद पद्धति पर 'विनय पत्रिका' की। इसी प्रकार कवित्त सवैया-छप्पय पद्धति पर 'कवितावली', दोहा पद्धति पर 'दोहावली', बरवै पद्धति पर 'बरवै रामायण' लोकगीत पद्धति पर 'रामलला नहछू' आदि लिखकर साहित्य मे प्रचलित सभी पद्धतियो मे सुन्दर समन्वय किया है। उनका 'रामचरितमानस' अपने आप मे समन्वय की एक विराट चेष्टा को स्थान देता है। निष्कर्ष यह कि गोस्वामी तुलसीदास जी उच्च कोटि के समन्वयवादी विचारक एवं कवि थे।

भाषा में समन्वय

तुलसीदास जी की लोकप्रियता का एक कारण उनकी भाषा संबन्धी समन्वयात्मक दृष्टि भी है। जिस प्रकार का लोच हमें तुलसी की भाषा में दिखायी पड़ता है, वैसा किसी अन्य कवि की भाषा में मिलना असंभव है। उनकी भाषा जितनी लौकिक है उतनी ही शास्त्रीय भी। यही कारण है कि मानस की भाषा एक कम पढे लिखे व्यक्ति के लिए और एक दिग्गज पंडित के लिए समान रूप से ग्राह्य है। जहाँ कहीं उन्हें लोक धर्म की स्थापना करनी पडी है वहाँ पर बोल चाल की सरल भाषा का प्रयोग किया गया है और दार्शनिक विषयो के विवेचन मे संस्कृतनिष्ठ भाषा का। पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग गोस्वामी जी की एक बहुत बड़ी विशेषता है। परिचारिका मन्थरा की भाषा मे और रानी कैकेयी की भाषा में अन्तर है। इसी प्रकार निषादराज की भाषा सरल अकृत्रिम और स्पष्ट है किन्तु गुरु वशिष्ठ की भाषा में भाव गांभीर्य, संस्कृत-

निष्ठता आदि सहज ही देखी जा सकती है। अवधी के दूसरे कवि जायसी की भाषा में इस प्रकार का लचीलापन नहीं मिलता। वहाँ सभी पात्र एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं। गोस्वामी जी की भाषा के इसी लचीलेपन को लक्ष्य करके आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक स्थान पर लिखा है—'*जहाँ भाषा साधारण और लौकिक होती है, वहाँ तुलसीदास की उक्तियाँ तीर की तरह चुभ जाती हैं और जहाँ शास्त्रीय और गंभीर होती है वहाँ पाठक का मन चील की तरह मँडराकर प्रतिपादित सिद्धांत को ग्रहण कर लेता है।*"

सार ग्राहिणी प्रतिभा

गोस्वामी तुलसीदास जी को बड़ी ही सूक्ष्म दर्शिनी एवं तत्वग्राहिणी दृष्टि मिली थी। मानव-प्रकृति का इतना सही और मनोवैज्ञानिक निरूपण उनकी अद्भुत सूझबूझ का परिचायक है। प्रकृति-चित्रण में भी कहीं कहीं गोस्वामी जी का मन विशेष रूप से रम गया है। प्रकृति-चित्रण के आलंबन स्वरूप के लिए संस्कृत कवि विख्यात रहे हैं, चित्रकूट वर्णन में तुलसीदास ने इन कवियों से भी टक्कर लेने का सद्प्रयास किया है। **फिर भी इनकी दृष्टि जितनी अंतः प्रकृति में रमी है उतनी बाह्य में नहीं।** तुलसी के काव्य में घिसे पिटे परंपरित रूढ़ उपमानों का प्रयोग देखकर आश्चर्य होता है, क्योंकि तुलसी जैसे समर्थ कवि यदि चाहते तो न जाने कितने नये उपमानों का निर्माण कर सकते थे। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया, इसका कारण है उनकी समन्वयात्मक दृष्टि।

विविध ग्रन्थों की सारग्राहिणी प्रतिभा और आत्मसात कर लेने की अद्भुत क्षमता इनमें विद्यमान थी। यही कारण है कि 'नाना पुराण निगमागम' का आलोड़न करते हुए मूलभूत तत्वों को अपना बनाकर जिस पौराणिक शैली में रामचरित मानस की रचना हुई उसे ध्यान में रखते हुए कतिपय विद्वान् आलोचकों ने उसे 'पुराण' अथवा 'महापुराण' भी कहना चाहा है। रामचरित मानस पुराण है अथवा काव्य यह हमारा विवेच्य नहीं है।

कलापक्ष

तुलसी का कलापक्ष भी महत्वपूर्ण नहीं है। प्रायः सभी ग्रन्थों में सुन्दर अलंकार की योजना देखने को मिल जाती है। अनुप्रास गोस्वामी जी को बहुत प्रिय है। अनुप्रासों की छटा पग-पग देखी जा सकती है। अनुप्रास के मोह में कहीं भी उन्होंने व्यर्थ के शब्द नहीं रखे हैं। *ध्वन्यार्थ व्यञ्जना के अनेक ऐसे उदाहरण मिल जायेंगे जिनमें शब्दों* के नाद द्वारा शब्द सामर्थ्य से ही प्रसंग और अर्थ की प्रतीति हो जाती है। उदाहरणार्थ—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि । कहत लखन सन राम हृदय गुनि ।
मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही । मनसा विस्व विजय कहँ कीन्ही ॥

'कंकन' और 'किंकिनि' शब्दों के प्रयोगमात्र से ध्वनि का आभास अपने आप होने लगता है। शब्दालंकारों में वक्रोक्ति का भी पर्याप्त प्रयोग मिलता है। अर्थालंकारों में सादृश्यमूलक अलंकारों का सर्वाधिक प्रयोग इन्होंने किया है। भावों की अभिव्यक्ति को और अधिक तीव्र बनाने के लिए इन अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, तुलसी के अत्यन्त प्रिय अलंकार हैं। काव्य परम्परा में प्रचलित विविध उपमानों का प्रयोग इन्होंने किया है। उपमाएँ मर्यादापूर्ण उचित एवं सुरुचि सम्पन्न होती हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

लोचन जल रह लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना।

रूपक तो इनकी अलंकार योजना का प्राण ही है। सांग रूपकों की सुन्दर योजना उनकी अपनी विशेषता है। कहीं-कहीं पर ये सांग-रूपक बहुत बड़े-बड़े हो गये हैं। जहाँ पर गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ प्राय: सांग रूपकों का प्रयोग हुआ है। गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक भावों को इनके माध्यम से बोधगम्य बनाया गया है। उदाहरणार्थ—

कृपा डोरि बनसी पद-अंकुस परम प्रेम मृदु चारो।
एहि विधि बेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो।

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरहु जो चाहसि उजियार॥

उत्प्रेक्षा अलंकार के प्रयोग में भी गोस्वामी जी ने बड़ी रुचि ली है। चमत्कारिता की दृष्टि से कहीं-कहीं पर ये उत्प्रेक्षाएँ उपमाओं से भी आगे बढ़ी चढ़ी हैं। उत्प्रेक्षा में प्राय: कल्पना के लिए अधिक अवकाश रहता है। तुलसी की कल्पना का उत्कृष्ट स्वरूप उनकी उत्प्रेक्षाओं में ही दृष्टिगत होता है—

"सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम बिबस पहिराइ न जाई।
सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहिं सभीत देत जयमाला॥

इसी प्रकार से विभावना और विरोधाभास आदि अलंकारों का प्रयोग भी तुलसीदास ने किया है। विभावना का एक उदाहरण लीजिए—

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।

इसमें कारण का अभाव होने पर भी कार्य-सम्पादित हो जाने से विभावना अलंकार कहा जायेगा।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि तुलसीदास जी बहुमुखी प्रतिभा वाले कवि थे। वह केवल कवि और पंडित ही नहीं बल्कि समाज सुधारक, लोक नायक और भविष्य द्रष्टा भी थे। अपने इन्हीं गुणों के कारण वे इतने अधिक लोकप्रिय हुए।

अन्य रामभक्त-कवि

महाकवि तुलसी के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी मर्यादा पुरुषोत्तम राम को आधार मान कर भक्तिपरक रचनाएँ कीं, पर यह एक विचित्र बात देखने को मिलती है कि इस भक्ति काव्य-धारा में तुलसी के बाद एक भी ऐसा समर्थ कवि उत्पन्न नहीं हुआ जिसे तुलसी के समकक्ष रखा जा सके। एक प्रकार से राम काव्य-परम्परा का विकास अवरुद्ध हो गया जिसके लिए तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं। इस काव्य परम्परा में तुलसी कृत 'रामचरित मानस' ने प्रौढ़ता का ऐसा कीर्तिमान स्थापित कर दिया कि आगे आने वाले कवियों के लिए कोई उत्साहवर्द्धक भूमि शेष ही नहीं रह गई, जिसे अछूता समझ कर वे काव्य रचना करते। इसके विपरीत कृष्ण काव्य-परम्परा को बराबर अच्छे कवि मिलते रहे और जिस सामन्ती अथवा दरबारी सभ्यता का उस समय विकास हुआ उसके लिए कृष्ण काव्य अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त ठहरता था। कृष्णकाव्य की बढ़ती हुई लोकप्रियता ने भी रामकाव्य धारा को हतवेग बनाया, इसमें सन्देह नहीं। तुलसीदास के बाद के रामभक्त कवियों की रचनाओं का विशेष साहित्यिक महत्त्व तो नहीं पर ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है।

स्वामी अग्रदास

सन् १५७५ ई० के लगभग वर्तमान थे। स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा में आने वाले कृष्णदास पयहारी 'अग्रदास' के गुरु थे। 'भक्तमाल' के रचयिता प्रसिद्ध नाभादास जी ने अग्रदास से दीक्षा ली थी। **'हितोपदेशउपखाणांबावनी', 'ध्यान मंजरी', 'राम ध्यान मंजरी'** और 'कुंडलिया' नाम से इनकी चार पुस्तकों का पता लगता है। कृष्णोपासक नंददास जी की शैली में इन्होंने अपनी कविताएँ रची हैं।

नाभादास

सन् १६०० ई० के लगभग वर्तमान थे। ये स्वामी अग्रदास के शिष्य थे। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तमाल' की रचना सन् १५८५ ई० के बाद हुई और सन् १७१२ में प्रियादास ने उसकी टीका लिखी। नाभादास जी ने इस ग्रन्थ में २०० भक्तों के भक्ति की महिमा सूचक बातें ३१६ छप्पयों में लिखी हैं। कुछ लोग इन्हें डोम और कुछ लोग क्षत्रिय मानते हैं, पर ये थे परम भक्त और साधु सेवी जीव। किंवदंती के अनुसार इनके वृंदावन स्थान पर दिए गए वैष्णव भंडारे में तुलसीदास जी ने अपने को निरभिमानी सिद्ध करने के लिए एक साधु के पड़े जूते में खीर ग्रहण करने की

बात कही थी। इन्होंने रामभक्ति संबंधिनी कविता की है। ब्रजभाषा के भी ये मर्मज्ञ थे। इनका रचा रामचरित संबंधी पदों का एक छोटा सा संग्रह मिलता है। इसके अतिरिक्त इनके दो 'अष्टयाम' एक ब्रजभाषा गद्य में और एक रामचरितमानस की शैली पर दोहा-चौपाइयों में, मिलते हैं।

प्राणचन्द

इन्होने सन् १६१० में रामायण महा नाटक लिखा जो केवल सम्वाद में होने के कारण नाटक कहा गया है, अन्यथा यह सम्वाद शैली मे लिखा काव्य ही है।

हृदयराम

इन्होंने भी प्राणचन्द की भाँति हिन्दी हनुमन्नाटक की रचना संवत् १६८० (सन् १६२३ ई०) मे संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर की।

कवियों के अतिरिक्त कवयित्रियों ने भी रामभक्ति साहित्य मे अपना योगदान दिया है, पर उनकी उपलब्धि उल्लेखनीय नही है। आचार्य कवि केशव कृत 'रामचन्द्रिका' राम को केन्द्र में रख कर लिखी रचना है, पर इसमें तुलसी के राम का मर्यादा-स्वरूप सुरक्षित नहीं है। इसमे भक्ति साहित्य की गंध नहीं आती। यह रचना आचार्यत्व प्रदर्शन के लिए लिखी जान पड़ती है, जिसके सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ हैं। केशव भक्त कवि नही है, इससे इनकी चर्चा यथावसर आगे की जायगी।

भक्ति काल के अन्य कवि

हिन्दी का भक्तिकालीन काव्य एक आन्दोलन विशेष की देन है जो तत्कालीन प्रतिकूल विजातीय शासकों के प्रभाव से दूर रहने वाले एकान्त साधकों द्वारा निर्मित होता रहा। जन-मानस की चित्तवृत्तियों से प्रोत्साहित एवं कालगत प्रेरक शक्तियों से संवलित होकर ही यह काव्यधारा विकसित हुई थी न कि शासकों के प्रोत्साहन एवं दिए गए पुरस्कारों से। पठानों के शासन काल में देश अशान्ति, विप्लव और अनिश्चितता के वातावरण से गुजर रहा था, जिसमें ऐसे स्वस्थ कलात्मक साहित्य की रचना सम्भव नही थी, जो सुख एवं शान्तिसम्पन्न काल मे रचा जाता है। इस काल मे तो एकान्त साधक भक्त कवि ही अपनी सिद्ध वाणी का प्रचार और प्रसार कर सकते थे, जो लोभ और भय दोनों ही दुर्बल प्रवृत्तियों से नितान्त मुक्त थे। भक्त कवियों ने ऐसा किया भी जिसका परिणाम हमारा समृद्ध भक्तिकालीन साहित्य है। देशीय छोटे-छोटे राजाओं एवं सामन्तों की बैठकों मे अन्य कलात्मक प्रवृत्तियाँ दबी-दबी साँस भर ले रही थी जिनका अस्तित्व नगण्य सा ही था। सहसा देश के राजनीतिक मंच पर ऐसी घटना घटी-कि जिसका व्यापक प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा।

दैवयोग से दिल्ली के सिंहासन पर उदार मुगल सम्राट अकबर आसीन हुआ जिसकी कला प्रियता विद्यानुराग, समन्वयवादी धार्मिक भावना तथा उदारवादी दृष्टिकोण ने भारतीय साहित्य कला एवं संस्कृति में एक अद्भुत मोड़ उपस्थित किया। इस गुणग्राही सम्राट का दरबार गुणवन्तों से भर गया, जिनमें हिन्दू भी थे और मुसलमान भी, राजनीतिज्ञ भी थे और धर्मोपदेशक भी, विनोदी सामन्त भी थे और कवि भी, कुशल रण बाँकुड़े भी थे तो रसिक संगीतज्ञ भी और बीरबल रहीम तथा तानसेन जैसे कुछ रत्न तो ऐसे थे, जिनमें एकाधिक कलाओं का सहज विकास हुआ था। इस परिवर्तित परिस्थिति में भक्त कालीन काव्य की जो अन्य प्रवृत्तियाँ दबी चली आ रही थीं अथवा जिनका मन्द विकास केन्द्र से दूर हटकर छोटे बड़े राज्यों में हो रहा था उनको पूर्ण विकसित होने का अवसर अकबर के शासन काल में मिला। अब हिन्दी कवियों का सम्मान अकबर के दरबार में भी होने लगा। परिणाम स्वरूप भक्ति काल की काव्य-धारा में अन्य कलात्मक प्रवृत्तियाँ भी पोषक तत्व के रूप में आकर मिलने लगीं, जिनका क्रमिक विकास हुआ और उत्तर मध्यकाल अथवा रीतिकाल तक आते आते जो भक्ति साहित्य से बिलकुल दूर हटकर स्वतंत्र रूप से विकसित होने लगीं। इस बीच में कुछ ऐसे कवियों की रचनाएँ आती हैं जिन्हें न तो भक्तिकाल से बिलकुल अलग ही किया जा सकता है और न तो उन्हें भक्तिकालीन काव्य की सीमा में ही समाहित किया जा सकता है। इससे इन कवियों की चर्चा अत्यन्त आवश्यक है। यह स्थिति काव्य के लिए अत्यन्त शुभ सिद्ध हुई जिसे लाने का श्रेय मुगल सम्राट अकबर को दिया जा सकता है।

अकबर ने केवल कवियों का सम्मान ही नहीं किया बल्कि उसने हिन्दी कविता को इतना समादर प्रदान किया कि अब्दुर्रहीम खानखाना तथा अन्य उच्च पदस्थ दरबारी सामन्तों ने भी ब्रजभाषा में कविताएँ आरम्भ कर दीं। स्वयं अकबर सम्राट ने भी ब्रजभाषा में कविताएँ कीं—

> जाको जस है जगत में, जगत सराहैं जाहि।
> ताको जीवन सफल है, कहत अकब्बर साहि॥

> साहि अकब्बर एक समैं चले कान्ह विनोद बिलोकन बालहिं।
> आहट तें अबला निरख्यो चकि चौंकि चली करि आतुर चालहिं।
> त्यों बलि बेनी सुधारि धरी सुभई छवि यों ललना अरु लालहिं।
> चंपक चारु कमान चढ़ावत कामज्यों हाथ लिए अहि-बालहिं॥

सम्राट अकबर का शासन काल हिन्दू साम्राज्य के बाद पहला शासन काल था, जिसने स्वस्थ सामन्ती वातावरण उत्पन्न करके साहित्य, संगीत, कला एवं संस्कृति को पूर्ण विकसित होने का अवसर प्रदान किया। कवि होलराय ने ठीक ही कहा है—

दिल्ली ते न तख्त ह्वै है बख्त ना मुगल कैसो
ह्वै ना नगर वदि आगरा नगर ते ।
गंग ते न गुनी तानसेन ते न तान बाज
मान ते न राजा और न दाता बीर बर ते ।
खान खान ते न नर नरहरि ते न
ह्वै है ना दिवान कोउ बेडर टोडर ते ।
न ओ खयड सात दीप सातहु समुद्र पार
ह्वै है ना जलालदीन शाह अकबर ते ॥

उदार एव दृढ शासन की अनुकूल परिस्थिति मे शृंगार, वीर और नीति परक मुक्तक रचनाओ का विकास प्रबध काव्यो के समानान्तर होने लगा। इसके पूर्व उपर्युक्त विषयों को लेकर छप्पय, कवित्त सवैयों और दोहो मे रचनाएँ छिट-फुट ही होती रही। इस प्रकार इस काल में, चली आती साहित्य की पूर्व परंपरा और भक्ति साहित्य की समान रूप से वृद्धि हुई। अकबरी दरबार हिन्दी कवियो से पूर्ण समृद्ध था। जिनमे से कुछ ऐसे कवि थे जो कवि के नाते नहीं, बल्कि उच्च पदस्थ सामंत होने के नाते दरबार की शोभा बढा रहे थे और अवकाश के क्षण में सुन्दर रचना कर लेते थे और कुछ ऐसे थे जिन्हें कवि होने के नाते राजाश्रय प्राप्त था। कुछ ऐसे कवि भी थे जो दरबार से असम्बद्ध रह कर भी तत्कालीन काव्य धारा में अपना योगदान कर रहे थे।

छीहल, लालचदास, कृपाराम, महापात्र नरहरि बंदीजन आदि की रचनाएँ इसी काल से आती है। कृपाराम और महापात्र नरहरि बंदीजन को छोडकर अन्य कवियों का कोई विशेष महत्व नही है। इन दोनों कवियो का ऐतिहासिक महत्व है। कृपाराम की रस-रीति पर रची पुस्तक 'हित-तरंगिणी' रीति या लक्षण ग्रन्थों में पर्याप्त प्राचीन होने के नाते हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों के लिए अत्यन्त महत्व रखती है और महापात्र नरहरि वन्दीजन का महत्व इसलिए है कि इन्होंने एक छप्पय लिखकर अकबर से गोवध वन्द करवाया था। वह छप्पय इस प्रकार है—

"अरिहु दंत तिनु धरै ताहि नहिं मार सकत कोइ।
हम संतत तिनु चरहिं, बचन उचरहिं दीन होइ ॥
अमृत पय नित स्रवहिं, बच्छमहि थंभन जावहिं।
हिंदुहि मधुर न देहि, कटुक तुरकहि न पियावहि ॥
कह कवि नरहरि अकबर सुनो, बिनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहिं मारियत, मुएहु चाम सेवइ चरन ॥

नरोत्तमदास

'शिव सिंह सरोज' के अनुसार ये सन् १५४५ ई० में वर्तमान थे। इनकी जाति का पता नहीं चलता, पर ये सीतापुर जिले में बाड़ी नामक कस्बे के रहने वाले थे। 'सुदामा चरित्र' नामक इनकी रचना इतनी लोकप्रिय हुई कि साधारण पढ़े-लिखे लोगों तक के गले की हार बन गई। आज भी स्कूलों और छोटे कालेजों के छात्रों के बीच कवितापाठ के सन्दर्भ में इस रचना की लोकप्रियता देखते ही बनती है। इस रचना मे एक दीन ब्राह्मण-परिवार के घर की दरिद्रता का बड़ा ही यथार्थ एवं हृदयग्राहक चित्र खींचा गया है जो भारतवर्ष के अनेक दीन परिवारों के घर की वास्तविक कहानी कहता है। इस रचना की सरसता और प्रभावोत्पादकता को देखकर कवि की भावुकता और कवित्व-शक्ति का अच्छा परिचय मिल जाता है। इतनी सरल और प्रभावोत्पादक रचना इस काल में कम ही देखने को मिलती है। भाषा अत्यन्त साफ-सुथरी, सरल, स्वाभाविक और मर्मस्पर्शिनी है। एक भी ऐसा शब्द इसमें नहीं आया जिसे भरती का कहा जा सकता हो। कृष्ण और सुदामा की मित्रता का जो आदर्श इस छोटी सी पुस्तक मे प्रस्तुत किया गया है, वह अनुकरणीय है। कुछ विद्वानों का कहना है कि 'सुदामा-चरित्र' की भाँति ही इन्होंने 'ध्रुवचरित्र' नामक एक और खण्ड काव्य लिखा था।

आलम

इन्होंने सन् ९९१ हिजरी अर्थात् सन् १५८२–८३ ई० में 'माधवानल काम कंदला' नाम की प्रेम कहानी दोहा-चौपाई में लिखी है। ये अकबर के शासन-काल में वर्तमान थे और जाति के मुसलमान थे।

महाराज टोडरमल

इनका जन्म सन् १५२३ में और मृत्यु सन् १५८९ ई० में हुई। शेरशाह के दरबार में भी इन्हें उच्च पद प्राप्त था और अकबर के भी भूमि कर-विभाग के मन्त्री रहे। जाति के खत्री थे। इनके फुटकल कवित्त मिलते हैं।

महाराज बीरबल

इनके जन्म, जन्म स्थान और कुल के सम्बन्ध में विवाद है। इतना तो प्रसिद्ध ही है कि ये अकबर के मंत्रियों में थे और सम्राट इनकी प्रत्युत्पन्न मति पर मुग्ध था। दोनों के बीच चलने वाले विनोद और चुटकुले आज भी लोकजीवन में बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहे जाते हैं। स्वयं ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे और कवियों का बड़ा सम्मान करते थे। कहा जाता है कि 'केशवदास' जी को इन्होंने एक बार छः लाख रुपये दिए थे। कोई पुस्तक इनकी तो नहीं मिलती पर नई सी कवित्तों का एक संग्रह

भरतपुर मे है। कविता मे ये अपना नाम 'ब्रह्म' रखते थे। सम्राट अकबर ने इनके मरने पर अत्यन्त दुखी हो यह सोरठा कहा था—

दीन देखि सब दीन, एक न दीन्हो दुसह दुख।
सो अब हम कहँ दीन, कछु नहिं राख्यो बीरबल॥

गंग

अकबरी दरबार के प्रमुख कवियो मे इनका प्रमुख स्थान था और रहीम खानखाना की इन पर बड़ी कृपा रही। कहा जाता है कि 'खानखाना' ने इनके छप्पय पर प्रसन्न होकर इन्हें छत्तीस लाख रुपए दे डाले थे जो आज तक विश्व के किसी भी व्यक्ति को प्राप्त सबसे बड़ा पुरस्कार है। वह छप्पय इस प्रकार है—

चकित भँवर रहि गयो, गमन नहि करत कमल वन।
अहि फन मनि नहिं लेत, तेज नहिं बहत पवन वन॥
हंस मानसर तज्यो चक्क चक्की न मिलै अति।
बहु सुन्दरि पद्मिनी पुरुष न चहै, न करै रति॥
खलभलित सेस कवि गंग भन, अमित तेज रवि रथ खस्यो।
खान खान बैरम-सुवन जबहिं क्रोध करि तंग कस्यो॥

कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण मानते हैं, पर ये अधिकतर ब्रह्मभट्ट प्रसिद्ध है। ये बडे ही निर्भीक थे और इसी निर्भीकता के कारण ही किसी नवाब या राजा की आज्ञा से हाथी से चिरवा डाले गए थे। इस सम्बन्ध मे उस काल के कवियो ने अपनी रचनाओ में उल्लेख भी किया है। वीर, शृंगार और हास्य रस के ये बड़े ही सिद्ध कवि थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका कविता-काल विक्रम की सत्रहवी शताब्दी का अन्त माना है।

रहीम

ये अकबरी दरबार के प्रमुख नवरत्नों में से थे। इनका जन्म सन् १५५३ ई० में और मृत्यु संवत् १६८३ (सन् १६२६ ई०) में हुई। अकबर के अभिभावक प्रसिद्ध मुगल सरदार बैरम खाँ खानखाना के ये पुत्र थे। ये हिन्दी काव्य के पूर्ण मर्मज्ञ थे। कवि तो थे, ही साथ ही संस्कृत, अरबी और फारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे। विद्वत्ता, दानशीलता और वीरता का इनमें अद्भुत समन्वय हुआ था। इनकी सभा विद्वानों और कवियो से सदा सुशोभित रहती थी। दानशीलता इनके स्वभाव की अंग बन गई थी और ये अपने समय के कर्ण कहे जाते थे। समसामयिक कवियों के रहीम प्रेरणा-स्रोत और संरक्षक थे। अकबर के अत्यन्त विश्वास-भाजन मंत्री और सेनानायक थे। इन्होंने बडे-बड़े युद्धों मे यश अर्जित किया था। सम्राट अकबर की मृत्यु के बाद जहाँगीर के

शासन-काल तक ये वर्तमान थे, पर जहाँगीर से इनकी नहीं पटी। परिणामस्वरूप जीवन के पिछले दिनों में इन्हें आर्थिक संकट से गुजरना पड़ा जिससे अपने पूर्व स्वभाव के अनुसार आचरण न कर पाने के कारण समय-समय पर अत्यन्त दुखी हो जाया करते थे। कुछ दोहों में इस परिस्थिति के संकेत मिल जाते हैं—

'तबही लौं जीबो भलो देबौ होय न घीम।
जग में रहिबो कुँचि गति उचित न होय रहीम॥'

\+ + +

'ये रहीम दर दर फिरैं माँगि मधुकरी खाहिं।
यारो यारी छाँडिये, अब रहीम वे नाहिं॥'

कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास से भी इनका निकट का सम्पर्क था और तुलसीदास जी ने एक दीन ब्राह्मण की कन्या के विवाह के निमित धन प्राप्त करने के लिए दोहे की एक अर्द्धाली लिख कर रहीम के पास भेजा था और उन्होंने ब्राह्मण की आवश्यकता तो पूरी की ही साथ ही दोहे की दूसरी अर्द्धाली भी पूरी कर दी। दोहा इस प्रकार है—

'सुरतिय नरतिय नाग तिय यह चाहत सब कोय। (तुलसी कृत)
गोद लिए हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय॥' (रहीम कृत)

कवि गंग को इनका छत्तीस लाख रुपए दे देना तो प्रसिद्ध ही है। 'रहीम दोहावली' या 'सतसई,' 'बरवै नायिका भेद,' 'शृङ्गार सोरठ,' 'मदनाष्टक,' 'रास-पंचमाध्यायी' और 'रहीम रत्नावली' रहीम की प्रसिद्ध साहित्यिक रचनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने फारसी और मिश्रित भाषा में भी रचनाएँ की हैं। इन्होंने फारसी का एक दीवान भी बनाया था और 'वाकयात-इ-बाबरी' का तुर्की से फारसी में अनुवाद भी किया। इनका 'रहीम काव्य' हिन्दी संस्कृत और 'खेट कौतुकम्' संस्कृत और फारसी की खिचड़ी भाषा में रचा गया है।

जन-जीवन में कबीर, सूर और तुलसी की भाँति ही रहीम को भी लोकप्रियता मिली है। लोग बात-बात पर रहीम के नीति परक दोहे कहते पाए जाते हैं। रहीम का अनुभव विशाल था जिसकी सरस एवं सशक्त अभिव्यक्ति उन्होंने अपनी रचनाओं में की है। उन्होंने केवल नीति परक दोहे ही नहीं लिखे बल्कि शृंगार-परक बरवै नायिका भेद भी लिखा। कवित्त, सवैया, सोरठा और बरवै छन्दों पर इनका समान रूप से अधिकार था। ब्रजभाषा और अवधी दोनों ही के रहीम सिद्धहस्त कवि थे।

इनकी रचना मदनाष्टक में खड़ी बोली के पद्य का प्रारम्भिक रूप भी मिल जाता है। इनकी प्रतिभा को प्रकट करने के लिए कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे—

सर सूखे पंछी उड़ैं, औरै सरन समाहिं।
दीन मीन बिन पंख के कहु रहीम कहँ जाहिं ॥
रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहिले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं ॥ (सतसई)

× × ×

भोरहि बोलि कोइलिया बढ़वति ताप।
घरी एक भर अलिया ! रहु चुपचाप ॥
बाहर लै कै दियवा बारन जाइ।
सासुननद घर पहुँचत देति बुझाइ ॥ (बरवै)

× × ×

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल-चखन-वाला चाँदनी में खड़ा था ॥
कटि तट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि, बन अलबेला यार मेरा अकेला ॥ (मदनाष्टक)

सेनापति

इनका जन्म संवत् १६४६ सन् १५८९ ई० के आसपास माना जाता है। ये अनूप शहर के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण पं० गंगाधर के पुत्ररत्न थे। सेनापति इनका कवि नाम जान पड़ता है, पर इनके वास्तविक नाम का कुछ भी पता नहीं। सेनापति को इसकी बड़ी शिकायत रही कि लोग कविताओं की चोरी करते है। केवल उसके भाव ही नहीं चुराते बल्कि समूची कविता ही उड़ा लेते हैं। उन्हें अपनी कविताओं को सुरक्षित रखने की बड़ी चिन्ता थी। इसीलिए उन्होंने अपनी रचनायें अधिकतर कवित्तो मे ही की हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'कवित्त रत्नाकर' को कवित्तो की सुरक्षा के लिए किसी राजा को समर्पित किया था। अपने कवित्तों मे भी उन्होंने पूर्ववर्ती कवियो के भावो का समावेश नही होने दिया है। ऋतु-वर्णन जैसा सेनापति ने किया है हिन्दी के किसी अन्य शृंगारी कवि ने नही। इनके ऋतु वर्णनो मे प्रकृति-निरीक्षण पाया जाता है।

सेनापति अपने समय के भावुक और सिद्धहस्त कवि तो थे ही, जिससे उनकी रचनाओं में श्लेष, अनुप्रास और यमक अलंकार की छँटा देखते ही बनती है। इन्होंने अपने कवित्तों मे शब्द श्लेष की ओर विशेष ध्यान दिया है। सेनापति जी ने राम के उत्कट भक्त होते हुए कृष्ण तथा शिव का भी गुणगान किया है। राम को नारायणत्व

प्रदान करने के सम्बन्ध में ये गोस्वामी तुलसीदास की श्रेणी में आते हैं। इन्होंने रामावतार के लोकोपकारी गुणों का वर्णन विस्तार के साथ किया है।

सेनापति ब्रजभाषा लिखने में बड़े ही सिद्धहस्त थे। श्लिष्ट काव्यलेखन में उन्हें अपूर्व सफलता मिली है। संस्कृत और फारसी के शब्दों का भी इन्होंने प्रयोग किया है। 'कवित्त रत्नाकर' की भाषा में खड़ी बोली के कतिपय रूपों का भी प्रभाव देखने को मिल जाता है।

इनके अतिरिक्त **मनोहर कवि**, (कविता-काल सन् १५६३ ई० के आगे), **बलभद्र मिश्र** (कविता-काल सन् १५८३ ई० के पूर्व) और मुसलमान कवि **जमाल** (कविता-काल अनुमान से सं० १६२७ सन् १५७० ई०) की भी रचनाएँ मिलती हैं। **होलराय** का भी सम्बन्ध अकबरी दरबार से था जहां वे जाया करते थे, यद्यपि ये हरिवंश राय के आश्रित थे। कहा जाता है कि तुलसीदास ने इन्हें अपना लोटा दिया था। इनकी रचनाएँ फुटकल रूप में ही प्राप्त हुई हैं। लगता है ये राजाओं की प्रशंसा ही किया करते थे। **कादिर** (जन्म सन् १५७८ ई० कविता-काल सन् १६०३ ई०) **सैयद मुबारक अली बिलग्रामी** (जन्म सन् १६०७ ई० और कविता काल सन् १६१३ ई० के पीछे) **बनारसीदास** (जन्म सन् १५८६ ई०) **फुटकर कवि** (कविता-काल सन् १६१६ ई०) **सुन्दर** (कविता-काल सन् १६३१ ई०) और **लालचन्द या लब्धोदय** (सन् १६२८–१६५२ ई०) की रचनाओं ने भी इस काल को समृद्ध बनाया है।

आचार्य केशव की 'रामचन्द्रिका' की रचना भी इसी काल में हुई थी। प्रकृति से आचार्य केशव आचार्य थे, जिससे इनकी चर्चा आगे की गई है।

स्मरणार्थ

राजनीतिक परिस्थिति—विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते सम्पूर्ण उत्तर भारत पर यवनों का आधिपत्य। हिन्दुओं के धर्म-स्थानों का मूलोच्छेदन। आपसी युद्धों एवं मुसलमान आक्रामकों को पराजित करने के असफल प्रयास में हिन्दू राजाओं की शक्ति का क्षय होना।

सामाजिक परिस्थिति—हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था का विशृङ्खल होना। यवन शासकों का अत्याचार। सामन्त एवं राजाओं का विलासमय जीवन। इसका बोझ साधारण जनता पर पड़ना। बहुसंख्यक जनता निर्धनता एवं निराशा से पीड़ित। बाल विवाह एवं बहु विवाह का विशेष प्रचलन।

धार्मिक परिस्थिति—राज्य-विस्तार के साथ ही साथ यवनों की धर्म-विस्तार की भावना। साम, दाम, दण्ड किसी भी प्रकार से उनका धर्म-प्रसार। पददलित एवं

निम्न जाति की हिन्दू जनता की प्रतिष्ठा प्राप्ति हेतु मुसलमान धर्म स्वीकार करने की प्रवृत्ति। सिद्धों नाथो एवं कापालिकों का जनता पर प्रभाव। उसका मंत्र तंत्र एवं यंत्र की ओर झुकाव। वास्तविक धर्म का अभाव एवं धर्म के नाम पर पाखण्ड तथा आडम्बर का प्रचार।

दूसरी ओर श्रुतिसम्मत धर्म का भी प्रचार चलना। रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि का वैष्णव धर्म का प्रचार। अवतारवाद की स्थापना। साकार ब्रह्म की उपासना हिन्दू-मुसलमान दोनो को निकट लाने की तीसरी प्रवृत्ति भी दिखायी पड़ी। मानवता के पक्ष का समर्थन। दोनो जातियो में समभाव उत्पन्न करना। ईश्वर-भक्ति का मार्ग सबके लिए सुलभ करना। आपसी भेद-भाव दूर करने एव धार्मिक पाखण्ड समाप्त करने की भावना। 'ईश्वर' एवं 'खुदा' की एकता सिद्ध करने का प्रयास। निराकार ब्रह्म की उपासना। कबीर ने ज्ञान का दीप जलाया और जायसी ने प्रेम की अग्नि प्रज्ज्वलित की।

प्रमुख प्रवृत्तियाँ

(१) नाम की महत्ता—कबीर—'सभी रसायन हम करी, नहीं नाम सम कोय।'

सूरदास—भरोसो नाम को भारी।

तुलसी—कहौ कहाँ लगि नाम बड़ाई,
राम न सकहिं नाम गुणगाई।

कीर्तन, भजन आदि के रूप में भगवान का गुणगान

(२) गुरु की महत्ता—ईश्वर की अनुभूति का ज्ञान गुरु ही करा सकता है। गुरु ईश्वर से भी महान है।

कबीर—गुरु है बड़े गोविन्द ते, मन में देख विचार।

जायसी—बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।

सूरदास—वल्लभ नख चन्द्र छटा,
बिन सब जग माहि अंधेरो।

तुलसी—बन्दौ गुरु-पद-कंज, कृपा सिन्धु नररूप हरि।
महा मोह तम पुंज, जासु वचन रविकर निकर।

(३) भक्तिभावना की प्रधानता—कबीर—भगति बिनु बिरथे जनमु गइओ।

सूफी फकीरो ने प्रेम को ही भक्ति का रूप स्वीकार किया है।

सूर की गोपियाँ कहती हैं—भक्ति विरोधी ज्ञान तिहारो।

तुलसी—राम-भगति-मनि बस उर जाके।
दुख लवलेस न सपनेहु ताके॥

(४) अहंका अभाव—भगवत् प्राप्ति एवं मोक्ष के लिये अहं भाव का नाश एवं अतिशय विनम्रता की आवश्यकता।
कबीर—लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।
तुलसी—नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।
सूर—प्रभु मेरे अवगुन चित न धरो।

(५) साधु संगति की महिमा—विलासी जीवन का त्याग तथा सत्संग की महत्ता।

(६) कवि होने के साथ-साथ कवि उपदेशक और धर्मप्रचारक भी हुए। खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति दिखायी पड़ी।

(७) नर काव्य का बहिष्कार।

(८) काव्य में यथार्थ की अपेक्षा आदर्श की स्थापना।

भक्ति साहित्य की विभिन्न शाखाएँ

भक्ति काल
- निर्गुण धारा
  - ज्ञानाश्रयी शाखा
  - प्रेमाश्रयी शाखा
- सगुण धारा
  - कृष्ण भक्ति शाखा
  - रामभक्ति शाखा
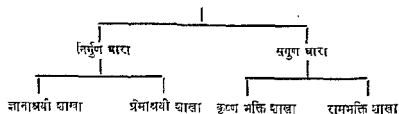
ज्ञानाश्रयी शाखा

(१) सिद्धान्ततः एकेश्वरवादी, सूफियों के प्रेम-तत्त्व सिद्धों और नाथों के हठयोग एवं शंकर के मायावाद से प्रभावित।

(२) सद्गुरु की महत्ता—मोक्ष एवं ईश्वर प्राप्ति के लिए सद्गुरु की कृपा आवश्यक।

(३) जात पाँति, वाह्याडम्बर एवं पाखण्ड का विरोध।

(४) ईश्वर निराकार एवं साकार से परे। प्रेम ही ईश्वर प्राप्ति का प्रधान साधन।

(५) इन कवियों में अपढ़ जनता में धर्म प्रचार की अद्भुत क्षमता।

(६) ये उपदेशक पहले थे और कवि बाद में। इसीसे काव्य में पुनरुक्ति एवं वैचारिकता की प्रधानता। अहं की अधिकता। गर्वोक्तियाँ।

(७) रस अलंकार छन्द पर ध्यान इन कवियों का बिल्कुल नहीं था, फिर भी स्वाभाविक रूप से शृंगार, शान्त, वीभत्स और अद्भुत रस की यत्र-तत्र अवतारणा। अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, अन्योक्ति आदि। छन्दों मे साखी और पदों का आधिक्य। कवित्त, सवैया, झूलना, हंस, पद आदि का भी प्रयोग।

(८) भाषा-सधुक्कड़ी। अवधी, ब्रजी, अरबी, फ़ारसी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती आदि से मिश्रित।

प्रेमाश्रयी शाखा

(१) इनके प्रेम-काव्य भारतीय चरित काव्यों की शैली में नहीं वरन् फारसी की मसनवी शैली में निर्मित। इनके प्रारम्भ में ईश वन्दना, पैगम्बरों की स्तुति तथा तात्कालिक शासक की प्रशंसा।

(२) सभी कवि सूफी सम्प्रदाय के मुसलमान। उन्हें हिन्दुओं के रहन-सहन एवं आचार-विचार का साधारण ज्ञान।

(३) लौकिक गाथाओं के द्वारा पारलौकिक की अभिव्यंजना।

(४) सिद्धान्ततः (अ) ब्रह्म और जीव में तात्विक एकता। (ब) सारी सृष्टि ब्रह्म की अभिव्यक्ति। (स) जीव पति और परमात्मा पत्नी के रूप में। जीव प्रेमपूर्ण और परमात्मा सौन्दर्यपूर्ण।

(५) सभी प्रेम-काव्य प्रबन्ध-काव्य के रूप में। कथाएँ हिन्दू जीवन से सम्बन्धित। इनमें जीवात्मा एवं परमात्मा का तीव्र प्रेम तथा साधक के मार्ग की कठिनाइयों (माया) का रूपमय वर्णन।

(६) गुरु की महत्ता, साधक गुरु की कृपा से ही माया को पार कर भगवत् प्राप्ति करता है।

(७) इन मुसलमान कवियों पर भारतीय अद्वैतवाद एवं हठयोग का भी प्रभाव। ये किसी सम्प्रदाय के खण्डन मंडन से बहुत दूर, केवल अपनी बात कहने वाले।

(८) रस—शृंगार की प्रधानता अन्य रस गौण रूप में।

(९) अलंकार—प्रायः सभी प्रचलित अलंकार। अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक एवं मनोरम।

(१०) भाषा—ग्रामीण अवधी।

(११) छन्द—दोहा चौपाई।

कृष्णभक्ति शाखा—

(१) इन कवियों ने भागवत के दशमस्कंध, विष्णु पुराण एवं वायु पुराण से प्रेरणा ली।

(२) इन कवियों ने भी भगवान के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों को स्वीकार किया है। निर्गुण की उपासना दुष्कर समझ कर इन्होंने सगुण लीला के पद गाये।

(३) उपासना पद्धति सख्य भाव की।

(४) इनके आराध्य महाभारत के योगेश्वर कृष्ण नहीं वरन् भागवत् के लीला-विहारी कृष्ण है। इन्होंने कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण न करके उनके लोक रंजक रूप का ही, बाल लीला, रास लीला एवं गोपी विरह आदि का वर्णन किया है।

(५) ये कवि वल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित थे।

(६) इन कवियों ने प्रायः चार प्रकार के पद लिखे हैं—(१) विनय के पद (२) अवतार की कथा सम्बन्धी (३) कृष्ण लीला सम्बन्धी (४) दार्शनिक पद। विनय के पदों में गुरु महिमा संत एक सत् संग महिमा एवं आराध्य के समक्ष आत्मनिवेदन है। अवतार सम्बन्धी पदों में अवतारों का वर्णन है। बाल लीला, मुरली माधुरी, गोपी प्रेम, गोपी विरह आदि का वर्णन लीला सम्बन्धी पदों में है। उपासना की दार्शनिक मान्यताओं का वर्णन दार्शनिक पदों में है। वर्ण्य विषय की एक रूपता एवं भाव साम्य के कारण पुनरुक्ति की बहुलता।

(७) प्रायः सभी कवियों ने भ्रमर गीत लिखे हैं।

(८) इन कवियों ने भी नर काव्य नहीं लिखा। 'भक्तन को कहा सीकरी सो काम।'

(९) कर्म, ज्ञान तथा योग से भक्ति को श्रेष्ठ बताया गया।

(१०) प्रेम के समक्ष शास्त्रीय मर्यादाओं की उपेक्षा। उपासना एवं व्यंग्य की प्रसन्नता।

(११) काव्य भक्ति एवं संगीत तीनों का अद्भुत समन्वय।

(१२) अलंकार—प्रायः सभी अलंकारों की स्वाभाविक योजना। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा सन्देह, अतिशयोक्ति आदि की बहुलता।

(१३) रस—शान्त, अद्भुत, शृंगार और वात्सल्य। शृंगार के दोनों पक्ष-संयोग और विप्रलम्भ-सुन्दर चित्रण।

(१३) शैली—गेय पदों में मुक्तक रचनाएँ।

(१५) भाषा—अत्यन्त मधुर ब्रज भाषा।

रामभक्ति शाखा—

(१) ईश्वर को निराकार एवं साकार मानते हुए भी साकार भक्ति की श्रेष्ठता स्थापित की गयी।

(२) सेवक और सेव्य भाव की भक्ति। भक्ति का स्थान ज्ञान से ऊपर।

(३) राम विष्णु के अवतार, ब्रह्म स्वरूप, शक्ति शील और सौन्दर्य के निधान, राम के लोक पालक एवं लोक रंजक रूपों का चित्रण।

(४) लोक संग्रह की भावना, रूप काव्य मे आदर्श चरित्रो का निर्माण। जीवन के सभी अंगो का आदर्श चित्रण।

(५) राम काव्य में राम की उपासना के साथ ही साथ शिव, गणेश, हनुमान आदि अनेक देवी देवताओं की वंदना। ज्ञान भक्ति एवं कर्म में समन्वय।

(६) ये कवि वेदसम्मत वर्णाश्रम धर्म के समर्थक तथा सच्चे लोक धर्म के संस्थापक।

(७) ये कवि भक्त पहले थे कवि बाद में। कविता इनकी भक्ति का माध्यम थी।

(८) इन कवियो को लोक-सम्मान एवं सम्पत्ति की परवाह नही की। इसे इन्होने कर काव्य नही किया। रचना स्वान्तः सुखाय की गयी। काव्य लोक मंगलकारी था। ये सच्चे अर्थ में जनकवि थे।

(९) इन कवियो ने रामायण, आध्यात्म रामायण, पुराण, रघुवंश, उत्तर राम चरित, हनुमन्नाटक आदि संस्कृत ग्रन्थों से प्रेरणा ली।

(१०) ये कवि मूलत समन्वयवादी थे। अपने समय में प्रचलित सभी झगडो एवं मतभेदो को हृदय परिवर्तन द्वारा सुलझाने के पक्षपाती थे।

(११) अलंकार—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, व्यतिरेक आदि इनके प्रिय अलंकार थे, यो स्वाभाविक रूप से प्राय. सभी उत्कृष्ट अलंकारो का प्रयोग हुआ है।

(१२) रस—इनका मुख्य रस शान्त था, पर शृंगार रस अद्भुत आदि रसों का भी सुन्दर निर्वाह किया गया है।

(१३) छन्द—दोहा, सोरठा, चौपाई, कवित्त सवैया, छप्पय, पद आदि सभी प्रचलित छन्दो का प्रयोग किया गया।

(१४) भाषा—साहित्य अवधी एव ब्रजभाषा। इनमे बुन्देलखण्डी एवं भोजपुरी का भी प्रभाव था। अरबी एवं फारसी के भी शब्द यत्र-तत्र दिखाई पड़ते है।

उत्तर मध्य काल

(रीति और शृंगार साहित्य)

(सन् १६५० ई०—१८५० ई०)

परिस्थिति

हिन्दी साहित्य के पूर्व-मध्य काल अथवा भक्ति साहित्य के आरम्भ में हिन्दी क्षेत्र की जो राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक स्थिति रही उसमें काफी अन्तर आ चुका था। राजनैतिक स्थिरता जो अन्य सामाजिक पक्षों को अस्थिर बनाती रहती है, लगभग समाप्त हो चली थी। सम्राट अकबर के नेतृत्व में एक शक्तिशाली शासन की स्थापना हो चुकी थी, जो अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मावलम्बियों में समान रूप से लोकप्रियता प्राप्त कर रहा था। हिन्दी साहित्य को इस समय तक कबीर, जायसी, सूर और तुलसी जैसे रत्न मिल चुके थे, जिन्होंने भाव एवं भाषा दोनों ही दृष्टियों से, इसके भाण्डार को भरपूर भर दिया था। 'सूर' और 'तुलसी' ने तो अपनी अमूल्य रचनाओं के माध्यम से हिन्दी साहित्य को ऐसी गरिमा प्रदान कर दी थी कि आज समृद्धि और विकास का इतना लम्बा दौर समाप्त कर लेने के बाद भी यदि उन्हें निकाल लिया जाय तो वह बहुत कुछ हलका हो जायगा। अकेले सूर और तुलसी के साहित्य को लेकर हिन्दी विश्व साहित्य के सम्मुख मस्तक उठाकर खड़ी हो सकती थी। भाण्डार भरने का कार्य एक सीमा तक पूरा हो चुका था और केवल अलंकरण और मण्डन की आवश्यकता रह गई थी। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि पूर्वमध्य काल का साहित्य अलंकृत और मण्डित नहीं था। यह दूसरी बात है कि इस क्षेत्र के कवियों ने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अपनाए गए व्यापक दृष्टिकोण को महत्व दे लोक मंगल की भावना से प्रेरित हो स्वस्थ साहित्य की रचना की जिससे उनकी दृष्टि केवल अलंकार और भाषागत चमत्कार की ओर नहीं रही बल्कि उन्होंने सहज स्वाभाविकता पर विशेष बल दिया।

यह एक विचित्र बात है कि सम्राट अकबर के शासन के समाप्त होते ही हिन्दी काव्य की परम्परा में एक अद्भुत परिवर्तन उपस्थित हुआ, जहाँ से पूर्व मध्यकाल अथवा भक्तिपरक रचनाओं और उत्तर मध्य काल की रचनाओं में स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है।

सम्राट अकबर के शक्तिशाली विस्तृत शासन के कारण राजनीति में जो स्थिरता आई, उसका प्रभाव अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ा। अब तक की साहित्यिक उपलब्धियों से

आगे के कवि लाभान्वित भी हुए और उसकी प्रतिक्रिया भी उनके मन में हुई। भक्ति आन्दोलन को साहित्य के माध्यम से इतनी पूर्णता प्रदान कर दी गई थी कि उस ओर जाने का इस खेवे के कवियों ने साहस ही नहीं किया। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र को सामाजिक धरातल पर इस ऊँचाई के साथ महात्मा तुलसीदास ने रखा था कि वहाँ तक पहुँचने का आज तक किसी कवि को हौसला नहीं हुआ। साथ ही आगे जाने वाली परिस्थितियों में ऐसे उदात्त चरित्र की कल्पना सम्भव भी नहीं थी और न तो 'राम चरित मानस' जैसे महाकाव्य की सृष्टि के लिए कवियों को अनुकूल भूमि ही मिल सकती थी। कृष्ण-काव्य में चित्रित कृष्ण का लीला प्रधान रूप इस युग के अधिक अनुकूल ठहरता था, जिससे उसकी लोकप्रियता अत्यधिक रही। यह दूसरी बात है कि कृष्ण का भक्त-कालीन रूप उत्तर मध्य काल के कवियों में सुरक्षित न रह सका। इस युग का सम्पूर्ण काव्य तत्कालीन परिस्थितियों की देन है जिसकी भूमिका भक्ति-साहित्य के अन्तिम चरण अथवा सम्राट अकबर के अन्तिम शासन काल में ही बनने लग गई थी।

सम्राट अकबर की कला प्रियता, उसके विद्यानुराग तथा उदारवादी दृष्टिकोण ने भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं कला में एक अद्भुत मोड़ उपस्थित किया। उसके सम्पूर्ण राज्य एवं रक्षित राजाओं की प्रजा में शान्ति व्याप्त थी। आक्रमणकारी बादल भारतीय गगन से छिन्न-भिन्न हो गए थे और देश धन-धान्य से पूर्ण होकर भोग-विलास की ओर तीव्रता से बढ़ने लगा। अकबर के राज-दरबार और दरबारियों में साहित्य की अच्छी चर्चा तथा कवियों और काव्यों की खासी चहल पहल रही। सम्राट और कुछ मुख्य सचिव, सेना नायक एवं राज-कवि व्रजभाषा के कवि हो गए। अकबरी दरबार के इस काव्य-प्रेम को देखकर औरों में भी व्रजभाषा का प्रेम बढ़ा। रक्षित छोटे-छोटे राजाओं और दरबारों में भी हिन्दी कविता की पहुँच हो गई, क्योंकि वे लोग प्रेरणा अकबरी दरबार से ही पाते थे और बड़े दरबारों की नकलें ही तो छोटी बैठकों में होती थी। मेवाड़ ऐसे राज्य जो पराधीन नहीं हो पाए थे, धार्मिक जोश के कारण ही उनमें हिन्दी प्रेम का होना स्वाभाविक था।

इस प्रकार हिन्दी कवियों के भाग्य खुल गए और उनका रहन-सहन ठाट-बाट साधारण स्तर से ऊपर राजा और नवाबों का सा रहने लगा। भाषा कवियों के इस आशातीत सम्मान को देख कर अधिक से अधिक लोग इस ओर आकर्षित हुए। क्योंकि इससे मनोरंजन तो होता ही था, साथ-ही-साथ आर्थिक लाभ की भी सम्भावना थी। अब हिन्दी के कविगण दरबार के रत्न थे और उन्हें सम्मान के साथ-ही-साथ धन भी मिलने लगा। भक्ति-काल के कवियों के समान स्वान्तःसुखाय और लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित हो लिखे जाने वाले काव्य का जमाना

धीरे-धीरे लदने लग गया था। सम्राट अकबर के उत्तराधिकारी मुगल सम्राट अकबर का-सा व्यापक दृष्टिकोण नहीं रख पाए और उनका सम्बन्ध साधारण जनता से धीरे-धीरे छूटने लगा और वे केवल विलास के दास बनने लगे। **मुगल दरबार कलाकारों और सामन्तों का जमघट-सा बन कर रह गया, जिससे लोक-जीवन से** कट कर एक सामंती **संस्कृति का उदय हुआ।** जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि सम्राट अकबर की सुव्यवस्था के कारण देश में पूर्ण शान्ति विराज रही थी, विदेशी *आक्रमणों का बिल्कुल भय दूर हो गया था और धन-धान्य की कमी नहीं थी,* जिससे रक्षित राजे और नवाब अकबर के शासन-काल में ही घोर विलासिता की ओर बढ़ने लग गए थे क्योंकि उन्हें आत्म-रक्षा की भी चिन्ता नहीं थी, सारा का सारा दायित्व वे मुगल सम्राट पर डाल बैठे थे। **इन सामन्तों और नवाबों की बैठकें मुगल दरबार की नकल होने पर भी कभी-कभी शान शौकत में उनसे बढ़ जाने की इच्छा रखती थीं।**

मुगल सम्राटों के अनुरूप ही राजाओं और नवाबों ने अपने को ढाला। राजपूत राजाओं के द्वारा इस दरबारी सभ्यता का प्रचार राजस्थान में भी हो गया। योरोप के यात्री जो उस समय भारत भ्रमण के लिए आए थे, लिखते हैं **कि जितने ठाट से भारत के कुछ अमीर रहते हैं,** उतने ठाट से योरप **के शासक भी नहीं रहते। वे उनके मद्यपायी, चरित्रहीन होने का भी उल्लेखन करते हैं।** सम्राट जहाँगीर ने यह नियम बना दिया था कि अमीरों के मरने पर उनकी सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार होगा। इस कारण 'आसफ खाँ' जैसे कुछ सामन्त भले ही मितव्ययता के आधार पर धन इकट्ठा करते रहे हों, पर अधिकांश अमीर फिजूल खर्च के शिकार थे और प्रायः कुछ सम्पत्ति छोड़ जाने के स्थान पर उत्तराधिकारियों के लिए ऋण छोड़ जाते थे।

इस युग के समाज में जिसे हम दरबारी अथवा नगरों का समाज कह सकते हैं, बाहरी तड़क-भड़क तथा अलंकृत **वस्त्राभूषण** को अधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। औरंगजेब को छोड़ कर सभी मुगल सम्राट आभूषणों का साज-शृंगार पसन्द करते थे। शाहजहाँ के समय में यह प्रवृत्ति अपने चरमोत्कर्ष पर थी। **सम्राट स्वयं मयूर सिंहासन पर बैठता था जो सुवर्ण का बना हुआ था तथा जिसमें अनेक मूल्यवान रत्न सुरुचि और सुन्दर कलात्मकता के साथ जड़े हुए थे। सर्वत्र एक अजीब गति, एक अजीब अदा दिखलायी पड़ती थी।** इन सामन्ती दरबारों को देख कर तत्कालीन भारत की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति का वास्तविक पता लगा लेना अत्यन्त कठिन था। **ये सामंत दरबार वास्तविक भारत से नितान्त भिन्न थे। भारत का यह एक ऐसा समाज था जो भारत में रह कर भी भारतीय समाज से बिल्कुल भिन्न था। इन दरबारों में लिखी गयी कविताओं में जन-साधारण का जीवन नहीं बल्कि सामंती जीवन अभिव्यक्त हुआ है।** सामंतो-

दरबार एकमात्र कवि एवं कविता के आश्रयदाता थे। अधिकांश कवियों ने राजाश्रय ग्रहण किया, पर कुछ ऐसे स्वाभिमानी कवि भी अवश्य थे, जिन्होंने आश्रय न ग्रहण कर स्वतन्त्र रूप से रचनाएँ कीं 'जिससे इस काल में भी कुछ भक्ति परक रचनाएँ मिल जाती हैं।' पर, हिन्दी साहित्य की मूल प्रवृत्ति शृंगार की ओर ही रही जो दरबारों या आश्रयदाताओं के रुख पर आगे बढ़ रही थी। इस वातावरण में प्रबन्ध काव्यों के लिए अनुकूल भूमि नहीं मिल पाई जिससे मुक्तक काव्यों की ही रचनाएँ हुईं।

इस काल की सामाजिक स्थिति की झाँकी यदि हम इस युग की कविताओं में पाना चाहेंगे तो अत्यंत निराश होना पड़ेगा। क्योंकि इन कविताओं में केवल दरबारी समाज का ही चित्रण हुआ है। विलासिता का वैभव एक ओर इस काल में अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था तो दूसरी ओर साधारण लोगों की गरीबी भी अपनी सीमा का अतिक्रमण कर रही थी। अमीर और गरीब इस काल के दो ऐसे छोर थे जो परस्पर कभी भी नहीं मिल पाते थे। शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में करों का बोझ अकबर और जहाँगीर से भी अधिक बढ़ गया और उस समय तक सरकारी कर्मचारी अकबर के समय की उदारता खोकर अत्याचार करने की कला में अधिक दक्षता पा चुके थे। अतः साधारण लोगों का संकट बहुत बढ़ गया था।

व्यापारियों की अपेक्षा किसानों से सरकारी खजाने को ११० गुनी आय होती थी, किन्तु सरकार की ओर से उनके ऊपर सबसे कम रुपया खर्च किया जाता था। इन किसानों की दशा सबसे खराब थी, जो अपने तीन शत्रुओं, राज-कर्मचारी प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों तथा जंगली जानवरों द्वारा बराबर सताये जाते थे। भारत-वर्ष में अनेक जंगल सम्राट के आखेट बने थे, जहाँ जानवरों को मारने की अनुमति नहीं थी। अस्तु राज कर्मचारियों के बाद राज के संरक्षण में विचरने वाले जंगली पशु अबाध रूप से किसानों का भोजन नष्ट करते थे। तीसरे प्रकृति भी किसानों के पक्ष में नहीं रहती थी। ओले गिरने, अधिक वृष्टि तथा अनावृष्टि के शिकार किसान प्रायः हुआ करते थे। दुर्भिक्ष तो इस काल में कई पड़े। शाहजहाँ के काल में सन् १६३०-३१ में एक दुर्भिक्ष पड़ा जिसका प्रभाव दक्षिण में गोलकुंडा और अहमदनगर तथा उत्तर भारत में मालवा और गुजरात पर पड़ा। अब्दुल अमीर लाहौरी लिखता है कि लोग चपातों के लिए जान देने को तैयार थे, परन्तु चपाती देने वाले नहीं थे। देश की यह हालत थी और इसे मुगल-काल का स्वर्ण-युग कहा जाता है। वास्तव में यह मुगल दरबार और सामन्तों के लिए स्वर्ण-युग रहा होगा। देश के बहुसंख्यकों के लिए तो यह आर्थिक संकट का ही युग था। देश राजे, नवाब और अमीर तथा किसान और अन्य साधारण गरीबों के रूप में दो भागों में विभक्त था और दोनों की स्थिति में जमीन आसमान का अन्तर था। एक अत्यन्त महत्वपूर्ण

तीसरा वर्ग विद्वानों का था, जो बादशाह बड़े, अमीरों और छोटे रईसों के आश्रय में रहता था। कवि और कलाकार इसी वर्ग के प्राणी थे। जो आते तो मध्य-वर्ग से थे, पर रहते थे उच्च वर्ग के आश्रय में। एक बार राजाश्रय प्राप्त करने के बाद इन कवियों और कलाकारों का संबंध निर्धन जनता से टूट जाता था।

सम्राट शाहजहाँ का दरबार कला-प्रियता एवं उसके विकास में अपेक्षाकृत अन्य मुगल सम्राटों से आगे था। ऐश्वर्य और वैभव के क्रोड़ में ही विलास पलता है। इसकी रंचमात्र भी कमी इस समय नहीं थी। चलना-फिरना, हँसना-बोलना, देखना, खाना-पीना, भेंट लेना, स्वीकार करना, इनकार करना सबकी एक विधि थी जिसे राजमहलों से संबंधित लोगों को कला के रूप में सीखना पड़ता था। इस काल की हिन्दी रचनाओं पर इसका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। सम्राटों के रनिवासों पर किया जाने वाला खर्च प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये था। रनिवासों में सुन्दरियों का जमघट लगा रहता था। वृद्धास्त्रियों से जासूसी का काम लिया जाता था। रीतिकाव्य की दूतियाँ बहुत कुछ इनसे मिलती-जुलती हैं।

शाहजहाँ के शासन काल में स्थापत्य कला और चित्र-कला का अद्भुत विकास फारसी और भारती कलाओं के अद्भुत संयोग से हुआ। आगरा में मोती मस्जिद और ताजमहल तथा दिल्ली के लाल किले के स्वर्गिक प्रासादों का निर्माण इसी युग में हुआ। पूर्व में ही कहा जा चुका है कि इस काल के अधिकांश प्रमुख कवि दरबारी थे जिन पर राजमहलों की शृंगारिक प्रवृत्तियों का भरपूर प्रभाव पड़ा। जिन दरबारों में इन कवियों को आश्रय मिला था अथवा जिनमें उन्होंने अपनी रचनाएँ की थीं, उनके दो वर्ग थे। जिनमें एक तो मुगल-सम्राट और उनके अमीरों तथा नवाबों का था और दूसरा छोटे-छोटे हिन्दू राजाओं का। एक में उर्दू और फारसी के शायरों और विद्वानों का जमघट था तो दूसरी ओर उन्हें संस्कृत के विद्वानों के सम्मुख खड़ा होना था, जो उनके लिए एक बहुत बड़ी समस्या थी। संस्कृत वाले शृंगार की मुक्तक रचना लाते थे जिसमें वे नायक-नायिकाओं, ऋतु-वर्णन, नख-शिख आदि की छटा दिखाते थे जिससे हिन्दी वाले को भी वही करना पड़ता था। मुसलमानी दरबारों में "फारसी की रचना प्रेम का ही बँधा-बँधाया विषय लेकर चलती थी, जिसकी जोड़ में हिन्दी कवियों ने शृंगार या नायक-नायिका भेद की रचनाएँ सामने कीं। उधर से वे शेर पढ़ते थे या गजल गाते थे, इधर से ये कवित्त, सवैया या दोहा सुनाते थे।" यही कारण है कि इस युग में प्रबंध काव्यों का नितांत अभाव और मुक्तक काव्यों का अत्यन्त प्रसार मिलता है। इन्हीं सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के प्रभाव में इस काल का सम्पूर्ण साहित्य निर्मित हुआ, जिसकी भूमिका भक्तिकाल में ही प्रस्तुत हो चुकी थी। अवधी और

व्रजभाषा के भक्त कवियों ने जिस हिन्दी साहित्य के भाण्डार को भरा था उसके मंडन एवं अलंकरण तथा शास्त्रीय ग्रंथों के संवर्द्धन का महत्वपूर्ण कार्य इस काल के कवियों द्वारा सम्पन्न हुआ। अवधी भाषा में लिखे गए प्रबंध काव्यों की महती परम्परा का विकास तो इस युग मे नहीं हो पाया, पर व्रजभाषा-काव्य की अभूतपूर्व उन्नति इस काल मे हुई। इसका कारण भी था। व्रजभाषा के माध्यम से भक्ति कालीन कवियों ने कृष्ण के जिस लीलामय जीवन की झांकी प्रस्तुत की थी यह युग उसके नितात अनुकूल था और सामयिक परिवर्तनो के साथ कृष्ण के लीलामय जीवन का एक ओर जहाँ इस काल के कवियों ने अपने ढंग से चित्रण किया, वही दूसर ओर व्रजभाषा-काव्य को शास्त्रीयता प्रदान करने के लिए इस युग के आचार्य कवियों ने इसे पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य के शास्त्रीय ग्रन्थों की छाया मे ला उपस्थित किया। परिणामस्वरूप इस काल में स्वतन्त्र मुक्तकों का निर्माण तो हुआ ही साथ ही नायक-नायिका भेद और अलंकार वर्णन जैसे लक्षण ग्रन्थों का भी निर्माण पर्याप्त मात्रा में हुआ। इस युग के लक्षणकार संस्कृत के आचार्यों से इसलिए भिन्न थे कि इनमें कवि और आचार्य दोनों का समन्वय हुआ था। हिन्दी के आचार्य लक्षणो का निर्माण करते थे और उनके लिए स्वयं उदाहरण भी प्रस्तुत करते थे, जबकि संस्कृत के आचार्यों ने केवल लक्षण लिखे और उनके लिए उदाहरण अन्य कवियों की रचनाओ से उपलब्ध किए गए। पर हिन्दी काव्यों की स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न थी। इस प्रकार की रचनाओं का यहाँ नितान्त अभाव था। इस काल के हिन्दी आचार्य एकाध को छोड़कर मूलतः कवि थे। परम्परा का पालन करने के लिए उन्होंने लक्षण लिखकर अपनी रचनाओं को लक्षण ग्रन्थ का रूप प्रदान कर दिया है। इस प्रकार पायी जाने वाली रचनाओं को यदि हम चाहें तो तीन वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं—एक तो उनमे से वे है जिनमे केवल लक्षणो का ही निर्माण किया गया है। दूसरी वे हैं जिनमें केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किए गए हैं और तीसरी वे है जिनमे लक्षण और उदाहरण दोनो पाये जाते हैं। इसी स्थिति को दृष्टि मे रखते हुए कुछ विद्वानो ने इस काल के समस्त रचनाकारों को 'रीति बद्ध', 'रीति सिद्ध' और 'रीति मुक्त' कवियों के नाम से अभिहित किया है। रीतिकाव्य से तात्पर्य उपर्युक्त लक्षण ग्रन्थो से ही है। संस्कृत साहित्य में जिसे अलंकार-शास्त्र या काव्य-शास्त्र की संज्ञा दी जाती है हिन्दी में उसे ही रीतिकाव्य के नाम से पुकारा जाता है। 'रीति' शब्द का प्रयोग सबसे पहले संस्कृत के आचार्य 'वामन' ने किया और उन्होंने इसे सम्प्रदाय का रूप प्रदान किया। रीति शब्द 'रीङ्' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है गति, मार्ग या प्रस्थान। पर इसका रूढ़ अर्थ है पद्धति, विधि आदि। विशिष्ट पद-रचना को रीति की संज्ञा देते हुए आचार्यों ने रीति को ही काव्य की आत्मा माना है। इस काल के अनेक हिन्दी कवियो ने भी रीति शब्द का प्रयोग

किया है जिनमें कवि देव का नाम उल्लेख्य है। इनके अन्तर्गत आने वाली रचनाएँ शास्त्रीय पद्धति पर लक्षण ग्रन्थ के रूप में एक बँधी-बधायी परिपाटी पर प्रस्तुत की जाती हैं। 'रीति बद्ध' कवियों ने अपनी रचनाएँ इसी शास्त्रीय पद्धति पर की हैं। पर 'रीतिसिद्ध' कवियों ने अपनी रचनाओं में लक्षणों का निर्माण नहीं किया है पर यदि उनकी रचनाओं को यथाक्रम लगाकर अलग से लक्षण बैठा दिए जायँ तो वे भी लक्षण ग्रन्थों की कोटि में रखे जाने योग्य हैं। अर्थात् ऐसे कवि लक्षण ग्रन्थ के निर्माण में सिद्ध तो हैं, पर उन्होंने उस रूप में अपनी रचनाओं को प्रस्तुत नहीं किया है। रीति-मुक्त कवियों में उपर्युक्त दोनों स्थितियों का अभाव मिलता है, पर उन्होंने जो शृंगार-परक रचनाएँ की हैं वे भी अपनी शृंगारिकता के कारण उपर्युक्त रचनाओं के क्रम में देखी जाने लगी हैं और कुछ एक विद्वानों ने इनके नामों के साथ रीति शब्द जोड़ कर इन्हें *'रीति मुक्त' कवि नाम से विभूषित किया है जो कि अनावश्यक-सा* जान पड़ता है। इस प्रवृत्ति के कवियों ने अपनी शृंगार-परक रचनाएँ बिना किसी आग्रह के अपनी मस्ती में की हैं जिनमें अपेक्षाकृत वैयक्तिक अनुभूतियों के दर्शन मिलते हैं।

नामकरण

हिन्दी साहित्य के इस युग को किस नाम से पुकारा जाय, इस सम्बन्ध में हिन्दी के सभी विद्वान एक मत नहीं हैं। आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास, डा० नगेन्द्र और डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी इसे *'रीति काल'* के नाम से अभिहित करते हैं। इसे रीतिकाल के नाम से न स्वीकार करने वालों में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का नाम प्रमुख है। पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र का कहना है कि इसे *'शृंगार काल'* की संज्ञा देनी चाहिए। इस काल की समस्त रचनाओं का यदि अवलोकन किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि इस युग के कवियों की प्रवृत्ति भक्त कालीन कवियों से नितान्त भिन्न थी। लौकिक तथा पारलौकिक सम्बन्धों के जोड़-तोड़ मिलाने में इनकी रुचि बिलकुल नहीं थी। ये शुद्ध मानवीय भावों की अभिव्यक्ति लौकिकता की भूमि पर ही करना चाहते थे। बीच-बीच में इन लोगों ने 'राधा और कन्हाई' का नाम भले ही ले लिया हो, पर इन रचनाओं में आए 'राधा और कन्हाई' भक्त कवियों के राधा और कन्हाई से नितान्त भिन्न थे। कृष्ण के अन्य विविध रूपों की उपेक्षा करके केवल उनके छइल्ल और राधा के अन्य विविध रूपों की उपेक्षा करके केवल उसके डोरे डालने वाली छबीली भाव-भंगिमा को ही इस युग के कवियों ने स्वीकार किया। तद्युगीन कवियों के दृष्टिकोण में उपस्थित यह परिवर्तन उसकाल की विलासी संस्कृति के अनुकूल था, जिसके कारण ही उनकी रचनाएँ अत्यधिक लोकप्रिय हुईं। मुगल सम्राटों के वैभव को प्रदर्शित करने वाली कलात्मक सृष्टि को लोग जिस

चाव से रसमग्न होकर देखते थे, उसी चाव से वे लोग इस काल की शृङ्गारिक रचनाओं को रस विभोर होकर सुनते थे। **यद्यपि समस्त काव्य की प्रसार भूमि सिमिट कर इस काल में नारी के साढ़े तीन हाथ के शरीर में ही समाहित हो गई थी, पर इस काल के कवियों ने नारी सौन्दर्य एवं उसकी आकर्षक भाव-भंगिमाओं की जो जीवन्त अभिव्यक्ति प्रस्तुत की उसमें ऐसा शाश्वत आकर्षण था कि सहृदय नागरिक उसकी उपेक्षा न कर सके।** मतिराम, बिहारी देव, घनानन्द तथा पद्माकर आदि की रचनाओं में जीवन का यही शाश्वत सत्य मुखरित हुआ था जिसके कारण इनकी रचनाएँ उसी चाव से पढ़ी अथवा सुनी जाती थी, जिस चाव से लोग ताजमहल जैसी अनोखी कला-सृष्टि को देखते थे। उस काल की कलात्मक इमारतों के प्रति लोगों का आकर्षण जैसे आज भी बना हुआ है, उसी प्रकार उस काल मे रचे गए सरस एवं सुन्दर मुक्तकों की लोकप्रियता भी अक्षुण्ण है। **इन रचनाओं का प्रमुख आकर्षण केन्द्र उनमें वर्णित सरस एवं सुकुमार शृङ्गारिक भावनाएँ हैं न कि अलंकार एवं छन्दगत उनके चमत्कार।** सम्पूर्ण काव्य की आत्मा कृष्णमय है; भूषण जैसे एकाध कवि भले ही युगीन परिस्थितियों को चुनौती देते हुए खड़े दिखलाई पड़ जायँ। वीरकाल के प्रणेता भूषण भी अपने को शृङ्गारिक भावनाओं से मुक्त नहीं रख सके हैं। अलंकार वर्णन, नायक-नायिका भेद का चित्रण यद्यपि प्रभूत मात्रा में इस काल में मिलता है, पर उसका कोई सुसम्बन्ध व्यवस्थित रूप नहीं बन पाया। आचार्य कवि केशव की प्रेरणा से संस्कृत ग्रन्थों को इस काल के कवियों ने आधार अवश्य बनाया पर किसी एक निश्चित परिपाटी का अनुसरण इन लोगों ने नहीं किया। किसी कवि ने केवल लक्षण लिखे तो किसी ने केवल उदाहरण प्रस्तुत किए। *अधिकांश कवि ऐसे हैं जिन्होंने न लक्षण लिखे और न तो उदाहरण ही प्रस्तुत किए।* बिहारी जैसे एकाध कवि ऐसे भी मिल जायेंगे जिनकी रचनाओं को लक्षण लिखकर उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि **किसी एक शास्त्रीय व्यवस्था का निर्वाह इस काल की रचनाओं में नहीं हुआ है, पर शृङ्गार भावना नामक एक ऐसा तत्व है जो सभी कवियों एवं उनकी कविताओं में समान रूप से पाया जाता है।** ऐसी स्थिति मे यदि हिन्दी साहित्य के इस उत्तर मध्यकाल को किसी नाम से सम्बोधित किया जा सकता है तो वह **'शृङ्गार काल'** ही हो सकता है। इस नाम से इस काल की समस्त रचनाओं का बोध हो सकता है और इसके अन्तर्गत यदि हम चाहें तो सुविधा के लिए इस काल की रचनाओं को **'रीतिबद्ध'** रीतिसिद्ध और **'रीतिमुक्त'** नामक उपशीर्षकों मे विभक्त कर सकते हैं।

प्रेरणा-स्रोत

मुगलकालीन कलात्मक प्रवृत्तियों का समुचित प्रभाव, इस काल की रचनाओं पर पड़ा। इस काल के प्रमुख कवि दरबारी थे जिससे उन पर राजमहलों की शृंगारिक

प्रवृत्तियों का भरपूर प्रभाव पड़ा। मुगलमानी दरबारों में फारसी और देशी यानी हिन्दू दरबारों में संस्कृत के कवियों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था और हिन्दी के कवियों का प्रवेश दोनों दरबारों में हो गया था, जिससे उन्हें दोनों प्रकार की रचनाओं से लोहा लेना पड़ता था। संस्कृत की रचनाओं के अनुसार हिन्दी के कवियों ने नायक-नायिकाओं का वर्णन, ऋतुवर्णन तथा नखशिख आदि की छटाओं का चित्रण किया तथा फारसी कवियों की तौल पर उन्होंने शृङ्गार परक या नायिका भेद सम्बन्धी रचनाएँ प्रस्तुत की। नायक-नायिका को लक्ष्य करके लिखा शृङ्गारपरक साहित्य संस्कृत काव्यों में अपनी पराकाष्ठाओं को पहुँचा था। परिणामस्वरूप 'वात्स्यायन' के 'कामसूत्र' तथा भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' ने इस काल की रचनाओं में विचित्र नायिकाओं का मार्ग प्रदर्शन किया। यह समय ऐसा था जिसमें हिन्दी कवियों के सम्मुख जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया था। उन्हें अपने अस्तित्व और भारतीय प्राचीन संस्कृति और साहित्य की एक साथ रक्षा करनी थी। इसके लिए उन्होंने हिन्दी काव्य को माध्यम बनाया था। मुगलकालीन दरबारों की पूर्ण प्रतिष्ठा करते हुए इस काल के कवियों ने संस्कृत काव्य की समस्त सामग्रियों को हिन्दी में लाने का प्रयत्न किया। यह इसलिए भी आवश्यक था, कि हिन्दू जाति की संस्कृति, सभ्यता, दर्शन एवं चिन्तन का अपरिमेय कोष संस्कृत काव्यों में ही सुरक्षित था। अतः इस काल में श्री मद्भागवत के **'कृष्ण' ही युवती 'राधा' के साथ हिन्दी-शृङ्गारी कवियों के भी नायक हुए, जिसमें भक्त लोग परमानन्द और रसिक लोग शृङ्गार की कामना रखते थे।**

भक्ति तथा शृङ्गार भावना का समन्वय भारतीय काव्य की एक प्रमुख विशेषता रही है। शृङ्गार रस में संयुक्त भक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण व्यास कृत 'भागवत' है। **'व्यास'** कोई शृंगारी कवि नहीं थे, बल्कि एक महान चिन्तक महर्षि थे। **'व्यास'** जी के **सम्बन्ध में** यह बात प्रसिद्ध है कि उनके काव्य में भागवत का स्थान सबसे ऊँचा है। **श्रीमद्भागवत में 'रास पंचाध्यायी' दूध में मक्खन के तुल्य है।** इन्हीं महात्माओं के काव्य का स्वच्छ स्रोत, अनुकूल समय पाने पर ब्रजभूमि में पुनः प्रवाहित हो गया। **ब्रजभूमि तो पूर्ण कला-प्रवीण मुरली मनोहर की रंगस्थली ही थी, और चण्डीदास भी इस भाव से उन्मत्त होकर तन्मय हो गए थे। उनके गीतों और पदों को श्री चैतन्य महाप्रभु नेत्रों में आँसू भरकर गाते थे।** कविवर विद्यापति के समय तक इस प्रकार की रचनाओं का स्वरूप पूर्णतया धार्मिक था। यद्यपि जयदेव की रचनाओं में काम-केलि से सम्बन्धित प्रसंगों का नितान्त अभाव नहीं है और विद्यापति तक आते आते तो उस पर लौकिकता का रंग गाढ़ा होने लगा। उत्तर मध्यकाल तक आते आते इस प्रकार की कविता में भक्ति भावना का सम्बन्ध बिल्कुल छूट सा गया और वह लौकिक भूमि पर उतर आई। इस काव्य के अन्तर्गत दरबारी

तथा भक्तेतर कवियों के नाम आते है, जिनमे गंग, मतिराम, बिहारी और देव आदि कवियो की गणना की जा सकती है।

इस काल में 'सतसइयों' की भी परम्परा सी चल पड़ी थी, पर यह परम्परा हिन्दी की अपनी कोई मौलिक उद्भावना नही थी; बल्कि इस क्षेत्र में हिन्दी को अपने पूर्ववर्ती साहित्य से इसका उत्तराधिकार मिला था। **भारतीय साहित्यमें संख्यापरक ग्रन्थों को प्रस्तुत करने की एक दीर्घ परम्परा वर्तमान थी जिसका लाभ हिन्दी के कवियों को हुआ।** वस्तुतः सात सौ या तीन सौ या फुटकर पद्यो के संग्रह के रूप में काव्य रचना की प्रथा इस देश मे बहुत पुरानी है। **गीता में सात सौ श्लोक हैं, जोड़ बटोर कर चण्डीपाठ के श्लोकों की संख्या भी सात सौ बनाने की कोशिश की गई है।** 'सतसई और सतसैया' शब्द संस्कृत की सप्तशती और 'सप्तशतिका' शब्दों के रूपान्तर है। प्राचीन भारत में कवि लोग प्रायः अपनी फुटकर रचनाओं को संख्या-परक नाम दे दिया करते थे। सतसई अथवा-शतक के नाम से जितने संग्रह उपलब्ध है उन्हें देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उन सग्रहो के अन्दर ठीक-ठीक छन्दों अथवा दोहो की संख्या सात सौ हो नहीं है, पर *यह संख्या लोगों में अत्यन्त प्रिय हुई।* पूर्ववर्ती सतसइयों में भुक्तिपरक और शृंगारपरक दोहे संग्रहीत मिलते हैं, **पर हिन्दी सतसई परम्परा प्रधानतः शृंगार सतसइयों की परम्परा है। इनमें मतिराम सतसई और बिहारी सतसई प्रमुख हैं।**

रीतिकाव्य

इसके पूर्व ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उत्तर मध्यकाल की सम्पूर्ण रचनाओं का बोध, उसे 'रीतिकाल' नाम देने से नहीं हो पाता, पर इस काल के कवि **रीति** शब्द से परिचित अवश्य थे। **संस्कृत का अलंकार शास्त्र या काव्य शास्त्र ही हिन्दी का रीतिशास्त्र है।** *इस काल के अनेक कवियों ने 'रीति' शब्द का प्रयोग किया है।* कवि देव की पुस्तक **'शब्द रसायन'**, भिखारीदास के **'काव्य निर्णय'** तथा पद्माकर और प्रतापसिंह की रचनाओं में 'रीति' शब्द का प्रयोग हुआ है। हिन्दी में यह शब्द बड़े व्यापक अर्थ में गृहीत हुआ है।

काव्य शास्त्र के द्वारा साहित्य-व्यवस्था का महद् कार्य सम्पन्न होता है। काव्य शास्त्र *यह कार्य अपने जिन विभिन्न शास्त्र अंगो के माध्यम से करता है* उन्हें विद्वानो ने **'रस', 'अलंकार रीति', 'वक्रोक्ति', 'ध्वनि'** तथा **'औचित्य'** छः सम्प्रदायों मे विभक्त किया है। पर हिन्दी कवियों ने केवल **'रीति'** शब्द को ग्रहण किया। **काव्य रचना के नियमों की व्याख्या करने वाले को रीति ग्रन्थ और उन नियमों के अनुसार काव्य-**

रचना को हिन्दी में रीतिकाव्य कहा जाता है। इसे ही लक्षण और लक्ष्य ग्रन्थ के रूप में भी स्वीकार किया गया है।

संस्कृत के आचार्यों ने 'रीति' को जब सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया तो उसके पूर्व भी रीति शब्द का अस्तित्व था। 'भरत' के 'नाट्य शास्त्र' में 'रीति' का प्रत्यक्ष विवेचन तो नहीं मिलता, परन्तु उसमें विभिन्न देशों में प्रचलित चार प्रवृत्तियों का उल्लेख मिलता है। 'रीति' शब्द का प्रयोग सबसे पहले 'वामन' ने ही किया और इसी आचार्य ने नवीं शताब्दी के मध्य में इसे सम्प्रदाय का रूप प्रदान किया। उन्होंने 'विशिष्ट पद-रचना से रीति का अर्थ लेते हुए रीति को ही काव्य की आत्मा माना है। आचार्य वामन से पूर्व दण्डी ने और बाद में कुन्तक आदि ने 'रीति' के लिए 'मार्ग' शब्द का ही प्रयोग किया है। इस प्रकार समय-समय पर संस्कृत के आचार्यों ने जिन संस्कृत ग्रंथों की रचना की वे ही हिन्दी रीति काव्यकारों के आधार बने। संस्कृत साहित्य और काव्य शास्त्र से हिन्दी कवियों का सम्पर्क बराबर बना रहा। हिन्दी काव्यशास्त्र का प्रथम आचार्य किसे माना जाय इस सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हो पाए हैं। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार 'पुष्प' नाम का एक कवि था, जिसने सातवीं शताब्दी में काव्यशास्त्र पर एक अलंकार ग्रन्थ हिन्दी में लिखा था, पर प्रमाण के अभाव में लोग इस कथन को स्वीकार करने में हिचकते हैं। 'पुष्प' कवि की रचना के अप्राप्य होने के कारण 'कृपाराम' की 'हित तरंगिणी' ही इस रीति पर लिखी सर्व प्रथम काव्यशास्त्र-सम्बन्धी पुस्तक है जो उपलब्ध है। संवत् १५९८ (सन् १५४१ ई०) में कृपाराम ने इस ग्रन्थ को लिखा था जिसमें रसों का कुछ निरूपण है। इस पर भरत के 'नाट्यशास्त्र' और भानुदत्त कृत 'रस मंजरी' का प्रभाव है। जिन काव्य शास्त्रकारों की रचनाएँ उपलब्ध हैं उनमें 'मोहनलाल जी' मिश्र दूसरे काव्यकार हैं, जिन्होंने सं० १६१६ (सन् १५५९ ई०) में 'श्रृंगार सागर' नामक बड़ा ग्रंथ रचकर नायक-नायिका भेद तथा अलंकार आदि का साधारण विवेचन किया। 'नन्ददास' की रस मंजरी भी नायिका भेद-ग्रंथ है जिसमें उन्होंने 'भानुदत्त' कृत 'रस मंजरी' का अनुकरण किया है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ दोहे और चौपाई में ही लिखा गया है। 'बलभद्र मिश्र' की नखशिख 'अब्दुर्रहीम खानखाना' की 'बरवै नायिका भेद' तथा करनेस की 'करणाभरण' 'श्रुतिभूषण' और 'भूप-भूषण' अलंकार पर लिखी गई रचनाएँ हैं। 'रहीम' के बरवै नायिकाभेद में लक्षण न प्रस्तुत करके केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किए गये हैं।

'केशवदासजी' हिन्दी के प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य के सभी अंगों का सम्यक्-विवेचन किया है। इनके बाद पचास वर्षों तक काव्यशास्त्र पर कोई अच्छा रीति-ग्रन्थ नहीं लिखा गया। इन्होंने संस्कृत की आचार्य-परम्परा हिन्दी में आरम्भ

की। 'केशवदासजी' चमत्कारवादी थे जिससे आलंकारिक सिद्धान्तों पर श्रद्धा रखते थे। अतः इन्होंने संस्कृत के प्राचीन आलंकारिकों—भामह, दण्डी तथा उद्भट आदि को ही अपने विवेचन का आधार बनाया है। इनके द्वारा आनन्दवर्द्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ आदि के ग्रंथ आधार नहीं बन सके। इनकी परम्परा आगे के आचार्यों द्वारा स्वीकृत नहीं हो सकी। इनके पश्चात् मतिराम और चिन्तामणि के साथ जो परम्परा चली उनके लिए 'चन्द्रालोक' 'कुवलयानन्द' 'काव्य प्रकाश' तथा साहित्य दर्पण आदि ग्रंथ ही आधार माने गए। केशवदास ने 'साधारण' और 'विशिष्ट' नाम के अलंकारों के दो वर्ग बनाए, किन्तु न तो उन्होंने उनकी परिभाषा ही दी और न विवेचन ही किया। 'रसिक प्रिया' (संवत् १६४८, सन् १५९१ ई०) और 'कवि प्रिया' (सं० १६५८, सन् १६०१ ई०) इनके प्रमुख शास्त्र ग्रन्थ है, जिनमे क्रम से उन्होंने रस और अलंकारो का वर्णन किया है। मतिराम, चिंतामणि तथा भूषण के लक्षण ग्रंथों का विशेष महत्व है। मतिराम में कवि और आचार्य का अद्भुत समन्वय हुआ था। 'रसराज' संवत् १६९१ (सन् १६३४ ई० के लगभग) में लिखा, इनका नायिका भेद ग्रंथ है तथा 'ललितललाम' लगभग संवत् १७१६ और १७४५ अर्थात् सन् १६५९ और १६८८ के बीच में लिखा गया जिसमे इन्होंने अलंकारो का वर्णन किया है, पर जो उदाहरण इन्होंने प्रस्तुत किए हैं उनमें इनके सुन्दर कवि रूप का परिचय मिलता है। 'चिन्तामणि' ने संवत् १७०७ (सन् १६५० ई०) मे 'कवि कुल कल्पतरु' नाम से काव्य शास्त्र पर ग्रंथ लिखा तथा इसके सिवाय उन्होंने पिंगल पर 'छन्द विचार' नाम से एक ग्रंथ और लिखा। 'काव्य विवेक' तथा 'काव्य प्रकाश' भी इनके ग्रंथ कहे जाते हैं। खोज से 'रसमंजरी' नामक एक और रचना का पता लगा है। 'भूषण' ने 'शिवराज भूषण' नामक अलंकार ग्रंथ लिखा। यशवन्त सिंह का 'भाषा भूषण' अलंकार ग्रंथ है जिसे उन्होंने कठस्थ करने के लिए लिखा है। कुलपति मिश्र ने 'रस रहस्य' नामक ग्रंथ संवत् १७२७ (सन् १६७० ई०) में लिखा, जिसमे कहीं-कहीं गद्य में टीका भी दी गई है। नखशिख पर भी इनका एक ग्रंथ मिला है। सुखदेव ने सात-आठ ग्रन्थ लिखे। इनके 'वृत्ति विचार' 'छन्द विचार', 'रस वर्णन' आदि काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। इन्होंने अपने दो ग्रन्थो मे संवत् १७२८ अर्थात् सन् १६७१ ई० (वृत्ति-विचार) तथा संवत् १७३३ अर्थात् सन् १६७६ ई० (छन्द विचार) रचना काल दिया है। कालिदास का ग्रन्थ 'वरवधू विनोद' प्रसिद्ध है जिसमें नायिका भेद का वर्णन है।

'देव' का स्थानकवि और आचार्य दोनों दृष्टियो से बहुत ऊंचा है। इन्होंने 'भाव विलास', 'भवानी विलास', 'सुजान विनोद', 'सुख सागर तरंग', 'काव्य रसायन', 'कुशल विलास' आदि अच्छे काव्य शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थो की रचनायें की है। इनके ग्रन्थो मे पूर्वाचार्यों से कुछ भिन्न विशेषताएँ हैं। इन्होंने विभिन्न प्रकार की स्त्री जातियों

और दूतियों आदि का वर्णन किया है। **ये संयोगको वियोग के बाद मानते हैं। सूरति मिश्र ने** संवत् १७६६ (सन् १७०९ ई०) में **'अलंकार माला'** नामक अलंकार ग्रन्थ लिखा। इन्होंने नायिका भेद ग्रन्थ भी लिखे हैं। इन्होंने एक ही दोहे में अलंकारों के लक्षण **और** उदाहरण दोनो प्रस्तुत किए हैं। **श्रीपति** ने काव्य के प्रायः सभी अंगों पर लिखा है। इनका **'काव्य सरोज'** संवत् १७७७ वि० (सन् १७२० ई०) की रचना है। जिसमें **'कल्पद्रुम'** का भी उल्लेख है। इसके सिवाय **'अलंकार गंगा'** तथा **'विक्रम विलास'** भी इनके लिखे ग्रन्थ माने जाते हैं। **भिखारीदास** जी प्रथम श्रेणी के आचार्यों में माने जाते हैं। इन्होंने आठनौ ग्रन्थ लिखे जिनमें **'छन्दोर्णव'** (सं० १७९९, सन् १७४२ ई०) **'काव्य निर्णय'** (सं० १८०३, सन् १७४६ ई०) तथा **'शृंगार निर्णय'** अत्यन्त महत्व के हैं। इन्होंने **'रससारांश'** (सं० १७९९, सन् १७४२ ई०) में शृंगार रस का प्रधानतः तथा अन्य रसों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। **तोषनिधि** ने (संवत् १७९१, सन् १७३४ ई०) में **'सुधानिधि'** नामक एक बड़ा ग्रंथ ५६० छन्दों में लिखा। सं० १७९४ (सन् १७३७ ई०) में **सोमनाथ** ने **'रसपीयूष निधि'**, सं० १७९६ (सन् १७३९ ई०) में रघुनाथ ने अलंकारों पर **'रसिक मोहन'** तथा सं० १८०२ (सन् १७४५ ई०) में भाव, रस तथा नायिका भेद पर **'काव्य कलाधर'** नामक ग्रन्थों की रचना की। **दूलह** का **'कविकुल कंठाभरण'** नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ **'चन्द्रालोक'** के आधार पर लिखा अलंकार ग्रन्थ है। **बेनीप्रवीण** ने **'नवरसतरंग'**, **'शृंगार भूषण'** तथा **'नाना भाव प्रकाश'**, ग्रन्थ लिखे। **पद्माकर** का **'पद्माभरण'** (सं० १८६७ अर्थात् सन् १८१० ई०) अलंकार ग्रन्थ है। काव्य की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। इसके अतिरिक्त **'प्रताप साहि'** ने अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। **गिरधरदास** का अलंकारों पर, तथा **'सरदार'** का ऋतुओं पर लिखा ग्रन्थ है। इस प्रकार **कृपाराम** से लेकर **पद्माकर'** के बाद तक हिन्दी काव्य शास्त्र-ग्रन्थों का निर्माण होता रहा।

स्वरूप

हिन्दी के पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य के आचार्यों और कवियों की अपनी सीमायें थीं। आचार्य केवल लक्षण लिखने का कार्य करते थे और उदाहरण के लिए अन्य कवियों की रचनाओं का उपयुक्त उद्धरण प्रस्तुत करते थे। **हिन्दी में आचार्य और कवि का भेद मिटकर दोनों धर्म एक ही व्यक्ति में आ गये जिसमे हिन्दी का आचार्य कवि और आचार्य दोनों है।** हिन्दी में काव्यशास्त्र सम्बन्धी प्राप्त सामग्री को मुख्यतः चार वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं। प्रथम तो वे हैं जिनमे काव्यशास्त्र के समस्त या अधिकांश अंगों का वर्णन मिलता है। इन्हें ही वास्तविक काव्यशास्त्र-ग्रन्थ समझना चाहिए। दूसरे वे ग्रन्थ हैं जो केवल अलंकार पर लिखे गए हैं। तीसरे प्रकार के

ग्रन्थ केवल रसों के वर्णन के लिए लिखे गए हैं और चौथे वे ग्रन्थ हैं जिनमें केवल शृंगार रस या नायिकाभेद अथवा दोनों का वर्णन पाया जाता है। इस काल के कवियों एवं आचार्यों की प्रवृत्ति नायक-नायिका भेद तथा अलंकार ग्रन्थ प्रस्तुत करने की ओर विशेष रही है।

हिन्दी के आचार्यों की स्थिति संस्कृत के आचार्यों की-सी नहीं रह सकी क्योंकि उन्हें मूल रूप में लक्षणों का निर्माण नहीं करना था, बल्कि संस्कृत के शास्त्रग्रन्थों का भाषान्तर करके हिन्दी में सर्वसुलभ बनाना था। यही कारण है कि हिन्दी के अधिकांश आचार्य कवि भी हैं और उदाहरण देने के लिए उन्होंने स्वयं कविताएँ भी गढ़ी हैं जिससे अलंकार आदि प्रयोग उनकी कविताओं में साधन न होकर साध्य हो गये हैं। इस संदर्भ में केशव का नाम लिया जा सकता है। कुछ आचार्य कवि तो ऐसे है जो मूलतः कवि है, किन्तु रीति-काव्य परम्परा का निर्वाह करने के लिए ही उन्होंने लक्षण प्रस्तुत किए है, ऐसा जान पड़ता है। क्योंकि उनकी रचनाओं मे आचार्यत्व की अपेक्षा काव्यत्व अधिक प्रौढ रूप में दिखाई पड़ता है। महाकवि मतिराम का 'ललित ललाम' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इस काल के कुछ कवियों को छोड़कर प्रायः सभी कवियों ने काव्यशास्त्र के एक-एक अंग को लेकर अपर्याप्त, अस्पष्ट तथा कहीं-कहीं भ्रामक परिभाषाएँ देकर उनके उदाहरण लिखने में अपनी सारी कवित्व शक्ति लगा दी है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार संस्कृत में आचार्यों का वर्ग अलग था, हिन्दी में न हो सका। इसका मुख्य कारण हिन्दी के आचार्यों मे मौलिकता का अभाव ही है। ये कविगण भाषा पर भी नियन्त्रण नहीं रख सके और 'भाव अनूठो चाहिए भाषा कैसिहु होय' का सिद्धान्त प्रसारित हो गया, जिससे इस काल के आचार्य कवि शब्दों को तोड़-मरोड़ कर प्रयोग करने तथा ब्रज, अवधी आदि शब्दों को सुविधानुसार मिश्रण करने का लोभ संवरण नही कर सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल में काव्यशास्त्र-सम्बन्धी नियमों को गम्भीरता-पूर्वक नही लिया गया।

ऐसे अनेक रचनाकार इस युग मे हुए जिन्होंने केवल लक्षण ग्रन्थों की ही रचना की है और कुछ ऐसे हुए जिन्होंने लक्षणों के साथ उदाहरणों की भी रचना की है। रहीम खानखाना ने केवल उदाहरणों की ही रचना की है। महाराजा जसवन्त सिंह के 'भाषा भूषण' में दोहों में लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। उन्होंने दोहे के प्रथम चरण मे अलंकार का लक्षण और दूसरे में उदाहरण प्रस्तुत किया है। आगे चलकर 'सूरति मिश्र', भूपति, 'शम्भूनाथ', 'ऋषिनाथ' तथा 'महाराज रामसिंह' आदि ने इसी शैली का अनुकरण किया है। 'दलपति राय', 'वंशीधर', 'प्रतापसिंह' और 'गुलाब' कवि ने 'भाषा भूषण' के तिलक रूप मे रचनायें प्रस्तुत की। ये वस्तुतः लक्षण ग्रन्थ हैं क्योंकि काव्य रचना की दृष्टि से इनकी रचना नहीं हुई है।

'पद्माकर' ने भी 'भाषाभूषण' की परम्परा को आगे बढ़ायी, पर उन्होंने केवल अनुकरण मात्र ही नहीं किया। इन्होंने दोहों के अतिरिक्त अनेक छन्दों का समावेश अपनी रचना में किया। 'ऋषिनाथ' और 'शम्भूनाथ मिश्र' ने कवित्त सवैयों का भी प्रयोग किया तथा 'शम्भूनाथ' ने तो गद्य का भी सहारा लिया। 'दलपति' और 'वंशीधर' ने अलंकार की शिक्षा देने के लिए 'अलंकार रत्नाकर' की रचना की। 'श्रीपति' और 'सुरति मिश्र' गम्भीर विवेचक थे। इन लोगों ने पूर्ववर्ती कवि केशव, मतिराम, सेनापति, देव और बिहारी आदि की सुन्दर रचनाओं से उदाहरण भी दिए हैं, तथा भावों को स्पष्ट करने के लिए यत्र-तत्र गद्य का भी सहारा लिया है।

मतिराम, भूषण, दूलह, दत्त, ग्वाल और प्रतापसाहि आदि ने उदाहरणों पर जितना अधिक ध्यान दिया है, उतना लक्षणों पर नहीं। इस काल के आचार्य कवि ऐसे नहीं रहे हैं कि उन्हें किसी सम्प्रदाय विशेष में माना जा सके। इनमें से अधिकांश ने अलंकार और रस दोनों ही ग्रन्थों की रचना की है। अतः आचार्यों के अनुसार वर्गीकरण सम्भव नहीं, बल्कि ग्रन्थों के आधार पर वर्गीकरण किया जा सकता है। अलंकारों से सम्बन्धित आचार्य कवियों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इन्हीं आचार्यों में से अधिकांश कवियों ने रस-सम्बन्धी ग्रन्थों का भी निर्माण किया।

शृंगार रस से पूर्ण नख-शिख और नायिका भेद ग्रन्थों के रचयिताओं में 'केशव', 'मतिराम', 'सुखदेव', 'दास', 'तोष', 'प्रवीन' और पद्माकर' प्रमुख हैं। इनमें से 'केशव' एक ऐसे आचार्य हैं जो केवल शृंगार रस तक ही सीमित न रहकर वीभत्स, हास्य, रौद्र आदि रसों का भी वर्णन करते हैं। **केशव मूलतः चमत्कारवादी थे, पर मतिराम देव और पद्माकर शृंगार को 'रसराज' माननेवालों में से हैं।**

रीति परम्परा के अन्तर्गत आने वाले कवियों में चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, देव, सुरति मिश्र, भिखारीदास, सोमनाथ और प्रताप साहि का नाम प्रमुख है। इन्होंने क्रम से अपनी रचनाओं, 'कवि कल्प' और 'काव्य विवेक', 'रस रहस्य', 'रसायन', 'काव्य सिद्धान्त', 'काव्यनिर्णय', 'रस-पीयूष' और 'काव्य विलास' में काव्य के सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। इन ग्रन्थों में 'काव्य प्रकाश' को आधार बनाया गया है। इस प्रकार इस काल में तीन प्रकार की शैलियों में ग्रन्थ-रचना हुई है। इसके अतिरिक्त भक्तिपरक, नीति-सम्बन्धी तथा वैयक्तिक अनुभूतियों से प्रेरित उदात्त प्रेम को अभिव्यक्ति प्रदान करनेवाली स्वच्छन्द कविताएँ इस काल में भी लिखी गई हैं तथा यत्र-तत्र वीर और रस प्रधान रचनाएँ भी हुईं, पर इन रचनाओं के प्रणेताओं ने भी मुख्यतः नायिका भेद नखशिख तथा अलंकार वर्णन ही किया है। ऐसे सभी कवियों का मुख्य स्वर शृंगार ही रहा है, जिससे इनकी चर्चा शृंगार के अन्तर्गत ही समीचीन जान पड़ती है।

केशवदास

इनका जन्म संवत् १६१२ (सन् १५५५ ई०) में और मृत्यु सं० १६७४ (सन् १६१७ ई०) के आस-पास हुई। इनकी रचना 'कविप्रिया' में इनका कुछ परिचय प्राप्त होता है जिसके अनुसार ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। पं० कृष्णदत्त इनके बाबा और पं० काशीनाथ इनके पिता थे। परंपरागत कई पीढ़ियों से केशव के पूर्वज राजसम्मान प्राप्त करते चले आए थे। ओड़छा नरेश महाराज रामशाह के अनुज इन्द्रजीत सिंह केशवदास जी को गुरुतुल्य मानते थे। ये उनके मंत्री, गुरु और राजकवि सब कुछ थे। स्वयं महाराज रामशाह 'केशव' को अपना मंत्री और मित्र मानते थे तथा उनके भाई वीरसिंह देव ने भी इन्हें सम्मानित किया था। संस्कृत का पठन-पाठन इनके घराने में परम्परा से चला आ रहा था, जिसके कारण इन्हें भी संस्कृत साहित्य का विस्तृत अध्ययन करना पड़ा। पर ये दूरदर्शी आचार्य थे और इन्होंने पारिवारिक परम्परा के प्रतिकूल अपनी रचनाएँ हिन्दी में प्रस्तुत कीं। 'केशव' बड़े रसिक जीव थे और वृद्धावस्था तक इनकी यह रसिकता बनी रही, जो इस दोहे से स्पष्ट है—

'केसव केसन अस करी, जस अरिहू न कराहिं।
चन्द्रबदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं॥'

इनके सम्बन्ध में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, जिनमें से प्रेत यज्ञ कराना भी है। इन्द्रजीत सिंह की प्रिय वेश्या प्रवीणराय जिसे वे पत्नीवत् मानते थे, आचार्य केशव की शिष्या थी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि प्रवीणराय को शिक्षा देने के लिए ही केशव ने अपनी पुस्तक 'कवि प्रिया' और 'रसिक प्रिया' की रचना की थी। प्रवीणराय के गुण और रूप की ख्याति सम्राट् अकबर तक भी पहुँची थी और उसने इन्द्रजीत से प्रवीणराय को माँगा भी था। इन्द्रजीत के अस्वीकार कर देने पर अकबर ने उन पर एक करोड़ का जुर्माना किया था जिसे बीरबल की सहायता से 'केशव' ने माफ कराया था। बीरबल ने केवल 'केशव' की पैरवी ही नहीं की थी, बल्कि उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर उन्होंने इन्हें छः लाख रुपए का पुरस्कार भी दिया था। केशव को अपने पाण्डित्य पर गर्व था। कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास से भी इनकी भेंट हुई थी और उन पर यह प्रकट करने के लिए कि वे केवल 'प्राकृत-जन' का ही गुणगान नहीं करते, 'रामचन्द्रिका' भी लिख सकते हैं, उन्होंने प्रतिक्रिया स्वरूप 'रामचन्द्रिका' की रचना की थी। अपने व्यक्तित्व को अस्तित्व प्रदान करने के लिए 'केशव' सदा सतर्क रहते थे। राजाश्रित कवि होते हुए भी उन्होंने कभी भी अपने को आश्रित नहीं समझा और अपने स्वाभिमान की उन्होंने बराबर रक्षा की। कहा जाता है कि इन्द्रजीत सिंह ने एक बार गंगा में खड़े होकर इनसे वर माँगने को कहा—

"इन्द्रजीत तासों कह्यो माँगन मध्य प्रयाग ।
मांग्यो सब दिन एक रस कीजै कृपा समाज ।"

पर इन्हें अब धन-दौलत की कामना नहीं थी, वे केवल यश के लोभी थे। ओड़छा इनकी जन्म भूमि थी जिसके प्रति इनके मन में बहुत आदर था—

"नदी बेतवे तीर जहँ तीरथ तुंगारन्य ।
नगर ओड़छा बहु बसैं धरनी तल में धन्य ।"

'रसिकप्रिया', 'रामचन्द्रिका', 'नख-शिख', 'कविप्रिया', 'रतन बावनी', 'बीरसिंह देव चरित', 'विज्ञान गीता' और **'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका'** इनकी प्रामाणिक रचनाएँ हैं।

'रसिक प्रिया' की रचना संवत् १६४८ (सन् १५६१ ई०) में हुई। इसमें रस-विवेचन और नायिका भेद वर्णन है। शृंगार रस की इसमें प्रधानता है।

'कविप्रिया' की रचना संवत् १६५८ वि० (सन् १६०१ ई०) में हुई। यह 'केशव' द्वारा विरचित **अलंकार ग्रन्थ है जिसमें काव्यरीति, अलंकार तथा कवि-पंथ का विवेचन है।** 'रसिक प्रिया' और 'कवि प्रिया' के सम्बन्ध में यह प्रचलित है कि 'केशव' ने इन्द्रजीत की प्रिया और अपनी शिष्या प्रवीणराय को शिक्षा देने के लिए इन ग्रन्थों की रचना की थी। प्रवीणराय ने भी कविताएँ लिखी हैं।

'कविप्रिया' के चौदहवें प्रभाव के अन्त में 'नखशिख' को प्रसंगवश समाविष्ट कर लिया गया है। इसमें राधा जी का नखशिख वर्णन है। कुछ लोगों का मत है कि **'नखशिख'** स्वतन्त्र रचना है और इसका रचना-काल संवत् १६५८ वि० (सन् १६०१ ई०) है। **'रामचन्द्रिका'** की रचना संवत् १६५८ (सन् १६०१ ई०) में हुई। यह एक **प्रबन्ध काव्य है** और इसमें राम का चरित्र वर्णित है, पर **केशव के राम में तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम का स्वरूप सुरक्षित नहीं रह पाया है।** इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में यह प्रचलित है कि केशव ने इसकी रचना एक रात में ही कर डाली थी। इस ग्रन्थ में कथात्मकता का अभाव है साथ ही पाण्डित्य प्रदर्शन के प्रति इतना आग्रह दिखलाई पड़ता है कि वर्ण्य विषय के प्रति कहीं भी न्याय नहीं हो पाया है। इसमें इतने प्रकार के छन्दों का समावेश हुआ है कि यह अलंकार और छंद शास्त्र का ग्रन्थ जान पड़ता है। लगता है इन छन्दों की रचना अलंकार और छंद की दृष्टि से केशव ने विभिन्न अवसरों पर की थी और बीच-बीच में कुछ नवीन छंदों को जोड़कर इसे एक रात में प्रबन्ध का रूप दे दिया होगा। जिस सामंती जीवन की सुविधाओं का 'केशव' उपभोग कर रहे थे, उसकी सारी विशेषताओं का आरोप उन्होंने 'रामचन्द्रिका' में किया है। **मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित्र**

इसमें मध्यकालीन नायक और माता सीता का चरित्र मध्यकालीन नायिका के रूप में चित्रित किया गया है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि केशव ने भक्ति-भावना से प्रेरित होकर इस काव्य की रचना नहीं की थी।

केशव ने 'पंचवटी' प्रसंग में सीता को वीणा बजाकर राम को रिझाते हुए चित्रित किया है। रावण वध के पश्चात् जब राम अयोध्या लौटते हैं तो उन्हें मध्यकालीन सामन्तों की भाँति जलक्रीड़ा करते दिखलाया गया है। राम सीता की दासियों के साथ भी क्रीड़ा करते चित्रित किये गए हैं। 'केशव' के सम्मुख **जे सपनेहुँ पर नारि न हेरी'** वाला राम का रूप नहीं था, बल्कि उनकी आँखों के सामने इन्द्रजीत सिंह का विलासी अखाड़ा था जिसके वे स्वयं एक खिलाड़ी थे। चरित्र-चित्रण में तो केशवदास भी बुरी तरह असफल रहे हैं। **उन्होंने 'राम' को उग्र रसिक और स्त्रैण रूप में चित्रित किया है तथा सीता के आदर्श चरित्र की भी रक्षा वे नहीं कर सके हैं।**

संवाद की दृष्टि से **रामचन्द्रिका** का विशेष महत्व माना जाता है। दरबारी कवि होने के नाते संवाद कला मे केशव स्वयं पटु थे। यही कारण है कि इनके संवाद अच्छे बन पड़े हैं। इसमें आए **'रावण-बाणासुर-संवाद', 'सूर्पणखा-राम-संवाद', 'सीता-रावण-संवाद', 'सीता-हनुमान-संवाद'** तथा **'रावण-अंगद-संवाद'** प्रमुख माने जाते हैं। यद्यपि ये सवाद केशव की मौलिक उद्भावनाएँ नहीं हैं क्योंकि ये संस्कृत की प्रसिद्ध रचनाओं **'प्रसन्न राघव'**, तथा **'हनुमन्नाटक'** से लिए गये हैं और उनके छायानुवाद है, पर अलंकारों से बोझिल इस रचना मे ये संवाद पाठक को थोड़ी-सी राहत प्रदान करते हैं जिससे वह अपेक्षाकृत इन पर मुग्ध हो जाता है। रामचन्द्रिका के संवादों में नाटकीयता का पूर्ण निर्वाह हुआ है और छन्द की एक-एक पंक्ति मे दो पात्रों का परस्पर संवाद समाप्त कर देना 'केशव' की अपनी मौलिक विशेषता है। इससे इतना तो कहा ही जा सकता है कि हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों में इतना जीवन्त सवाद लिखने में कोई भी कवि समर्थ नहीं हो सका है।

'विज्ञान गीता' मे केशव के दार्शनिक विचारों का संकलन है। **'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका'** तथा **'वीरसिंह देव चरित्र'** में जहांगीर और वीरसिंह का यश वर्णन है।

काव्यगत विशेषता

'केशव' की क्लिष्ट कल्पना और उनके काव्य की दुरूहता को देखकर लोगों ने उन्हें **'कठिन काव्य का प्रेत'** कहा है। आचार्य 'रामचन्द्रजी शुक्ल' ने तो स्पष्ट घोषित कर दिया है कि **'केशव को कवि हृदय नहीं मिला था'** जिसका यह परिणाम हुआ कि परिस्थितियों के सन्दर्भ मे लोगों ने केशव-काव्य का सहृदयतापूर्वक मूल्यांकन

नहीं किया। इस समय देश पर मुसलमानों का शासन था। मुसलमान एक ऐसी जाति थी कि जिसने अपने को हिन्दुओं से सदैव अलग रखा। मुसलमानों का आगमन ही धार्मिक दुराग्रह के साथ हुआ था, जिसे वे हिन्दुत्व को मिटा कर स्थापित करना चाहते थे। ऐसी परिस्थिति में संस्कृत सीखना, उनके लिए कदापि सम्भव नहीं था क्योंकि उसमें हिन्दू जाति की संस्कृति, सभ्यता, दर्शन एवं चिन्तन का अपरिमेय कोष रक्षित था। आचार्य केशव ने इस समस्या की गम्भीरता को समझा था और उन्हें स्पष्ट रूप से इसका ज्ञान हो गया था कि थोड़े ही समय बाद एक समय ऐसा आयेगा जब कि हिन्दी के कवि चमन और बुलबुल के बीच ही दिखलाई पड़ेंगे तथा भारतीय साहित्य की समस्त सामग्री शराब की सुर्खी में डूब जायेगी। 'केशव' संस्कृत के महान् पंडित और आचार्य थे जिनसे हिन्दी में रचना करते समय उन्हें संकोच हो रहा था—

"भाषा बोल न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाषा में कविता करी जड़ मति केशवदास॥"

उन्होंने हिन्दी काव्यशास्त्र को एक परम्परा का रूप इसीलिये देना चाहा कि इसी बहाने संस्कृत काव्य की अमूल्य सामग्री क्रमशः हिन्दी काव्य में आ जायगी और साधारण कवियों को काव्य रचना का उससे निर्देश भी मिलता रहेगा। जो लोग 'केशव' की काव्य-कामना को नहीं समझ पाते वे लोग उसमे मौलिकता का अभाव देखते हैं और उन्हे हृदयहीन बतलाते हैं। आचार्य केशव का मुख्य उद्देश्य संस्कृत काव्य की उपादेय सामग्री को हिन्दी में सर्वसुलभ बनाना था।

हिन्दी काव्यशास्त्र की शुद्ध साहित्यिक परम्परा में आचार्य केशव का नाम सर्वप्रथम है। संस्कृत काव्यशास्त्र के महान् पण्डित होने के कारण इनका आचार्यत्व संस्कृत साहित्य के आचार्य ग्रन्थों से प्रभावित है। मौलिकता के अभाव में केशव का पाण्डित्य अपने परम्परा का निर्माण तो नहीं कर सका, पर उसने परवर्ती हिन्दी कवियों को प्रेरणा अवश्य प्रदान की। इन्होंने काव्य के लिए चमत्कार को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। केशव आलंकारिक सिद्धान्तों पर श्रद्धा रखने वाले थे। अलंकारों के अभाव में काव्य सुषमा की कल्पना केशव के लिए कठिन है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥

केशव' ने अपनी काव्य रचना प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार की शैलियों में की है। काव्यशास्त्र के ऐसे चपेट में केशव पड़े रहे कि वे अपने कवित्व का परिचय नहीं दे पाए। प्रबन्धों के सम्वाद शैली में लिखे जाने के कारण उनमें प्रबन्ध-योजना

का निर्वाह नहीं हो पाया है तथा मुक्तको में भी किसी व्यवस्थित योजना का इसलिए अभाव दिखलाई पड़ता है कि वे किसी-न-किसी लक्षण के उदाहरण रूप में ही प्रस्तुत किए गए हैं।

केशव ने अपने काव्य को भरसक अलंकारों से सजाने की चेष्टा की है, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनकी **कविता अलंकारों के बोझ से दब-सी गई है।** केशव की 'कवि प्रिया' तो अलंकार का लक्षण ग्रन्थ है ही। इसके अतिरिक्त इनकी अन्य रचनाओं में अलंकारों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, विभावना, अपन्हुति और अतिशयोक्ति 'केशव' के प्रिय अलंकार है, ऐसा 'रसिक प्रिया' से ज्ञात होता है। 'रामचन्द्रिका' के प्रत्येक छन्द मे एक से अधिक अलंकारों का प्रयोग हुआ है। उत्प्रेक्षा, रूपक, श्लेष, परिसंख्या, अतिशयोक्ति, विभावना, सन्देह, विरोधाभास, उपमा, अनुप्रास, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति आदि अलंकारो का अत्यधिक प्रयोग 'रामचन्द्रिका' में हुआ है। 'रसिक प्रिया' मे शृंगारिक योजना की ओर ध्यान रहने के कारण अलकारों का प्रयोग परिस्थितियो के अनुकूल ही हुआ है पर 'रामचन्द्रिका' मे अनेक स्थानो पर अनौचित्य आ गया है। **अलंकार वर्णन के आग्रह के कारण केशव ने पात्र, परिस्थिति और कथाक्रम की बिल्कुल उपेक्षा कर दी है।** राम वन-गमन के अवसर पर 'तुलसी' ने ग्रामीण स्त्रियों की स्वाभाविक उक्तियों का कितना हृदयहारी चित्र खींचा था, पर 'केशव' की ग्रामीण स्त्रियाँ मार्ग में सीता के मुख को देखकर 'श्लेष', 'उपमा', 'अनन्वय' तथा 'विरोधाभास' आदि अलंकारों की ऐसी झड़ी लगा देती है कि वे अलंकार शास्त्र की पण्डिता जान पड़ती है। उपमान ग्रहण करने मे भी 'केशव' ने गड़बड़ी की है और उन्होंने राम को उलूक और ठग बना दिया है—

'बासर की सम्पत्ति उलूक ज्यों न चितवत,
चकवा ज्यों चंद चितै चौगुनो चँपत है। (रामचन्द्रिका)

× × ×

किधौं कोऊ ठग हौ ठगोरी लीन्हे किधौं तुम
हर हरि श्री हौ सिवा चाहत फिरत हौ। (रामचन्द्रिका)

इसी प्रकार उन्होंने ब्रह्मा के सिर पर विष्णु को बैठाया है और चन्द्रमा को 'अंगद' का बाप बना दिया है—

'केशव' केशव राय मनो कमलासन के सिर ऊपर सो है।

× × ×

अंगद को पितु सो मुनिपुञ्ज।
सोहत तारहिं संग लिए जू।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने सर्वत्र इसी प्रकार का अलंकार वर्णन किया है। कहीं-कहीं उनकी अलंकार योजना बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी है। 'रूपक' के लिए नीचे का उदाहरण देखें—

'चढ़यो गगन तरु धाय, दिनकर-बानर अरुन मुख।
कीन्हों झुकि झहराय, सकल तारका-कुसुमबिन।'
(रामचन्द्रिका)

छन्द-योजना

छन्द-योजना की दृष्टि से 'केशव' हिन्दी मे अपनी बराबरी नहीं रखते। विविध छन्दों का जितना प्रयोग 'केशव' की रचनाओं मे मिलता है उतना अन्य हिन्दी के किसी कवि में नहीं। इन्होंने मात्रिक और वर्णिक दोनों ही प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। अकेले **रामचन्द्रिका में इन्होंने इक्यानवे प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है।** आख्यान काव्यों में जैसे 'वीरसिंह देव चरित' में उन्होंने दोहे और चौपाई का प्रयोग किया है। इस प्रकार यदि छन्दों के विशेष चक्कर में 'केशव' न पड़े होते तो इनकी रचनाएँ अपेक्षाकृत अधिक मर्मस्पर्शी हुई होतीं।

भाषा

पद-रचना की ओर विशेष ध्यान देने के कारण केशव भाषा के परिमार्जन की ओर विशेष ध्यान नहीं दे सके हैं। भाषा के प्रवाह की ओर इनका ध्यान इसलिए नहीं गया कि वे पद-रचना पर विशेष सोचते विचारते रहे। इस सन्दर्भ में उन्होंने अपना मत व्यक्त भी किया है—

चरण धरत चिन्ता करत नींद न भावत शोर।
सुवरण को सोधत फिरत कवि व्यभिचारी चोर॥
(कविप्रिया)

अतः इनकी भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित नहीं है। इनके शृंगार प्रधान ग्रन्थों की भाषा मे माधुर्य, प्रसाद, और ओज गुणों की प्रतिष्ठा हुई, पर **जिनमें इनकी दृष्टि छन्द-योजना की ओर रही है, वे भाषा को समृद्ध नहीं बना सके हैं।** 'रसिक प्रिया' की भाषा उपर्युक्त गुणों से पूर्ण है।

'केशव' मूलतः संस्कृत के पण्डित थे जिसके कारण इनकी भाषा का दुरूह हो जाना स्वाभाविक है। चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी इसमें सहायक सिद्ध हुई है। इसी

बात को लक्ष्य करके इन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा जाता है। इनकी भाषा की दुरूहता सर्वविदित हो चुकी थी, और लोगों की ऐसी धारणा बन गई थी कि—

कवि को देन न चहै विदायी, पूछै केसव की कविताई।

किन्तु इनकी भाषा सर्वत्र क्लिष्ट ही है ऐसी बात नहीं। विदेशी शब्दों के प्रयोग में भी केशव ने उदारता का ही परिचय दिया है। बहुत से बुन्देली शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। इनके अनेक छन्दों में 'सूँ' का प्रयोग मिल जाता है। इनकी भाषा संस्कृत की तत्सम पदावली से अधिक प्रभावित है। सवैयों की भाषा में अपेक्षाकृत अधिक प्रवाह पाया जाता है। व्यञ्जना शक्ति से इनका विशेष लगाव दिखाई पड़ता है तथा बीच-बीच में व्यंग्य विनोद के छींटे भी देखने को मिल जाते हैं। संवादों में यह निखार विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है।

अन्ततः कहा जा सकता है कि केशव रससिद्ध आचार्य होने के साथ ही चमत्कार-प्रिय कुशल कवि भी थे।

शृंगारिक कवि

शृङ्गार रस

काव्य के क्षेत्र में शृंगार की लोकप्रियता सर्वमान्य है। इसके द्वारा काव्य में अनुभावों की जितनी चर्चा की जा सकती है, उतनी अन्य किसी द्वारा नहीं। आचार्यों ने रसों की कुल संख्या नौ मानी है, तथापि शृंगार रस को अन्य रसों से अधिक महत्वपूर्ण बतलाया है। कुछ विद्वानों का मत है कि शृंगार रस में ही अन्य रसों की उत्पत्ति होती है। जो भी हो पर इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि अन्य रसों की उत्पत्ति शृंगार के बाद ही हुई है। 'शृंगार' शब्द 'यौगिक' है और 'शृंग' तथा 'आर' दो शब्दों के सुयोग से बना है जिसका अर्थ कामवृद्धि की प्राप्ति से है। चूँकि स्थायी भाव 'रति' विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के एकीकरण से रस संज्ञा को प्राप्त होकर कामी जनों के चित्त में काम की वृद्धि करता है, इसलिए वह शृंगार कहलाता है। 'शृंगार' रस का स्थायी भाव 'रति' अर्थात् प्रेम है जिसके समान सर्वव्यापी और प्रभावशाली स्थायीभाव का पाना शेष किसी भी रस में असम्भव है। विभावों, अनुभावों और संचारीभावों को दृष्टि में रखने पर भी शृंगार रस सर्वश्रेष्ठ ठहरता है। हावों का तो उल्लेख केवल इसी रस में अनुभाव के अन्तर्गत किया जाता है और सात्विक भाव का भी परिपाक अन्य रसों की अपेक्षा शृंगार रस में अधिक होता है। जहाँ तक संचारी भावों का प्रश्न है, शृङ्गार रस में कुल ३३ संचारी भावों में से २६ संचारी भावों का समावेश सफलता के

साथ किया जा सकता है। इतने संचारी भावों का समावेश अन्य किसी रस में नहीं हो पाता।

साधारणतः विद्वानों ने संयोग या संभोग तथा वियोग अथवा विप्रलंभ नाम से शृंगार के दो भेद माने हैं। विद्वानों का मत है कि शृंगार का एक तीसरा भेद पूर्वानुराग भी है, पर अधिकांश विद्वान् इसे स्वतन्त्र भेद के रूप में स्वीकार नहीं करते। संयोग और वियोग दो ही प्रमुख ऐसी अवस्थाएँ हैं जो शृंगारिक चेष्टाओं को विकसित करने में सहायक होती हैं। अधिकांश विद्वान् संयोग के बाद वियोग की स्थिति स्वीकार करते हैं। किन्तु **आचार्य कवि देव ने इस क्रम को स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार पहले** वियोग होता है न कि संयोग। पर 'देव' की यह स्थापना सर्वमान्य न हो सकी।

जब कवि नायक-नायिका के मिलन प्रेम अथवा विभिन्न प्रेम चेष्टाओं का वर्णन करते हैं तो उसे संयोग या संभोग शृंगार कहा जाता है। संयोग-काल में उत्पन्न भावों को हाव की संज्ञा दी गई है, जिनकी कुल संख्या दस मानी जाती है। संयोग शृंगार को छोड़कर इन हावों की उत्पत्ति अन्यत्र नहीं हो सकती।

स्त्री-पुरुष के वियोगकालीन प्रेम की अभिव्यक्ति से जिस शृंगार की सृष्टि होती है उसे विप्रलंभ या वियोग शृंगार कहते हैं। विद्वानों ने इसके **पूर्वानुराग, मान और प्रवास** तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है। कुछ लोगों ने इसके एक भेद और **'करुण'** को माना है किन्तु वह समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि सम्पूर्ण वियोग की अवस्था ही कारुणिक होती है।

इस काल के कवियों ने विप्रलंभ अथवा वियोग शृंगार के वर्णन में जितना रस लिया है उतना संयोग शृंगार में नहीं, क्योंकि संभोगकालीन शृंगार वर्णन में अश्लीलता आने की संभावना रहती है जो श्रेष्ठ रचनाकार के लिए सर्वथा वर्जित है। वियोग शृंगार में प्रणयवेदना की विभिन्न अवस्थाओं को चित्रित करने के लिए पर्याप्त भूमि उपलब्ध रहती है। **श्रृङ्गार के साथ भक्ति-भावना का अटूट सम्बन्ध रहने के कारण भी विप्रलम्भ श्रृङ्गार को सर्वाधिक महत्त्व मिला है।** आत्मा-परमात्मा को एक मानने वाले तथा आत्मा को परमात्मा का अंश बतलाने वाले सामान्य लोग माया अथवा जन्म के कारण उत्पन्न वियोग की वेदना में आत्मा को तड़पती हुई मानते हैं और यही कारण है कि प्रतीक रूप में रहस्यमयी कविताओं के माध्यम से लौकिक मानवीय वियोग-जन्य प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। इन्हीं कतिपय विशेषताओं के कारण इस काल के कवियों में संयोग और वियोग शृंगार अत्यधिक लोकप्रिय हुआ।

आरम्भ

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल को हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखते समय जितनी सामग्री प्राप्त थी, उसके आधार पर उन्होंने त्रिपाठी बन्धुओं में 'चिन्तामणि' को वय में सबसे बड़ा माना था। इनके अनुसार आचार्य कवि केशव की परम्परा का अनुकरण आगे के कवियों ने नहीं किया, जो इन कवियों में वय की दृष्टि से सबसे बड़े थे। ऐसी स्थिति में उन्हें इस काव्य-परम्परा का प्रथम कवि मानना उनके लिए कठिन था और उन्होंने इसका आरम्भ चिन्तामणि से स्थिर किया है। मैंने भी आचार्य केशव को इससे भिन्न रखने के कारण इनका उल्लेख इसके पूर्व ही कर दिया है। 'चिन्तामणि' को प्रथम कवि के रूप में स्वीकार करना सम्भव नहीं जान पड़ता। अब तक की प्राप्त सामग्री के आधार पर 'चिन्तामणि' जी आयु में अपने भाई 'भूषण' से छोटे ठहरते हैं, और यह निर्विवाद है कि महाकवि 'मतिराम' महाकवि 'भूषण' से उम्र में लगभग पाँच वर्ष से अधिक बड़े थे। अतः महाकवि 'मतिराम' त्रिपाठी बन्धुओं में सबसे बड़े थे तथा उन्हें उत्तर मध्यकाल में विकसित शृंगारिक काव्य-परम्परा के प्रथम श्रेष्ठ कवि होने का गौरव प्राप्त है।

मतिराम

रससिद्ध कवियों और आचार्यों में 'मतिराम' का प्रमुख स्थान है। इन्होंने अपने सम्बन्ध में अपनी रचनाओं में कुछ नहीं लिखा है जिससे समकालीन कवियों की कृतियों में प्राप्त उल्लेखों के आधार पर ही, इनके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। मतिराम, भूषण और चिन्तामणि हिन्दी-साहित्य में त्रिपाठी बन्धु के नाम से विख्यात हैं। 'जटाशंकर' या नीलकंठ नामक एक और भाई होने की बात कुछ विद्वानों ने उठाई है, पर नीलकण्ठ इनके भाई नहीं थे, यह तथ्यों से प्रमाणित हो गया है। 'मतिराम' का जन्म ग्राम तिकवाँपुर जिला कानपुर में संवत् १६७४ (सन् १६१७ ई०) के लगभग कान्यकुब्ज कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण के घर हुआ था और इनकी मृत्यु संवत् १७६० (सन् १७०३ ई०) के आस-पास हुई। इनके पिता 'रत्नाकर' त्रिपाठी परम भाग्यशाली थे कि उनके तीनों पुत्र मतिराम, भूषण और चिंतामणि त्रिपाठी हिन्दी के यशस्वी कवि हुए। मतिराम को अनेक दरबारों में जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था जिनमें मुगल सम्राट् जहाँगीर, बूँदी के महाराव भाऊ सिंह, श्रीनगर के फतेहसाहि बुन्देला, कुमायूं नरेश उद्योत सिंह तथा सतारागढ़ के महाराज साहू के दरबार प्रमुख हैं।

'फूल मंजरी', 'रसराज', छन्द सार, ललित ललाम, मतिराम सतसई, साहित्यसार, लक्षण शृङ्गार तथा अलंकार पंचाशिका मतिराम के आठ प्रमुख

प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। 'रसराज' मतिराम की अत्यन्त प्रौढ़ एवं सरस रचना है। यह नायिका भेद ग्रन्थ है, पर काव्य की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है। 'ललित ललाम' इनका अलंकार ग्रन्थ है जिसमें इनकी कवित्व शक्ति का परिचय मिलता है। लक्षणकार के रूप में भी परवर्ती कवियों ने मतिराम का अनुकरण किया है। इनकी सतसई भी अनेक दृष्टियों से विशेष महत्व रखती है। इसमें आए दोहों में मिट्टी की जैसी सोंधी गमक आती है, वैसी अभिव्यक्ति इस सम्पूर्ण काल में देखने को नहीं मिलती।

'मतिराम' मूलतः रससिद्ध कवि हैं। सवैया उनका प्रमुख एवं अत्यन्त प्रिय छन्द रहा है, जिसमें उनकी प्रौढ़तम शृंगारी कविताएँ लिखी गई हैं। इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में कवित्त और दोहे भी प्रौढ़ता में अपनी पराकाष्ठा को पहुँचे हुए हैं। *शृंगार के रस वर्णनों तथा वियोगजनित पीड़ा से उद्भूत करुण रस के चित्रण के लिए* उन्होंने तदनुकूल छन्द सवैया को ही चुना है, जिसमें अपने प्रौढ़तम ग्रन्थ रसराज की रचना की है। आश्रयदाता की प्रशंसा में जहाँ कहीं उन्हें वीर दर्पपूर्ण उक्तियाँ कहनी पड़ी है, उन्होंने 'ललित ललाम' में सुन्दर छप्पय तथा घनाक्षरियाँ लिखी हैं।

'ललित ललाम' में वर्णित अलंकारों से 'मतिराम' के आचार्यत्व का पूर्ण परिचय तो मिल ही जाता है, किन्तु उनकी कविताओं में अलंकार का प्रयोग जिस स्वाभाविकता से हुआ है, उससे उनके काव्य-कौशल का भी पूर्ण परिचय मिल जाता है। जिन छन्दों की सृष्टि 'रसराज' में नायिकाभेद के उदाहरणों के लिए हुई है, उनमें भी अलंकारों की छटा विद्यमान है। एकाधिक अलंकारों का एक ही छन्द में समावेश करना तो 'मतिराम' के बायें हाथ का खेल है। एक ही छन्द में, यथासंख्य, विभावना, प्रतीप, समुच्चय और उपमा की मनोहर झलक देखिए—

'महावीर सत्रु-सालनन्द राव भावसिंह,
तेरी धाक अरिपुर जात भय भोय से,
कहैं 'मतिराम' तेरे तेज-पुंज लिए गुन,
मारुत औ मारतण्ड-मण्डल बिलोय से।
उड़त न बन टूटि-फूटि मिटि फाटि जात,
विकल सुखात बैरी दुखित समोय-से,
तूल-से तिनूका-से तरोवर-से तोयद-से,
तारा-से तिमिर-से तमी पति-से तोय-से ॥' (ललित ललाम)

स्वतन्त्र रूप से नख-शिख वर्णन उपस्थित करके उन्होंने महत्वपूर्ण सौन्दर्य तत्वों का वर्णन किया है—

"कुन्दन कौ रंगु फीकौ लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई,
आँखिन में अलसानि, चितौनि में मंजु बिलासनि की सरसाई।
को बिनु मोल बिकात नहीं, 'मतिराम' लहे मुसकान मिठाई,
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई॥"

(रसराज)

भाषा भावो का दामन छोड़कर चलती, मतिराम की कविताओं मे कही भी नही दिखलाई पडती। उनकी रचना की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसकी सरसता स्वाभाविक है, न तो उसमें भावों की कृत्रिमता है, न भाषा की। उनकी भाषा शब्दाडंबर से सर्वथा मुक्त है। अपनी कविताओ मे वे तमाशाई बनकर बाहर से उछल-कूद करते नही जान पड़ते। भाषा का प्रधान गुण अभिप्रेत भावो को पूर्णतः प्रकाशित करना है, जिसमे 'मतिराम' अत्यन्त पटु है। इनकी ब्रजभाषा बिलकुल निर्दोष नही है। इनकी कविता मे कही कही शब्दों का बेढंगा प्रयोग पाया जाता है। अन्य भाषा के कई शब्दों का भी ठीक व्यवहार ये नही कर सके हैं। पर इतना तो सत्य है कि ब्रजभाषा—कवियो मे जहाँ तक भाषा-सौन्दर्य का सम्बन्ध है, 'मतिराम' से बढकर सुन्दर भाषा लिखने वाला दूसरा नही हुआ।

'मतिराम' गृहस्थी के कवि हैं, ऐसा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है, जिसका परिचय हमे उनके सतसई के दोहों मे मिलता है। इस सन्दर्भ मे विद्वान् बिहारी सतसई का नाम लेते है, पर उनमे इतनी स्वाभाविकता कहाँ। बिहारी के दोहे बुद्धि को जितना प्रभावित करते हैं उतना हृदय को नही और हृदय को प्रभावित करने की जितनी शक्ति 'मतिराम सतसई' के दोहों में है, उतनी मध्यकालीन हिन्दी कवियों की कविता में नहीं। स्वाभाविकता तथा सरसता में मतिराम के दोहों की किसी से तुलना नहीं की जा सकती। सरसता एवं मिठास के लिए मतिराम हिन्दी साहित्य में बेजोड़ हैं। काव्य की भाषा मे यदि हम कहें तो कह सकते हैं कि मतिराम का काव्य यदि विशाल राजमहल है, तो बिहारी का काव्य सजा-सजाया बगला, मतिराम का काव्य प्रकृति सुषमा से युक्त विशाल मनोहर कानन है, तो बिहारी का काव्य कलमी पौधों से सजा सुन्दर उपवन और मतिराम की कविता यदि सुषमा युक्त कमल है तो बिहारी की कविता कलमी गुलाब जिसमें कलाकार की बुद्धि लगी है।

हिन्दी सतसैयों मे जितने प्रकार के विषयों को वर्णन के लिए अपनाया गया है, उन सभी विषयों पर कहे गए अनूठे दोहे 'मतिराम सतसई' मे संग्रहीत हैं। सतसई के दोहों को नागरी नागर चित्रण, गँवार चित्रण, भक्ति परक, राजनीति सम्बन्धी, सामाजिक, स्वकीया परक, परकीया चित्रण, विरह प्रधान, संयोग शृंगार, मानिनी,

विपरीत रति सम्बन्धी, वात्सल्य प्रधान, नीति परक तथा प्रकृति सम्बन्धी श्रेणियों **में विभक्त कर सकते हैं।** स्वाभाविकता में ये दोहे नेमिमाल हैं—

> नागरि नैन कमान सर करत न ऐसी पीर।
> जैसें करत गँवरि के दृग-धनुहीं के तीर॥
> ज्यों-ज्यों परसे लाल तन, त्यों-त्यों राखति गोइ।
> नवल बधू लाजन लजित इन्दु बधू-सी होइ॥
> नैन बिसारे बान सों चली बटाउइ मारि।
> बचन सुधारस सींचि कैं वाहि जीव दै नारि॥

'मतिराम' अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को नवीन ढंग से प्रस्तुत करने तथा परवर्ती कवियों पर अपना अतुल प्रभाव डालने के लिए प्रसिद्ध हैं। जिसमें उनकी काव्यप्रतिभा और मौलिकता का विशेष हाथ है।

बिहारीलाल

बिहारीलाल का जन्म ग्वालियर के पास **बसुआ गोविन्दपुर गाँव** में सन् १६०३ ई० के आस-पास हुआ था। कुछ विद्वान इनका जन्म सन् १५९५ ई० भी मानते हैं। यह धौम्य गोत्री माथुर चौबे कहे जाते हैं। निम्न दोहे के आधार पर अनुमान किया जाता है कि इनका बाल्यकाल बुन्देलखण्ड में व्यतीत हुआ और युवावस्था अपनी ससुराल मथुरा में।

> जनम ग्वालियर जानियैं, खंड बुंदेले बाल।
> तरुनाई आई सुघर, मथुरा बसि ससुराल॥

इनके पिता का नाम 'केशव राय' कहा जाता है। कुछ विद्वानों ने इन्हें प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र होने का भ्रम भी उत्पन्न किया है। सम्भवतः बिहारी की पत्नी भी कविता किया करती थी और केशवदास ने अपनी पुत्रवधू के ही कारण **'विज्ञान गीता'** की रचना की थी। **'मिश्रबन्धु विनोद'** में 'केशव पुत्र बधू' नाम से किसी कवयित्री का उल्लेख भी मिलता है, अतः इन सूत्रों को मिलाते हुए 'केशवदास' को बिहारी का पिता ठहराया गया है। किन्तु केशव और बिहारी का पिता-पुत्र सम्बन्ध लोक परम्परा में प्रचलित नहीं है, इससे मालूम होता है कि प्रसिद्ध कवि 'केशवदास' 'बिहारी' के पिता नहीं थे। इनके पिता का नाम 'केशव' था अवश्य, पर वह दूसरे ही कवि केशव रहे होंगे जिन्हें इतनी ख्याति नहीं मिल पायी थी। इनके एक भाई और एक बहन भी थी। बिहारी-जन्म के लगभग ७-८ वर्ष बाद ही इनके पिता ग्वालियर छोड़कर 'ओड़छे' चले आये जहाँ पर बिहारी ने अनेक काव्य

ग्रन्थों का अध्ययन किया। कुछ दिन बाद इनके पिता वृन्दावन में जा बसे और इनकी बहन का विवाह किसी माथुर ब्राह्मण के यहाँ कर दिया। बाद में वहे पर इनकी भी शादी हो गयी, तभी से ये वहीं रहने लगे। वृन्दावन आगमन के समय शाहजहाँ ने इनकी प्रतिभा की बड़ी प्रशंसा की थी। आगरा और आमेर के अतिरिक्त बूँदी राज्य में भी इनका सम्बन्ध बताया जाता है। शाहजहाँ के द्वारा इन्हें वृत्ति भी मिलती थी। अपनी नव-विवाहिता पत्नी के प्रेम-पाशमें आबद्ध महाराज जयसिंह का उद्धार इन्होंने बड़ी कुशलता के साथ किया था जिसका संकेत निम्न दोहे में मिलता है–

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सो बँध्यौ, आगे, कवन हवाल॥

विहारी सामन्ती जीवन व्यतीत करने वाले बड़े ही रसिक जीव थे। नागरिक जीवन के प्रति इनकी विशेष रुचि थी। सन् १६६३ ई० के आस-पास यह परलोकवासी हुए।

लोकप्रियता के कारण

इनकी एकमात्र रचना 'सतसई' ही कीर्ति का चिरस्थायी स्तम्भ एवं लोकप्रियता का मूलभूत कारण है। सतसई के एक-एक दोहे एक-एक रत्न के समान हैं। शृंगार रस के ग्रन्थों में 'सतसई' की ख्याति तो असंदिग्ध है ही, समग्र हिन्दी साहित्य में भी तुलसी के 'रामचरित मानस' के बाद सम्भवतः बिहारी सतसई ही सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है। यही कारण है कि 'बिहारी-सतसई' की पचासों टीकाएँ लिखी गईं और अद्यावधि सतसई के एक-एक दोहे नवयुवकों के कण्ठहार बने हुए हैं। विविध भाषाओं में इस ग्रन्थ का अनूदित होना इसकी लोकप्रियता का ही परिचायक है।

कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास पद्धति

जब हम बिहारी सतसई की लोकप्रियता पर विचार करते हैं तो स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है कि आखिर सतसई के दोहों में वह कौन सा जादू है जो पाठकों के मस्तिष्क पर चढ़कर बोलने लगता है और वे आविष्ट होकर कवित्त रस में बूड़ने लगते हैं। कहा जा सकता है कि बिहारी के लघु आकार वाले दोहों में भावों की इतनी कसावट और सघनता पायी जाती है कि कवित्त सवैया लिखने वाले घनानन्द जैसे सिद्ध कवि भी मात खा जाते हैं। घनानन्द ने जिन भावों को कवित्त की आठ पंक्तियों में दिखाया उन्हीं को बिहारी दो पंक्तियों में कदाचित् अधिक सफलता के साथ दिखा पाये हैं। ऐसा करने में उनकी कल्पना की अद्भुत समाहार शक्ति और भाषा की सामासिक पदावली अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई है। निम्नलिखित दोहे में असंगति अलंकार के माध्यम से एक लम्बी चौड़ी

प्रेमगाथा को अभिव्यक्ति मिली है, जो उनकी कल्पना की समाहार शक्ति का परिचायक है—

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परत गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥

इसी प्रकार से भाषा की सामासिक पदावली के द्वारा निम्न दोहे में एक ऐसे गत्यात्मक चित्र को सफलता पूर्वक उभाड़ा गया है, जिसमें सटपटाती हुई शशिमुखी नायिका मुख पर घूँघट खींचते हुए विद्युत कौंध की सी त्वरा के साथ झरोखे से झाँक कर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाती है—

सटपटाति सी ससि-मुखी, मुख घूँघट-पट ढाँकि।
पावक-झर सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि॥

सुन्दर अनुभाव योजना

बिहारी ने शृंगार रस के दोनों पक्षों संयोग एवं वियोग का बड़ा ही सफल चित्रण किया है। संयोग के विविध चित्रों के उरेहने में तो बिहारी को कमाल ही हासिल है क्योंकि यही उनका अपना क्षेत्र है जिसमें उनकी रागात्मिका वृत्ति खूब रमी है। उनकी हाव, भाव और अनुभाव योजना इतनी सफल है कि पाठकों के सामने चित्र सजीव होकर मूर्तिमान हो उठते हैं और उनसे पाठकों का साधारणीकरण होने लगता है। हाव का एक चित्र देखिए—

भौंहनि त्रासति मुँह नटति, आँखिन सों लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति कर इंची, आगे आवति जाति॥

अथवा

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाय॥

दाम्पत्य क्रीड़ा सम्बन्धी हाव के चित्र भी मार्मिक बन पड़े हैं जैसे नवागता बधू का प्रियतम को पान खिलाने की चेष्टा करना, प्रियतम के नकारने का झूठा उपक्रम और अन्त में पान खिलाते समय प्रिय के अधरों से उसकी अँगुली का छू जाना आदि। इसी प्रकार से अभिलाष, गर्व, हर्ष, अमर्ष, स्मित आदि कई भाव एक ही साथ निम्न दोहे में देखे जा सकते हैं—

कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैननि ही सों बात॥

अब 'विलास हाव' का एक चित्र लीजिए जिसमें नायिका की चेष्टाएँ व मुद्राएँ किसी भाव से प्रेरित नहीं हैं बल्कि उन चेष्टाओं के प्रभाव का अंकन किया गया है—

कर समेटि कच भुज उलटि, खएँ सीस-पट डारि ।
काको मन बाँधै न यह, जूरौ बाँधनि हारि ॥

बिम्ब विधान एवं चित्र योजना

कवि का चित्र सफल तभी कहा जायगा जब वह पाठकों की संवेदना को जगाने और संवेगों को तीव्र करने में समर्थ हो। अपेक्षित उपादानों का कुशलतापूर्वक चयन और उनका सुरुचिपूर्ण संगुफन ही बिहारी के चित्रों का कलागत वैशिष्ट्य है। ये दोनों बातें बिहारी के प्रायः प्रत्येक चित्र में मिलेंगी। एक अत्यन्त सफल स्थिर चित्र को लिया जा सकता है—

कंजनयनि मंजन किये बैठी ब्योरति बार।
कच अंगुरिनि बिच दीठि दै चितवति नंदकुमार ॥

उपर्युक्त चित्र चार खण्ड चित्रों में विभक्त है और प्रत्येक का बिम्ब बड़ी सरलता से हमारे मानस पटल पर अंकित हो जाता है। यहाँ तक कि यदि 'कंजनयनि' को छोड़ दिया जाय तो दूसरे, तीसरे और चौथे खण्ड चित्रों को रेखाचित्र की रेखाओं में भी आसानी से उभाड़ा जा सकता है।

बिहारी के कुछ चित्र केवल चमत्कार दिखाकर ही रह जाते हैं, वे हमारी संवेदना को छू नहीं पाते। उदाहरणार्थ निम्न चित्र देखिए—

अहे दहेंड़ी जिन धरै, जिन तू लेहि उतारि ।
नीके है छींके छुवै, ऐसैं ही रहि नारि ॥

पुरुषों को आकर्षित करने के लिए 'कुच' ही नारी का प्रधान अंग है। भुजाओं को उठाकर अँगड़ाई लेते समय खिंचकर तने उरोजों का सौन्दर्य बिहारी जैसे शृंगारी कवि के लिए विशेष आकर्षक रहा है। यही कारण है कि इन्होंने अनेक मुद्रा में नायिकाओं के चित्र उतारे हैं—कहीं तो नायिका को दोनों हाथ ऊपर उठाकर 'दहेड़ी' उतारने पर विवश करते हुए आदेश दिया कि 'नीके हैं छींके छुवै ऐसे ही रहि नारि' और कहीं पर उससे जूड़ा बँधवाकर अपना मन ही बाँध दिया। एक कामातुर नायिका का चित्र भी देखिए जो नशे में झूमते हुए शराबी की याद दिलाती है।

खलित बचन अध खुलित दृग, ललित स्वेद कन जोति ।
अरुन बदन छबि मद छकी, खरी छबीली होति ॥

बिहारी की सद्यः स्नाता नायिका 'कुच आँचर बिच बाँह दै' सरोवर से बाहर निकलती है। यह कामजन्य संकोच किसी व्यक्ति के सामने ही हो सकता है।

नायिका कुओं पर और आमन्त्रित घर स्नान करने नहीं गयी रही होगी, हाँ यह बात दूसरी है कि बिहारी जैसे रसिक व्यक्ति वहाँ अनाहूत पहुँच गये हों। विद्यापति की सद्यः स्नाता नायिका 'कुच जोवन बिच चाँद' देने की कोई आवश्यकता नहीं समझती क्योंकि वह एकान्त सरोवर में स्नान कर रही है, उसके सामने बिहारी की भाँति विद्यापति नहीं पहुँच गये हैं, अतः उसे न कोई संकोच है और न झिझक है। विद्यापति ने तो रूप सौन्दर्य को तटस्थ भाव से देखा है।

विरह वर्णन

विप्रलम्भ शृंगार के चार भेद माने जाते हैं—पूर्वराग मान, प्रवास और करुण। प्रिय का संयोग होने के पूर्व गुण श्रवण, रूप दर्शन आदि के कारण उससे मिलने की जो अभिलाषा होती है और न मिल सकने के कारण जो वेदना होती है, वही पूर्वराग की अवस्था है। प्रेम की स्वाभाविक वृत्ति अथवा ईर्ष्यावश नायक नायिका का परस्पर रूठ जाना ही मान कहलाता है। पति के विदेश चले जाने पर प्रवास होता है और करुण की अवस्था तब आती है जब मरणोपरान्त भी मिलने की आशा बनी रहती है।

बिहारी ने पूर्वराग और मान का वर्णन अधिक किया है—प्रवास का वर्णन भी कम नहीं है। बिहारी का विरह वर्णन फारसी कवियों के विरह वर्णन से अधिक प्रभावित होने के कारण प्रायः ऊहात्मक हो गया है। बिहारी की नायिका विरह में इतनी दुबली पतली हो गई है और चेहरे का रंग इतना फीका पड़ गया है कि सदैव पास में रहने वाली सखियों को भी पहचानने में कठिनाई होती है। इतना ही नहीं उसकी दुर्बलता के कारण ही—

इत आवति चलि जाति उत चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सी रहै, लगी उसासन साथ॥

और तो और बेचारी मृत्यु चश्मा लगाकर भी उसे नहीं ढूँढ़ पाती। नायिका के घर के आस पास 'नित प्रति पून्यौई रहै आनन ओप उजास' अतः तिथि का ज्ञान केवल पत्रा से ही किया जाता है। इसी प्रकार से गुलाबजल के एक भी छींटे का नायिका के शरीर पर न पड़कर बीच ही में सूख जाना तथा जाड़े की कठोर रात्रि में भी गीले वस्त्र पहनकर हिमवत बड़ा साहस करके सखियों का नायिका के पास जाना आदि ऐसी ऊहात्मक उक्तियाँ हैं जो हास्यास्पद हो गई हैं।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि बिहारी ने सर्वत्र ही ऐसा किया है। उनका विरहवर्णन कहीं कहीं पर बड़ा स्वाभाविक और मार्मिक है। जैसे—

कर के मीड़े कुसुम लौं, गई बिरह कुम्हिलाय।
सदा समीपिनि सखिनहू, नीठि पिछानी जाय॥

जिस नायिका का पति विदेश जाने के लिए तैयार हो उसे प्रवत्स्यत्पतिका कहते हैं। प्रवत्स्यत्पतिका का बड़ा ही सुन्दर स्वाभाविक एवं सरल वर्णन बिहारी ने किया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

> अजौं न आये सहज रंग, बिरह दूबरे गात।
> अबहीं कहा चलाइयत, ललन चलन की बात॥

प्रेम का आदर्श

बिहारी का प्रेम अपना भौतिक धरातल छोड़ नहीं पाता जिसके कारण उसमें व्यापकता की प्रकाश-किरण का अभाव ही है। बिहारी के प्रेम का आदर्श चौगान का खेल कहा जा सकता है जिसका वर्णन निम्न दोहे मे किया गया है।

> सरस सुमिल चित तुरँग की, करि करि अमित उठान।
> गोय निबाहैं जीतिये, खेलि प्रेम चौगान॥

इस खेल मे उछल कूद लुका छिपी आदि आवश्यक होते है जो बिहारी के मनोनुकूल है। इनका प्रेम रीतिकालीन पिटे पिटाए साँचे में ढला हुआ है, अतः उसमें वह आवेग नहीं जो प्रेम पात्रों के सामाजिक बन्धन को तोड़ सके। ऐसी बात नही है कि बिहारी प्रेम की गम्भीरता और उसके महत्त्व से अपरिचित है। निम्न दोहे मे प्रेमादर्श का जो निरूपण मिलता है उससे प्रेम का गाम्भीर्य और महत्व स्पष्ट हो जाता है—

> गिरि तें ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजार।
> वहै सदा पसु नरन कौ, प्रेम पयोधि पगार॥

किन्तु इस प्रकार के निरूपण मे उनका मन इसलिए नही रमा है कि यह उनकी मनोवृत्ति के प्रतिकूल था। उनकी अपनी कुछ सीमाएँ थीं जिनके बाहर वे नही जा सकते थे।

भाषा

बिहारी की भाषा शुद्ध एवं साहित्यिक व्रजभाषा है। बीच-बीच में पूर्वी शब्दों का प्रयोग भी तुकान्त के आग्रह के कारण किया गया है। चूँकि इनकी बाल्यावस्था बुन्देल खण्ड मे ही बीती थी अतः बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग भी अधिक मिलता है। बिहारी का शब्द चयन बहुत ही प्रशंसनीय है। शब्दो का इतना गहरा ज्ञान विरले कवियों को ही होगा। बिहारी अपने शब्द चयन के प्रति इतने सतर्क एवं जागरूक हैं कि अपनी कविता की पच्चीकारी के लिए जो नगीने इन्होंने जड़े हैं उन्हें हटाकर

इनके स्थान पर दूसरे नहीं लगाये जा सकते। ऐसा करने से उनकी शिल्पकला का चमत्कार ही बाधित हो जायगा। इनकी भाषा में मुहाविरों का प्रयोग भी खूब हुआ है। समास पद्धति के माध्यम से सीमित शब्दों में असीमित बात कह देना बिहारी की अपनी विशेषता है। शब्दों में तोड़ फोड़ भी है पर वैसी नहीं जैसी की भूषण आदि कवियों ने की है। इस प्रकार कविवर बिहारी भाषा-प्रवीण कवि थे।

कलापक्ष

बिहारी का कलापक्ष निरूपण बड़ा ही सशक्त एवं मार्मिक है। अपने शिल्पगत विधान के लिए जो पच्चीकारी इन्होंने की है उसमें इन्हें काफी माथापच्ची करनी पड़ी है। बिहारी ने दोहे और सोरठे जैसे लघु आकार वाले छन्दों को ही चुना, किन्तु उसमें अपना पूरा अलंकारिक कौशल्य दिखाया है। काव्य में अलंकारों का वही स्थान है जो स्थान आभूषणों का नारी के सौन्दर्य-वृद्धि में है। अलंकार ही काव्य है, ऐसा तो भारत में नहीं कहा गया किन्तु कुछ आचार्य इसकी प्रधानता स्वीकारते रहे हैं। चन्द्रालोककार ने तो यहाँ तक कह दिया कि काव्य में जो लोग अलंकारों का ग्रहण नहीं मानते उनका हठ उसी प्रकार कहा जायगा जैसे अग्नि को उष्ण रहित कहना। महर्षि वेदव्यास ने अलंकार विहीन सरस्वती को विधवा कहा तो आचार्य कवि केशव ने भी उसका समर्थन किया—

'भूषन बिनु न बिराजई, कविता वनिता मित्त'

बिहारी सतसई में अलंकारों का प्रयोग बड़े ही कौशल के साथ किया गया है। भावों को बोधगम्य बनाने में अलंकार कहीं कहीं बाधा अवश्य पहुँचाते हैं किन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं है। प्रायः सभी प्रमुख अलंकारों का प्रयोग बिहारी ने सफलतापूर्वक किया है। निम्न दोहे में यमक अलंकार का प्रयोग किया गया है।

'तो पर वारौं उरवसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उरवसी, ह्वै उरवसी समान॥

सादृश्य मूलक अलंकारों में रूपक अलंकार के प्रयोग में इन्हें बहुत कम सफलता मिल पायी है। जहाँ भी रूपक का प्रयोग किया गया है, सारा अर्थ सौन्दर्य ही नष्ट हो गया है। एक उदाहरण लिया जा सकता है।

कौंदा आँसू बूँद कसि, सांकरि बरुनी सजल।
कीने वदन निमूँद, दृग मलंग डारे रहत।

यहाँ पर कवि का लक्ष्य सजल बरौनियों में अश्रु बिन्दु का वर्णन है। जिसके लिए ध्यान मग्न फकीर का उपमान लाया गया है जो अत्यन्त अनुपयुक्त है। हमारा ध्यान

घूम फिर कर आँख मूँदे हुए साधनारत उस फ़कीर की ओर ही अधिक जाता है, सजल बरौनियों मे कसे हुए अश्रु बिन्दु की ओर बहुत कम।

सटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक-भर-सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि॥

उपर्युक्त दोहे में उपमा का सफल प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार से निम्न दोहे में असंगति अलंकार के द्वारा प्रेम की एक लम्बी कहानी कही गई है।

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति।

उत्प्रेक्षा का एक अच्छा उदाहरण इस प्रकार है—

सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात।
मनौ नीलमनि सैल पर आतप परयो प्रभात।

विरोध का उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

तंत्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग
अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग।

विभावना

अंग अंग नग जगमगै, दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उजेरो गेह॥

श्लेष और मुद्रा

अजौं तरौना ही रह्यो स्रुति सेवत इक अंग।
नाकबास बेसर लह्यो, बसि मुकुतन के संग।

बिहारी ने सर्वत्र अलंकारों का चमत्कार ही प्रदर्शित किया है, ऐसी बात नहीं—उनकी सिद्धहस्तता भी देखी जा सकती है—

रनित भृंग घंटावली, झरित दान मधु नीर।
मंद मंद आवत चल्यौ, कुञ्जर कुञ्ज समीर॥

इस दोहे मे एक साथ ही यमक, वीप्सा और अनुप्रास का प्रयोग किया गया है किन्तु कही भी दोहे के सौन्दर्य में कमी नहीं आने पायी। मंथर गति से मतवाले हाथी के आने और समीर बहने की झंकार को एक साथ ही इस दोहे मे देखा सुना जा सकता है।

घनआनँद

इनका जन्म लगभग सन् १६८६ ई० में हुआ था और इनकी मृत्यु सम्भवतः नादिरशाह के आक्रमण के समय सन् १७३६ ई० में हुई। यह कायस्थ कुल में उत्पन्न बड़े ही रसिक जीव थे। इन्हें दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह का मीर मुन्शी बताया जाता है। ये 'सुजान' नामक किसी वेश्या से बहुत प्रेम करते थे। जिसके सम्बन्ध में एक किंवदन्ती भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि एक बार कुछ लोगों ने बादशाह को बताया कि मीर मुंशी जी गाते बहुत अच्छा हैं। बादशाह के कहने पर इन्हें इधर-उधर करते देख कर उन दरबारियों ने सलाह दिया कि ये सुजान के कहने पर ही गायेंगे। वेश्या को दरबार में बुलाया गया और उसके कहने पर घनआनँद बादशाह की ओर पीठ करके और वेश्या की ओर मुखातिब होकर गाने लगे। संगीत की स्वर लहरी में दरबार झूम उठा। बादशाह भी बहुत प्रसन्न हुआ किन्तु इनकी इस बेअदबी पर अत्यन्त क्रुद्ध होकर शहर से निकाल दिया। चलते समय इन्होंने सुजान से भी साथ चलने को कहा किन्तु उसके नकार देने पर इन्हें मर्मान्तिक आघात पहुँचा जिससे विरक्त होकर ये वृन्दावन चले आए और वहीं निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए। कहा जाता है कि मरते समय इन्होंने रक्त से एक कवित्त लिखा था जिसकी अन्तिम पंक्ति इस प्रकार है—

> अधर लगे हैं आनि करिकै पयान प्रान,
> चाहत चलन ये सन्देसो लै सुजान को।

रचित ग्रन्थ

इनके द्वारा लिखे गए निम्नलिखित ग्रंथों का पता चलता है—'सुजान सागर', 'विरह लीला', 'कोकसार', 'रसकेलि बल्ली' तथा 'कृपाकाण्ड' आदि। कुछ कवित्त सवैयों का फुटकल संग्रह भी पाया जाता है। इनके अतिरिक्त पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनके कृष्ण सम्बन्धी एक विशाल ग्रन्थ के उपलब्ध (छतपुर के राजपुस्तकालय में) होने की चर्चा की है जिसमें 'प्रिया प्रसाद', 'व्रज व्यवहार', 'वियोग बेली', 'कृपाकन्द निबन्ध', 'गिरि गाथा', 'भावना प्रकाश', 'गोकुल विनोद', 'धाम चमत्कार', 'कृष्ण कौमुदी', 'नाम माधुरी', 'प्रेम पत्रिका' तथा 'रसवन्त' आदि अनेक विषयों का वर्णन किया गया है। रीतिकालीन कवियों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। (१) रीतिबद्ध कवि—जिन्होंने लक्षण ग्रन्थों की रचना की और उदाहरण भी दिया। जैसे देव, मतिराम, भूषण आदि। (२) रीतिसिद्ध कवि—जिन्होंने किसी लक्षण ग्रन्थ का निर्माण तो नहीं किया किन्तु लक्षण लिखकर यदि इनकी रचनाओं से उदाहरण दे दिया जाय तो लक्षण ग्रन्थ

बन सकता है जैसे बिहारी। (३) रीतिमुक्त—जिन्होने किसी प्रकार का शास्त्रीय बन्धन नही स्वीकार किया जैसे घनआनँद, ठाकुर बोधा, आलम, नेवाज आदि।

रीतिमुक्त कवियों में घनआनँद जी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

भावपक्ष

अपनी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण घनआनँद जी की अनुभूति बडी ही सशक्त तथा भावव्यंजना बडी तीव्र है। नारी हृदय के आन्तरिक सौन्दर्य की जैसी मार्मिक व्यंजना घनआनँद ने की है वैसी कोई भी रीतिकालीन कवि नही कर पाया है। इतनी सच्ची और तीव्र अनुभूति का कारण यह है कि घनआनँद जी स्वयं भुक्तभोगी थे, इन्होंने प्रेम भी किया था उससे कटु अनुभव भी प्राप्त किया था।

प्रेम निरूपण

ये प्रेम की उस पीर से परिचित थे जो प्रिय से कम मादक नही होती। रीतिकालीन कवियों ने जिस प्रेम अथवा सौन्दर्य का निरूपण किया है उसमें बड़ी उछल-कूद मचायी है। परम्परा से चले आते हुए उन्ही घिसे पिटे विषयो—'नायिका भेद', 'नखशिख वर्णन' आदि का निरूपण एक बने बनाए साँचे के अनुरूप किया जाता था। घनआनँद जी को बुद्धि की यह कतर ब्योंत मान्य न हुई, **उन्होंने तो प्रेम मार्ग को अत्यन्त सीधा बतलाते हुए स्पष्ट घोषणा की—**

> **अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नैकु सयानप बाँक नहीं।**
> **तहँ साँचे चलैं तजि आपन पौ, झिझकैं कपटी जो निसाँक नहीं।**

इनका प्रेम प्रेमी और प्रेमिका का सीधा प्रेम है जिसमें न किसी प्रकार की आशंका है और न तो कपट अथवा झिझक ही। इसीलिए घनआनँद ने प्रेमी और प्रेमिका मे सीधे सम्बन्ध स्थापित किया है और बीच में दूती अथवा सखी को व्यर्थ मे घसीट कर लम्बा चौड़ा प्रेमयुद्ध नही छेड़ा है। घनआनन्द प्रेम के एकनिष्ठ, उन्मुक्त साधक थे, वे किसी प्रकार का दुराव-छिपाव अथवा लुका-छिपी नही पसन्द करते थे। **घनआनन्द तो लोकभय और लोकलज्जा को तिलांजलि देने वाले तथा साहसपूर्वक प्रेम की एकनिष्ठता में लीन होने वाले सच्चे प्रेमी थे।** यही कारण है कि इनके प्रेम में तीन **महत्त्वपूर्ण गुण उपलब्ध होते हैं—एकान्तिकता, एकनिष्ठता और सघनता।** प्रेम तो शुद्ध हृदय की एक भावधारा है जिसमें प्रेमीजन ही अवगाहन कर सकते हैं। अपने हृदय को दूसरों के सामने खोलकर रखने वाले तथा **दूसरों के हृदय को प्रभावित करने वाले घनआनँद के यहाँ 'हृदय की रीझ' ही पटरानी है और बेचारी बुद्धि दासी मात्र—**

> 'रीझि सुजान सची पटरानी, बची बुद्धि बावरी ह्वै करि दासी।

घनआनंद का प्रेमी चूँकि अपनी पुकार स्वयं करता है अतः दूती अथवा सखी की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि बीच मे उन्हें लाया ही गया होता तो वे भला यह सन्देश सुन कैसे सकती थी ?

जान प्यारो जौं 'य कहूँ दीजियै संदेसो तौ' व
श्रवौं सम कीजिए जु कान तिहिं काल है।
नेह भींगी बातें रसना पर टर आँच लागैं,
जागैं घनआनँद ज्यौं पुञ्जन मसाल हैं।

विरहाग्नि के इस सन्देश को न तो कान से सुना जा सकता है और न बताकर अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार इनकी प्रेमानुभूति की उक्तियाँ सीधी सादी और स्वाभाविक होने के कारण हमारे हृदय को छूते हुए संवेगों को तीव्रतर बना देती हैं। ये अनुमान के सहारे वेदना की विवृत्ति की नाप जोख करने नहीं जाते। इनके यहाँ न तो माघ महीने में झुलसने वाली लूएँ चला करती हैं और न जाड़े की रात में विरहिणी नायिका से मिलने के लिए जाते समय सखियों को गीला वस्त्र ही पहन कर जाना पड़ता है। अपने प्रेम की आह और वेदना की ज्वाला में घनआनँद स्वयं सुलगते हैं। वे यह नहीं चाहते कि उसमें सारी सृष्टि ही भस्म हो जाय। इनका विरहताप इन्हीं तक सीमित है जिससे किसी पथिक को लू लगने की आशंका नहीं रह जाती। घनआनँद उड़ान भरने वाले पक्षी नहीं वेदना की पुकार मचाने वाले पपीहे हैं। पपीहा इनकी पुकार में अपना स्वर मिलाकर 'पी' 'पी' रटता है, विरह ताप की उष्मा से तप्त होकर बादल आँसू बहाता है और पवन भी इनके रुदन स्वर में अपना स्वर मिलाता है।

विकल विषाद भरे ताही की तरफ तकि,
दामिनिहूँ लहकि बहकियौ जरयौ करै।
जीवन अधार घन घूरित पुकारनि सौं,
आरत पपीहा नित कूकनि करयौ करैं।
अधिर उदेग गति देखि कै आनन्द घन,
पौन विडरयौं सौं बनन्थीथिनि रहयौ करै।
बूँदैं न परति मेरे जान जान प्यारी तेरे,
विरही को हेरि मेघ आँसू झरयौ करैं।

घनआनँद जी ऊँची तान भरने वाले चातक थे। अपनी एकनिष्ठता के कारण ये प्रेम के उस उच्च धरातल पर पहुँच जाते हैं जहाँ पहुँच कर प्रेमी केवल प्रिय को ही चाहने वाला होता है, प्रिय भी प्रेमी को चाहता है अथवा नहीं इसकी उपेक्षा कर

नहीं की जाती। तुलसी ने चातक को प्रेम का आदर्श माना है, प्रेम का वही उदात्त एवं उत्कृष्ट स्वरूप घनआनँद ने भी स्वीकार किया है।

अपनी स्वच्छंदतावादी मनोवृत्ति के कारण इन्होंने कुछ परंपरित उपमानों को छोड़कर उनके स्थान पर अपनी मौलिक उद्भावना की है। 'बिछुरनि मीन की औ' मिलन पतंग की' मान्यता ही अभी तक स्वीकृत थी। इसमें निरूपित आदर्श प्रेमी प्रेम पर मर मिट तो सकते थे किन्तु विरह सहने की शक्ति उनमें नहीं थी। प्रेम में मर जाना जड़ता का ही लक्षण माना जायगा चेतनता का नहीं। चेतन तो साहसपूर्वक जीने और संघर्ष करने की शक्ति रखता है। इसीलिए उन्होंने कहा—

> हीन भये जल मीन अधीन, कहा कछु मो अकुलानि समानै।
> नीर सनेही को लाय कलंक, निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।
> प्रीति की रीति सुक्यों समुझै, जड़ मीत के पानि परे को प्रमानै।
> या मन की जु दसा घनआनँद, जीव की जीवनि जान ही जानै।

घनआनँद की कविता में अभिव्यक्त प्रेम की विषमता के उद्गार प्रेम की पराकाष्ठा के ही परिचायक हैं। यद्यपि प्रेम की यह विषमता भारतीय परम्परा के विरुद्ध तथा फारसी साहित्य में अभिव्यक्त प्रेम के निकट है तथापि घनआनँद ने उसे अपने मौलिक ढंग से देखने का प्रयत्न किया है। प्रेम दशा की मार्मिक व्यंजना करना इनकी अपनी रुचि के अनुकूल है और प्रिय की कठोरता का निरूपण ही कविता का स्वीकृत प्रतिपाद्य है। प्रेम की इस पद्धति में एक पक्ष तो तटस्थ रहता है और दूसरा प्रेमासक्त। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कवि होने के कारण इनकी कविता में भावपक्ष की ही प्रधानता है। विभाव पक्ष के वर्णन में कम रुचि ली गयी है। जहाँ कहीं भी रूप सौन्दर्य का वर्णन किया गया है, वहाँ उसके प्रभाव का प्रतिपादन ही मुख्य है प्रेम की जटिल एवं गूढ़ अन्तर्दशाओं का जैसा उद्घाटन इन्होंने किया है वैसा कोई भी रीतिकालीन कवि नहीं कर सका है। मनुष्य की सुखात्मक वृत्तियाँ विकसनशील होती हैं और दुःखात्मक वृत्तियाँ सघन। करुणा तथा विषाद आदि दुःखात्मक भाव बाहर से अपने को खींचकर विरही में ही सिमटकर घनीभूत हो जाते हैं। यही अन्तर्वृत्ति घनआनँद की कविता का केन्द्र-बिन्दु तथा प्राण है। यही कारण है कि इनके यहाँ संयोग में भी वियोग बराबर बना ही रहता है। कहीं वियोग न हो जाय इस आशंका से प्रेमी उद्विग्न रहा करता है—

> अनोखी हिलग दैया। बिछुरयौं तौ मिल्यौ चाहै,
> मिलेहू में मारै जारै खरक बिछोह की।

अपनी इसी विशिष्टता के कारण घनआनँद बिहारी तथा अन्य रीतिबद्ध कवियों से स्पष्टतः अलग हो जाते हैं। इनकी 'प्रेम-पीर' को समझना आसान नहीं है उसे 'बाँचने' के लिए 'हिय आँखिन' की आवश्यकता होती है। घनआनँद की कविता के मर्मज्ञ जानकार व्रजनाथ ने इसीलिए स्पष्ट कह दिया—

समझै कविता घनआनँद की,
हिय आँखिन नेह की पीर तकी।

घनआनँद द्वारा निरूपित प्रेम-प्रवाह में इतना सशक्त आवेग है कि वह प्रेमपात्रों को अपनी प्रखर धारा में बहा ले जाता है। यद्यपि घनआनँद जी ने शृंगार रस के दोनों पक्षों का सुन्दर निरूपण किया है तथापि विरह की गूढ़ अन्तर्दशाओं के उद्‌घाटन में ही इनकी वृत्ति अधिक रमी है। विरह के बाह्य पक्ष का निरूपण बहुत कम मिलता है, यही कारण है कि इनके विरह में बाहरी उछल-कूद तो नहीं आन्तरिक हलचल अवश्य है जिससे विरह शान्त एवं गम्भीर होने के कारण मर्यादित है।

भाषा

घनआनँद की भाषा के सम्बन्ध में व्रजनाथ की निम्नलिखित उक्ति अक्षरशः सत्य है—

नेही महा व्रजभाषा प्रवीन औ' सुन्दरताहु के भेद को जानै।

× × ×

भाषा प्रवीन सुछंद सदा रहै, सो घन जू के कवित्त बखानै॥

घनआनँद के समान शुद्ध, सरस और सशक्त भावाभिव्यंजक भाषा लिखने में अन्य कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। इनकी भाषा जितनी शुद्ध है उतनी ही प्रौढ़ एवं माधुर्य गुण युक्त भी। भाषा सर्वत्र साहित्यिक है, विषय चाहे भक्ति-सम्बन्धी हो अथवा प्रेम-सम्बन्धी। व्याकरण-व्यवस्था का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। भाषा कहीं भी कृत्रिम और निर्जीव नहीं होने पायी है बल्कि मुहावरों के समुचित प्रयोग के कारण बड़ी सजीव और व्यावहारिक बन गयी है। इन्होंने भाषा को अपने भावों के साथ इस प्रकार बाँध लिया था कि जब जैसा चाहते थे उसे उसी प्रकार मोड़ लेते थे। भावानुकूल भाषा का प्रयोग सर्वत्र किया गया है। जहाँ कहीं अनुभूति की मार्मिकता अभिव्यंजित करना होता है वहाँ पर ये सीधे सादे वाक्यों का प्रयोग करते हैं और जहाँ पर चमत्कार उत्पन्न करना होता है वहाँ पर लाक्षणिक वाक्यों का प्रयोग करते हैं। इनकी भाषा में इतनी वैयक्तिकता पायी जाती है कि इनके कवित्त-सवैयों में किसी अन्य कवि के कवित्त-सवैये नहीं मिलाये जा सकते। अपनी

कोमल कान्त पदावली के कारण ही ब्रजभाषा को शृंगार की भाषा कहा जाता है। इसका सुन्दर स्वरूप घनआनन्द जी की भाषा में उपलब्ध है—

> अंगराति जम्हाति लजाति लखैं,
> अँग अँग अनंग हिये झलकैं।
> अधरान में आधिये बात धरैं,
> लड़कानि की आनि परै छलकैं॥

प्रायः जब भाषा अर्थ गर्भित होती है तो उसका प्रवाह शीलता और सरलता कम हो जाती है और जब भाषा को प्रवाहशील बनाया जाता है तो उसमे अर्थ-गाम्भीर्य न्यून हो जाता है किन्तु घनआनंद की भाषा इसका अपवाद है, उसमें जितना ही अर्थ गांभीर्य है उतना ही प्रवाह भी। मुहावरे, लक्षणा, नवीन शब्दों तथा रूपों के निर्माण एवं ध्वन्यात्मक शब्दों के सफल प्रयोग के कारण घनआनंद को 'भाषा प्रवीन' तथा ब्रजभाषा के शुद्ध, कोमल, व्याकरण सम्मत एवं सरस प्रयोग के कारण 'ब्रजभाषा प्रवीन' कहा जा सकता है।

लाक्षणिक प्रयोग

घनआनंद हिन्दी में लाक्षणिक प्रयोग करने वाले सर्व प्रथम कवि हैं। लक्षणा शक्ति का जैसा प्रयोग सफलता पूर्वक इन्होंने अपनी कविता मे किया है वैसा गिने गिनाये कवि ही कर सके है। घनआनंद के बाद आधुनिक युग मे छायावादी कविता में ही लाक्षणिक प्रयोग दिखायी पडते है। डेढ़ दो सौ वर्षों के इस लम्बे अन्तराल में किसी भी कवि ने इधर ध्यान ही नहीं दिया। इन्होंने कई कई प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग किये हैं। कुछ तो चमत्कार उत्पन्न करने वाले है, कुछ अनुभूतियों को प्रकट करने वाले तथा कुछ अर्थ का केवल साधारण बोध कराने वाले है। कुछ उत्कृष्ट उदाहरण देखिए—

(१) सो गति बूझि परै तबही जब होहु घरीक हूँ आप ते न्यारे।

(२) झूठ की सचाई छाक्यौ, त्यौं हित कचाई पाक्यौ।

(३) लड़कानि की आनि परी छलकैं।

(४) अंग अंग स्याम रस रंग की तरंग उठे।

(५) उजरन बसी है हमारी अँखियान में।

घनआनंद के लाक्षणिक प्रयोगों मे कुछ तो बहुत अच्छे विरोधाभास दिखायी पड़ते हैं। जैसे—

(१) रावरे पेट की बूझि परै नहिं,
रीझि पचाय के डोलत भूखे।

(२) देखिये दसा असाध अँखिया निपेटनिकी,
भसमी बिथा पै नित लंघन करति हैं।

इस प्रकार घनआनँद रीतिमुक्त कवियों में तो सर्वश्रेष्ठ हैं ही, समग्र रीतिकालीन कवियों में भी इनका प्रमुख स्थान है। ब्रजभाषा का इतना सफल प्रयोक्ता तो कोई हुआ ही नहीं।

देव

इनका पूरा नाम देवदत्त था। अपने 'भाव विलास' नामक ग्रन्थ में इन्होने लिखा है कि इस रचना के समय मेरी अवस्था १६ वर्ष की थी। उन्हीं के अनुसार उक्त ग्रन्थ की रचना संवत् १७४६ (सन् १६८९ ई०) में हुई, अतः इनका जन्म सन् १६७३ ई० में हुआ। ऐसा लगता है कि निश्चित रूप से कहीं एक राजाश्रय इन्हें प्राप्त न हो सका इसीलिए इन्हें बहुत भटकना पड़ा। औरंगजेब के बड़े पुत्र हिन्दी प्रेमी आजमशाह को इन्होंने अपना 'अष्टयाम' और 'भाव विलास' सुनाया था। 'भवानी विलास', 'कुशल विलास' और 'प्रेम चन्द्रिका' क्रमशः भवानीदत्त वैश्य, कुशल सिंह और उद्योत सिंह वैस के लिए लिखी गयी। राजा मोतीलाल ही एक अच्छे आश्रयदाता के रूप में इन्हें प्राप्त हुए जिनके नाम पर इन्होंने 'रसविलास' की रचना की। मोतीलाल की स्तुति भी इन्होंने इस प्रकार की है—

'मोतीलाल भूपपाल पाखर लँवैया जिन्ह,
लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।'

ग्रन्थ

रीतिकालीन प्रमुख कवियों में सम्भवतः देव ने ही सर्वाधिक ग्रन्थों की रचना की है। पुराने ग्रन्थ के कवित्त सवैयों की कुछ पंक्तियों के हेरफेर से एक नया ग्रन्थ बना लेने में ये बड़े कुशल थे। इनके द्वारा रचित पुस्तकों की संख्या ७२ तक बतलायी जाती है। इनके लगभग २२ ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

(१) भाव विलास, (२) अष्टयाम, (३) भवानी विलास, (४) सुजान-विनोद, (५) प्रेम तरंग, (६) राग रत्नाकर, (७) कुशल विलास, (८) देव चरित्र, (९) प्रेम चन्द्रिका, (१०) जाति विलास, (११) रस विलास, (१२) काव्य रसायन या शब्द रसायन, (१३) सुख सागर तरंग, (१४, वृक्षविलास, (१५) पावस विलास, (१६) ब्रह्म दर्शन पचीसी, (१७) तत्त्व दर्शन पचीसी, (१८) आत्म दर्शन

पचीसी, (१९) जगदर्शन पचीसी, (२०) रसानन्द लहरी, (२१) प्रेम दीपिका, (२२) नखशिख प्रेम दर्शन।

कवि और आचार्य

देव रीतिसिद्ध कवि होने के कारण आचार्य भी थे। एक साथ ही कवि और आचार्य बनने के व्यामोह ने इन कवियों को पूर्ण रूप से न तो कवि ही बनाया और न आचार्य ही। देव भी हमारे सामने आचार्य के रूप में आते हैं किन्तु इस रूप में इन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। रस निरूपण करने में संचारी भावों की चर्चा करते समय इन्होंने 'छल' नामक एक नये संचारीभाव का उल्लेख किया है किन्तु इसे इनकी मौलिक उद्भावना नहीं माना जा सकता। संस्कृत की 'रस तरंगिणी' ही इसका स्रोत है।

शब्द-शक्तियों पर विचार करते हुए देव ने अभिधा शक्ति को अधिक महत्व प्रदान करते हुए लिखा है—

> **अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।**
> **अधम व्यंजना रस विरस उलटी कहत नवीन॥**

व्यंजना शक्ति को इन्होंने अधम संज्ञा से अभिहित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यंजना का अर्थ 'देव' के मस्तिष्क में केवल 'वस्तु व्यंजना' ही रहा है। जहाँ तक कवित्व शक्ति और मौलिकता का प्रश्न है देव की कविता में वह प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। चमत्कार प्रदर्शन की उत्कट अभिलाषा में इनके सुन्दर-से-सुन्दर भाव भी नष्ट हो गए हैं। यही कारण है कि ऐसे स्थलों पर इनकी भाषा में स्निग्ध प्रवाह नहीं आ पाया है। कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ पर बहुत अधिक शब्द व्यय करके भी अर्थ बहुत थोड़ा ही निकलता है। अनुप्रास के मोह और तुकान्त के आग्रह के कारण इन्होंने केवल शब्दों को ही नहीं तोड़ा मरोड़ा बल्कि कहीं-कहीं पर तो वाक्य-विन्यास को भी शिथिल कर दिया है। किन्तु जिस प्रकार का अर्थ सौष्ठव तथा अभिप्रेतभाव का निर्वाह देव की कविता में हुआ है वैसा विरले कवियों में ही मिलता है। गार्हस्थ्य-प्रेम के अत्यन्त मर्म-स्पर्शी चित्रण के अंकन में देव अत्यन्त सिद्धहस्त थे।

नायिका भेद की प्रौढ़तम रचना करने वाले आचार्य कवियों में देव का प्रमुख स्थान है। इन्होंने काव्य शास्त्र के प्रत्येक अंगों का विस्तृत विवेचन किया है। देव ने नायिकाओं को प्रधान रूप से जाति, कर्म, गुण, देश, काल, वयक्रम, प्रकृति और सत्य आठ प्रमुख भेदों में विभाजित कर उनके अन्य उपभेदों का वर्णन किया है। इनके पूर्व नायिका भेद जैसे प्रसंग पर इतनी मौलिकता और विस्तार के साथ हिन्दी के किसी

अन्य कवि-आचार्य ने विचार नहीं किया। इन्होंने अपने कई ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार से नायिका भेद का इतना विशद विवेचन किया है कि उनसे अधिक इस विषय पर अन्य कोई कवि या आचार्य इतना नहीं लिख सका है। देव के जिन ग्रन्थों में नायिका भेद का वर्णन हुआ है उनमें 'सुख सागर तरंग' मुख्य है। जिस प्रकार से मतिराम ने नायक-नायिका को शृंगार का आलम्बन माना है, ठीक उसी प्रकार देव ने भी उन्हें शृंगार का आधार माना है। मुग्धा, मध्या, और प्रौढ़ा के जितने भेद देव ने किए हैं वे मतिराम में भी नहीं पाये जाते।

अपनी इन्हीं कतिपय विशेषताओं के कारण मतिराम से प्रभावित होने पर भी देव नायिका भेद के क्षेत्र में केशव की भाँति सबसे अलग रहे। उनके परवर्ती आचार्यों ने भी विषय विस्तार की दृष्टि से देव के आदर्शों पर कार्य करना चाहा है किन्तु अलग से इस शास्त्रांग का इस प्रकार विस्तार परवर्ती आचार्यों द्वारा नहीं हो पाया है।

रीतिकालीन कवियों में देव बड़े ही प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। कहीं कहीं इनकी कल्पना अत्यधिक सूक्ष्म हो गयी है। इनकी कविता के कुछ उत्कृष्ट नमूने इस प्रकार हैं—

केलि के भौन अकेली गई, बन-बेली निहारि नवेली भुलानी।
लाल को देखि उठे बरबाल, परी भय लाल रसाल लुभानी।
खीजति, छीजति अंग पसीजति, 'देव' थकी सी, चकी चुप स्यानी।
हौं सहि देखि दृगंचल चंचल अंचल दै मुख सों, मुसक्यानी॥

+ + +

सूनौ के परम पद, ऊनौ के अनंत मद,
नूनौ के नदीस नद इंदिरा झुरै परी।
महिमा मुनीसन की संपति दिगीसनि की,
ईसन की सिद्धि ब्रज-वीथी बिथुरै परी।
भादौं की अंधेरी अधि राति मथुरा के पथ,
पाइके संयोग 'देव' देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन अपार परब्रह्म-राशि,
जसुदा के कोरे एक बार ही कुरै परी।

+ + +

झहरि झहरि झीनी बूँद है परत मानो,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में।
आनि कह्यो श्याम मोंसो 'चलो झूलिबे को आज'
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन में।

चाहत उठ्योई उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन में।
आँख खोलि देखौं तौ न घन हैं, न घनश्याम,
वेई छायी बूँदें मेरे आँसु ह्वै दृगन में।

इन्होंने अपनी प्रतिभा का चमत्कार काव्य के दोनों क्षेत्र रस और अलंकार में दिखाया है। रससिद्ध आचार्य तो थे ही किन्तु अनेक स्थलों पर तो उन्होंने अपनी सुन्दर अलंकार योजना के द्वारा हिन्दी के सभी चमत्कारवादी कवियों को पीछे छोड़ दिया है। वसन्त का वालक रूप में वर्णन कर देव ने रूपक अलंकार का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है।

डारि द्रुम पलना, बिछौना नवपल्लव के,
सुमन झिंगूला सोहै तन छवि भारी दै।
पवन झुलावै, केकी कीर बहरावै देव,
कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै।
पूरित पराग सों उतारौ करै राई लोन,
कंजकली नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसन्त, ताहि
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै।

वरसाने से बुलाकर नन्द ग्राम में आई राधिका के सरस प्रसंग का चित्रण करते समय 'देव' कवि की ललित अलंकृत शैली दर्शनीय है—

'आई बरसाने ते बुलाई वृषभान सुता।
निरखि प्रभानि, प्रभा भानु की अथै गयी॥
चक चकवान के चकाये चक चोटन सों।
चौंकत चकोर चकचौंधी सी चकै गयी॥
देव नन्द नन्दन के नैनन आनंदमयी।
नन्द जू के मन्दिरनि चंदमयी छै गयी।
कंजन कलिन मयी कुञ्जन नलिन मयी।
गोकुल की गलिन अनिलमयी कै गयी॥

चिन्तामणि

शिवसिंह 'सेंगर' और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और जटाशंकर को सगा भाई माना है। वय के आधार पर दोनों विद्वानों ने उपर्युक्त

क्रम भी स्वीकार किया है। अतः चिन्तामणि को त्रिपाठी बन्धुओ मे सबसे बड़ा मान कर 'शुक्ल जी' ने इन्हे **रीतिकाल का प्रथम कवि** स्वीकार कर लिया है, पर बाद में कुछ प्रमाण ऐसे मिल गए हैं जिससे जटाशंकर न तो इनके सगे भाई ठहरते हैं और न तो चिन्तामणि सब भाइयों मे बड़े ठहरते है। शुक्ल जी ने इनका जन्मकाल संवत् १६६६ (सन् १६०९ ई०) के लगभग और कविता-काल संवत् १७०० (सन् १६४३ ई०) के लगभग माना है, पर पं० मयाशंकर याज्ञिक की बात इस सन्दर्भ मे अधिक प्रामाणिक जान पड़ती है। उन्होंने प्रमाणित किया है कि चिन्तामणि 'शाहशुजा' और 'शाह जी' के दरबार में उपस्थित हुए थे, जिसके लिए याज्ञिक जी ने उनके छन्द उद्धृत किये है। इससे चिन्तामणि का जन्म अनुमान से लगभग संवत् १६८७ (सन् १६३० ई०) और मृत्यु संवत् १७६४ (सन् १७०७ ई०) के बाद ही कहीं ठहरती है। इन्हें लम्बी आयु मिली थी। बादशाह शाहजहाँ और 'जैनदी अहमद' ने इन्हे पुरस्कार दिये थे। इनका जन्म तिकवाँपुर निवासी कान्यकुब्जीय ब्राह्मण पं० रत्नाकर त्रिपाठी के घर हुआ था, जो इनके पिता थे।

अनेक ग्रन्थो के रचयिता चिन्तामणि मूलतः रससिद्ध आचार्य हैं और काव्यशास्त्र पर लिखा 'कवि कुल कल्पतरु' इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमे काव्यशास्त्र के समस्त अंगो का अत्यन्त मार्मिक विवेचन है। इन्होंने नायिका वर्गीकरण जिस प्रकार किया है, उससे जान पड़ता है कि इनकी प्रवृत्ति आचार्य केशव और मतिराम में पाई जाने वाली वर्णन-पद्धति को समन्वित रूप मे देने की ओर रही है। इस ग्रन्थ मे अलंकारों का भी साधारण वर्णन चिन्तामणि ने किया है। इनके लक्षण और उदाहरण प्रायः उपयुक्त हैं। पर अलंकार वर्णन इनका प्रिय क्षेत्र नही रहा है। वास्तव में चिन्तामणि एक सिद्धहस्त कवि थे। अनुप्रासयुक्त ललित भाषा मे लिखी कविता के सुन्दर नमूने इनकी रचनाओं में देखने को मिल जाते हैं।

महाराज जसवन्त सिंह

ये मारवाड़ के प्रसिद्ध राजा और महाराज गजसिंह के दूसरे पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६८३ (सन् १६२६ ई०) और परलोक गमन काबुल में संवत् १७३५ (सन् १७१८ ई०) में हुआ जहाँ वे अफगानों को मार करने गए थे। औरंगजेब इनसे बहुत भयभीत रहता था और वह उत्तराधिकारी दाराशिकोह को युद्ध में तब तक नहीं पछाड़ सका जब तक कि जसवन्त सिंह दाराशिकोह का साथ देते रहे। ये स्वयं काव्य-मर्मज्ञ और कवियों को आश्रय देने वाले थे। इनका प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ 'भाषा भूषण' है जो 'चन्द्रालोक' की छाया पर लिखा गया। कण्ठस्थ करने की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हुआ। इन्होंने कवि की हैसियत से नहीं बल्कि आचार्य की हैसियत से ही हिन्दी साहित्य-क्षेत्र मे प्रवेश किया था। ये इस युग के लिए अपवाद-

स्वरूप थे। इन्होंने एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनो रखे हैं। उदाहरण देखिए—

अत्युक्ति—अलंकार अत्युक्ति यह बरनत अतिसयरूप।
जाचक तेरे दान तें भए कलपतरु भूप॥ (भाषा भूषण)

कुलपति मिश्र

ये महाकवि बिहारी के भानजे के रूप मे प्रसिद्ध हैं। आगरे के रहने वाले ये माथुर चौबे थे और महाराज रामसिंह के दरबार मे रहते थे। साहित्य-शास्त्र का इन्हें अच्छा ज्ञान था। 'रस रहस्य' नामक इनका एक ग्रन्थ मिलता है जिस पर 'मम्मट के काव्य प्रकाश' की छाप है। खोज रिपोर्ट के अनुसार 'द्रोण पर्व', 'युक्ति-तरंगिणि', 'नखसिख', 'संग्राम सार' नामक इनके अन्य ग्रन्थ भी बतलाये जाते हैं। इनका कविता-काल रामचन्द्र शुक्ल ने सं० १७२४ (सन् १६६७ ई०) और सं० १७४३ (सन् १६८६ ई०) के बीच माना है।

भिखारीदास

आचार्य भिखारीदास-प्रतापगढ (उत्तर प्रदेश) के पास 'ट्योगा' गाँव के रहने वाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की, पर 'शृंगार निर्णय' और 'काव्य निर्णय' इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। शृंगार निर्णय इनका 'नायिका-भेद' पर लिखा अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमे इन्होने अनेक नवीन प्रकार की नायिकाओ की उद्‌भावनायें की हैं। इससे इनकी मौलिकता का तो परिचय मिलता है, पर वर्णन मे अस्पष्टता आने के कारण ये इस दिशा मे परम्परा का निर्माण नही कर सके। इनका 'काव्य-निर्णय' हिन्दी के प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थों मे माना जाता है और उसे काव्य-शास्त्र पर लिखा उत्कृष्ट ग्रन्थ भी स्वीकार किया गया है। इसमे केवल अलंकार वर्णन ही नही है, बल्कि काव्य शास्त्र के सभी अगो की विवेचना करते हुए इसमें एक आचार्य की भाँति ही अनेक समस्याओ पर प्रकाश डाला गया है। ढंग बड़ा ही स्पष्ट, वर्णन क्रम सुलझा हुआ वैज्ञानिक तथा विषय विवेचन पूर्ण है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इनका कविता-काल संवत् १७८५ (सन् १७२८ ई०) से लेकर सवत् १८०७ (सन् १७५० ई०) तक माना है।

तोषनिधि

'तोषनिधि' शृंगवेरपुर जिला इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश) के रहने वाले थे और अपनी सरस एवं मार्मिक कविताओ के लिए प्रसिद्ध हैं। रस-भेद और भाव-भेद पर इन्होने संवत् १७९१ (सन् १७३४ ई०) मे 'सुधानिधि' नामक ग्रन्थ की रचना की।

'विनय शतक' और 'नखसिख' नामक इनकी दो अन्य रचनाओं का भी पता 'खोज' से लगा है। इन्होंने काव्यांग के बहुत ही स्पष्ट लक्षण और सुलझे हुए उदाहरण दिए हैं। इनका कवि इनके आचार्यत्व में कहीं भी बाधक नहीं हुआ है यही इनकी सबसे बड़ी विशेषता है। इनके जैसी स्वाभाविक और प्रवहमान भाषा लिखने में इस काल के कम ही कवि समर्थ हो सके हैं।

रसलीन

'रसलीन' कवि नाम है। इनका वास्तविक 'नाम सैयद गुलाम नबी' था। ये 'बिलग्राम' जिला हरदोई (उत्तर प्रदेश) के रहने वाले थे जिसे अनेक अच्छे विद्वान मुसल्मानों को जन्म देने का गौरव प्राप्त है। यहाँ के लोग अपने नाम के साथ 'बिलग्रामी' लगाना गौरव की वस्तु समझते थे। इनके 'अंग दर्पण' और 'रसप्रबोध' नामक दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। 'अंग दर्पण' की रचना संवत् १७६८ (सन् १७४१ ई०) में हुई जिसमें अंगों का, उपमा-उत्प्रेक्षा से युक्त आलंकारिक वर्णन है। अपनी सरसता के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। इनके निम्नलिखित दोहे को अधिकांश लोग 'बिहारी' की रचना समझते रहे। जिससे इनकी श्रेष्ठता स्वयं सिद्ध है—

> **अमिय, हलाहल, मद भरे, सेत, स्याम, रतनार।**
> **जियत, मरत, झुकि-झुकि परत जेहि चितवत इक बार॥**
>
> (अंग दर्पण)

'रस प्रबोध' दोहों में रचा रस-निरूपण का ग्रन्थ है। जिसके दोहों की संख्या ११५५ है। पर यह 'अंगदर्पण' की भाँति प्रसिद्ध नहीं हुआ। इसमें रस, भाव, नायिका भेद, षट्-ऋतु और बारह-मासा आदि का वर्णन है।

मंडन

ये जैतपुर (बुन्देलखण्ड) के रहने वाले थे और राजा मंगद सिंह के दरबार में संवत् १७१६ (सन् १६५९ ई०) में वर्तमान थे। पुस्तकों की खोज में इनके 'रस-रत्नावली', 'रस विलास', 'जनक-पचीसी', 'जानकी जू को ब्याह' और 'नैन-पचासा', पाँच ग्रन्थों का पता लगा है। सभी अप्रकाशित हैं। इनके फुटकल कवित्त-सवैये अपनी सरलता के कारण सुनने को मिल जाते हैं।

सुखदेव मिश्र

इनके वंशज आज भी दौलतपुर (जिला रायबरेली) में रहते हैं। इनका जन्म-स्थान कम्पिला था। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी भी इसी ग्राम के निवासी थे। सुखदेव मिश्र का कविताकाल संवत् १७२० से १७६० (सन् १६६३–१७०३ ई०) तक पं०

रामचन्द्र शुक्ल ने माना है। 'वृत्ति विचार', 'छंद-विचार', 'फाजिल अली-प्रकाश', 'रसार्णव', 'शृंगार लता', 'अध्यात्म प्रकाश' तथा 'दशरथ राय', नामक इनके सात ग्रन्थों का पता चलता है। कवि और आचार्यत्व का इनमें अच्छा समन्वय हुआ था। शृङ्गार रस के बड़े ही रसस्नात कवि थे। कई दरबारों से इनका सम्बन्ध था।

कालिदास त्रिवेदी

इनका विशेष वृत्त ज्ञात नहीं है। ये अन्तर्वेद के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इन्होंने जबू-नरेश जोगजीत सिंह के लिए संवत् १७४९ (सन् १६९२ ई०) में 'वार बधू विनोद' की रचना की। 'जंजीराबद' और 'राधा-माधव-बुध मिलन-विनोद' इनकी दो और पुस्तकें हैं। २१२ कवियों के १००० पद्यों का संग्रह इनका 'कालिदास हजारा' बहुत प्रसिद्ध है।

राम

इनका जन्म संवद् १७०३ (सन् १६४६ ई०) है। कालिदास हजारा में इनके छन्द हैं। नायिका भेद पर लिखा इनका एक ग्रन्थ 'शृंगार सौरभ' है इसकी कविता काफी अच्छी है।

नेवाज

ये संवद् १७३७ (सन् १६८० ई०) के आस-पास वर्तमान थे। इन्होंने 'शकुन्तला नाटक' का आख्यान दोहा, चौपाई, सवैया आदि छन्दों मे लिखा है। इनके कुछ फुटकल कवित्त भी मिलते है। शृगार रस के अच्छे कवि थे। संयोग शृंगार-वर्णन मे इन्होंने विशेष रस लिया है। औरंगजेब के पुत्र आजमशाह के यहां भी इनका रहना पाया जाता है। दो और 'नेवाज' थे जिनमे से एक भगवंत राय खीची के यहाँ थे।

श्रीधर या मुरलीधर

ये ब्राह्मण थे और प्रयाग के रहने वाले थे। सवत् १७३७ (सन् १६८० ई०) के लगभग उत्पन्न हुए थे। इनका 'जंगनामा' अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। इनके रीति-ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है।

सूरति मिश्र

ये आगरे के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इनका कविता-काल अठारहवी शताब्दी का अन्त माना जाता है। इन्होंने संवद् १७६६ (सन् १७०९ ई०) में 'अलकार माला' और संवद् १७९४ (सन् १७३७ ई०) मे बिहारी 'सतसई' की 'अमरचन्द्रिका' टीका लिखी। इन्होंने और कई टीकाएँ लिखीं। इनके सात ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जो रीति ग्रन्थ है।

कवीन्द्र (उदयनाथ)

इनका जन्म संवत् १७३६ (सन् १६७६ ई०) के आस पास हुआ था। इन्होंने 'रसचन्द्रोदय' संवत् १८०४ (सन् १७४७ ई०) में 'विनोद चन्द्रिका' संवत् १७७७ (सन् १७२० ई०) में और 'जोग लीला' ग्रन्थों की रचना की है। शृङ्गार पर लिखा 'रस चन्द्रोदय' ग्रंथ, इनका बहुत प्रसिद्ध है।

श्रीपति

ये कालपी के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। 'काव्य सरोज' 'कवि कल्पद्रुम', 'रस सागर', अनुप्रास विनोद, 'विक्रम विलास', 'सरोज कलिका' और 'अलंकार-गंगा' नामक ग्रन्थों की इन्होंने रचना की है। 'काव्य-सरोज' इनका रीति-ग्रन्थ है। इसमें काव्यांगों का बड़ा ही सुलझा हुआ विवेचन है। अनुप्रास इनका प्रिय अलंकार जान पड़ता है। सरस भाषा-प्रयोग इनकी विशेषता है। आचार्यत्व और कवित्व का इनमें अद्भुत समन्वय हुआ था।

वीर

इन्होंने संवत् १७७६ (सन् १७२२ ई०) में 'कृष्ण चन्द्रिका' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें रस और नायिका-भेद का विवेचन है। ये दिल्ली के रहने वाले श्रीवास्तव कायस्थ थे।

कृष्ण कवि

ये प्रसिद्ध कवि बिहारी के पुत्र माने जाते हैं। इन्होंने बिहारी सतसई पर टीका लिखी है। दोहे के भाव को स्पष्ट करने के लिए इन्होंने सवैये लगाए हैं। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था।

रसिक सुमति

इन्होंने 'अलंकार चन्द्रोदय' नामक अलंकार ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' के आधार पर दोहों में लिखा है।

गंजन

ये काशी के रहने वाले गुजराती ब्राह्मण थे। इन्होंने 'कमरुद्दीन खाँ हुलास' नामक ग्रन्थ की रचना की है जिसमें शृंगार रस का वर्णन है। कविता साधारण है।

अली मुहिब खाँ (प्रीतम)

ये आगरे के रहने वाले थे। इन्होंने संवत् १७८७ (सन् १७३० ई०) में 'खटमल-बाईसी' नामक हास्य रस की पुस्तक लिखी है। इस काल के शृंगारिक वातावरण में 'हास्य रस' में लिखने के कारण इनका ऐतिहासिक महत्व है।

भूपति (राजा गुरुदत्त सिंह)

अमेठी जिला सुल्तानपुर के राजा थे और इन्होंने संवत् १७९१ (सन् १७३४ ई०) में शृंगार प्रधान एक 'सतसई' दोहों में लिखी है। ये वीर, सहृदय और कवियों का सम्मान करने वाले स्वाभिमानी राजा थे। कवि उदयनाथ कवीन्द्र इनके दरबार में अधिक दिनों तक रहे।

दलपति राय और वंशीधर

इनमें से एक महाजन और एक ब्राह्मण था। दोनों ने मिलकर संवत् १७९२ (सन् १७३५ ई०) में महाराणा जगत सिंह के नाम पर 'अलंकार रत्नाकर' नामक ग्रन्थ बनाया। यह ग्रन्थ जसवन्त सिंह के 'भाषा भूषण' के आधार पर बनाया गया है।

सोमनाथ

इन्होंने संवत् १७९४ (सन् १७३७ ई०) में 'रस पीयूष निधि' नामक रीति-ग्रन्थ का निर्माण किया। ये आचार्य और कवि दोनों थे। कविता में इन्होंने अपना नाम 'ससिनाथ' भी रखा है। मुक्तक काव्य के अतिरिक्त इन्होंने प्रबन्ध-काव्य की ओर भी ध्यान दिया है जो इस प्रकार है—'कृष्ण लीलावती पंचाध्यायी' (संवत् १८०० सन् १८४३ ई०) 'सुजान-विलास' सिंहासन बत्तीसी, पद्य में, (संवत् १८०७ सन् १७५० ई०) 'माधव विनोद' नाटक (संवत् १८०९ सन् १७५२ ई०)।

रघुनाथ

ये बन्दीजन काशीराज महाराज बरिवण्ड सिंह के सभा कवि थे। शिवसिंह जी ने 'काव्य कलाधर', 'रसिक मोहन', 'जगत मोहन' और 'इश्क महोत्सव' नामक चार ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनका कविता काल संवत् १७९०, से संवत् १८१० (सन् १७३३–१७५३ ई०) तक समझना चाहिए। 'रसिक मोहन' इनका अलंकार ग्रन्थ है जिसमें सभी रसों के उदाहरण आये हैं, केवल शृंगार रस के ही नहीं।

पद्माकर

इनका जन्म संवत् १८१० (सन् १७५३ ई०) में बाँदे में हुआ था। ये तैलंग ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम मोहन लाला था, जो स्वयं एक अच्छे कवि थे। इन्होंने ८० वर्ष की अवस्था में गंगा के तट पर कानपुर में संवत् १८९० (सन् १८३३ ई०) में शरीर त्याग किया। इन्होंने कई राजाओं का आश्रय ग्रहण किया था। संवत् १८५६ (सन् १७९९ ई०) में सतारे के महाराज रघुनाथ राव (राघोबा) के दरबार में गये जहाँ राजा ने एक हाथी एक लाख रुपए तथा दस गाँव प्रदान कर इनका सम्मान किया। इसके बाद जयपुर के राजा प्रताप सिंह के यहाँ रहे। प्रताप सिंह के पश्चात्

महाराज जगत सिंह के समय में इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'जगत विनोद' की रचना की। इनके अलंकार ग्रन्थ 'पद्माभरण' की भी रचना इसी समय की ज्ञात होती है जो दोहों में रचा गया है। महाराज जगतसिंह के परलोकवासी होने के पश्चात् 'पद्माकर' ग्वालियर के राजा दौलत राव सिंधिया के दरबार में उपस्थित हुए। वहाँ भी इनका बड़ा आदर हुआ। बाद में इन्होंने 'प्रबोध पचासा' और 'राम रसायन' नामक ग्रन्थों की रचना की। बाँदा नरेश हिम्मत सिंह की प्रशंसा में इन्होंने 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' लिखी। जीवन का अन्तिम दिन इनका कष्ट से बीता। कहा जाता है इन्हें कुष्ठ-रोग हो गया और बाँदा छोड़कर गंगा तट पर कानपुर चले गए जहाँ इनकी मृत्यु हुई। यहीं पर उन्होंने 'गंगा लहरी' की रचना की।

पद्माकर इस काल के अन्तिम कवियों में सर्वश्रेष्ठ है। लोकप्रियता और सरसता की दृष्टि से कविवर बिहारी और मतिराम को छोड़कर इस काल में इनकी टक्कर का कोई अन्य कवि नहीं हुआ। मतिराम की कविताओं के पश्चात् मर्मस्पर्शी एवं हृदयहारी भावों के लिए यदि किसी सरस कवि का नाम लिया जा सकता है तो भाग्यशाली कवि 'पद्माकर' ही हैं ये मूलतः कवि थे आचार्य नहीं, **किन्तु समय के प्रवाह में पड़कर इन्होंने भी अपनी उत्तम रचनाओं को लक्षणानुकूल बनाने का प्रयत्न किया है।** नायिका भेद सम्बन्धी इनका ग्रंथ 'जगद्विनोद' है जो मतिराम कृत 'रसराज' की भाँति ही प्रसिद्ध है। 'पद्माकर' की यह अपनी विशेषता थी कि पूर्ववर्ती कवियों के भावों को सरलतम, सुन्दर एवं नवीन रूप प्रदान कर देते थे, 'जगद्विनोद' जिसका ज्वलन्त उदाहरण है।

समकालीन कवियों में 'प्रतापसाहि' को छोड़कर इनकी टक्कर का कोई दूसरा कवि नहीं था। इनके कवित्त और सवैये इतने प्रसिद्ध हुए और उनकी शैली इतनी मनोरंजक और हृदयहारी थी कि आज भी गाँवों में घूम कर जीविकोपार्जन करने वाले भट्ट या अन्य लोग उन्हें गाते हुए पाए जाते हैं और उनमें इतना नाद-सौन्दर्य है कि अर्थ समझे बिना भी श्रोता उनका भरपूर आनन्द लेकर याचक को सामर्थ्य भर निहाल कर देता है। अलंकारप्रियता कवि में स्पष्ट झलकती है। अनुप्रास, उपमा और रूपक तथा यमक आदि अलंकार उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं। अनुप्रास तो पद्माकर को इतना प्रिय था कि कहीं-कहीं इनके मुक्तक काव्य की सजीव कल्पना को भी वह ढक लेता है और वे उसका मोह त्याग नहीं करते। जैसे—

एहो नंद लाला! ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तौ चलौ, जौरे जुरि जायगी।
कहैं पदमाकर नहीं तौ ये झकोरे लगैं,
औरे लौं अचाका बिनु घोरे घुरि जायगी॥

सीरे उपचारन घनेरे घन सारन सों
देखत ही देखौ दामिनी लौं दुरिजायगी ॥
तौ ही लगि चैन जौं लो चेतिहै न चंद मुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी में चुरि जायगी ॥

रीतिपरम्परागत शृंगार वर्णन ही इनके काव्य का मुख्य विषय है, पर कहीं-कहीं इन्होंने मर्यादा का अतिक्रमण कर दिया है। परिणामतः न जाने कितनी जाली श्लील रचनाएँ पद्माकर के नाम पर धड़ल्ले से चल पड़ीं जिनके कवियों के नाम अज्ञात हैं। इनकी लोकप्रियता का यह दुष्परिणाम भी हुआ।

इनकी भाषा व्रज ही थी, पर उसमें बुन्देलखण्डी का सम्मिश्रण भी देखने को मिलता है। प्रचलित उर्दू-फारसी शब्दों का भी प्रयोग पद्माकर ने बड़े उपयुक्त स्थान पर किया है। कवित्त, सवैया तथा दोहा इनका प्रिय छन्द रहा है। मुहाविरे और लोकोक्तियों का भी बड़ा अच्छा प्रयोग इनकी कविता में मिलता है। मुक्तक काव्य की तो इनमें प्रधानता है ही, पर इन्होंने 'प्रबन्ध' काव्य भी लिखा है जिसमें इन्हें अपेक्षाकृत सफलता कम मिली है। ये मूलतः नारी-सौन्दर्य, अनुरोध, विरह, चन्द, आँसू, पश्चात्ताप, ऋतुवर्णन आदि शृंगारिक विषयों के कवि हैं। उदाहरणार्थ—

आई संग अलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहत सोहाई सीस चूँदरी सुपट की।
कहै पद्माकर गंभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी ॥
ताही समय मोहन जो बाँसुरी बजाई, तामे,
मधु मलार गाई और बंसी बट की।
तान लागे लट की, रही न सुधि घूँघट की,
घर की, न घाट की, न बाट की, न घट की ॥ (पद्माकर)

इसके अतिरिक्त दूलह, कविता काल संवत् १८०० (सन् १७४३ ई०) से संवत् १८२५ (सन् १७६८ ई०) तक, कुमारमणिभट्ट कविता काल संवत् १८०३ (सन् १७४६ ई०), शंभुनाथ मिश्र इस नाम के तीन कवि हुए। क्रम से इनका कविताकाल संवत् १८०६ (सन् १७४९ ई०), संवत् १८६७ (सन् १८१० ई०) और संवत् १९०१ (सन् १८४४ ई०) है। शिवसहाय दास कविताकाल संवत् १८०९ (सन् १७५२ ई०) रूप साहि कविताकाल संवत् १८१३ (सन् १७५६ ई०), ऋषिनाथ कविताकाल संवत् १७९० से १८३१ (सन् १७३३ ई०-१७७४ ई०), बैरीसाल कविताकाल संवत् १८२५ (सन् १७६८ ई०), दत्त कविताकाल संवत् १८३० (सन् १७७३ ई०),

रतन कवि जन्म संवत् १७६८ (सन् १७४१ ई०) कविताकाल संवत् १८३० (सन् १७७३ ई०), नाथ (हरिनाथ), कविताकाल संवत् १८२६ (सन् १७६९ ई०), मनीराम मिश्र, कविताकाल संवत् १८२९ (सन् १७७२ ई०), चन्दन कविताकाल संवत् १८२० से १८५० (सन् १७६३ ई०–१७९३ ई०), देवकीनन्दन कविताकाल संवत् १८७१ से १८५७ (सन् १८१४ ई०–१८०० ई०), महाराज रामसिंह कविताकाल संवत् १८३६ से १८६० (सन् १७८२ ई०–१८०३ ई०), मान कवि कविताकाल संवत् १८४५ (सन् १७८८ ई०), थान कवि कविताकाल संवत् १८५८ (सन् १८०१ ई०), बेनी बन्दीजन कविताकाल सं० १८४९ से १८८० तक (सन् १७९२ ई०–१८२३ ई०), बेनी प्रवीन कविताकाल संवत् १८७४ (सन् १८१७ ई०) जसवन्त सिंह द्वितीय कविताकाल संवत् १८५६ (सन् १७९९ ई०), यशोदानन्द (जन्म संवत् १८२८ सन् १७७१ ई०), करन कवि कविताकाल संवत् १८६० (सन् १८०३ ई०), गुरदीन पाण्डेय, कविताकाल संवत् १८६० (सन् १८०३ ई०), ब्रह्मदत्त कविताकाल संवत् १८६० से १८६५ (सन् १८०३–१८०८ ई०), ग्वाल कवि कविताकाल संवत् १८७९ से १९१८ (सन् १८२२–१८६१ ई०), प्रताप साहि कविताकाल संवत् १८८० से १९०० (सन् १८२३–१८४३ ई०) तथा रसिक गोविन्द कविताकाल संवत् १८५० से १८९० (सन् १७९३–१८३३ ई०) आदि प्रमुख कवियों ने अपनी शृंगारपरक रचनाओं एवं लक्षण ग्रन्थों से उत्तर मध्यकालीन साहित्य की अभिवृद्धि की है।

इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि इस काल में शृंगारपरक कविताओं एवं लक्षण ग्रन्थों को छोड़कर और कुछ लिखा ही नहीं गया। इन कवियों के अतिरिक्त बहुत से ऐसे कवि इस काल में हुए हैं जिन्होंने स्वतन्त्र रचनाएँ की हैं। इनके द्वारा प्रबन्ध काव्य, नीति या भक्ति-ज्ञानसम्बन्धी पद्य, शृंगारपरक फुटकल कविता और नीतिपरक फुटकल पद्य रचे गए। ज्ञानोपदेशकों एवं आश्रयदाताओं की प्रशंसा में लिखने वाले वीर रस-प्रधान कवियों का भी नितान्त अभाव नहीं था, पर साहित्यिक दृष्टि से इनकी रचनाएँ उतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं जितनी कि शृंगार प्रधान प्रमुख कवियों की रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं। इन कवियों में बनवारी, सबल सिंह चौहान, वृन्द, छत्रसिंह कायस्थ, बैताल, आलम, गुरुगोविन्द सिंह, श्रीधर या मुरलीधर, लाल कवि, रसनिधि, महाराज विश्वनाथ सिंह, नागरीदास जी, जोधराज, बख्शी हंसराज, जनकराज-किशोरी शरण, अलबेली अलि, चाचा हित वृन्दावनदास, गिरधर कविराय, भगवत रसिक, श्री हठी जी, गुमान मिश्र, सरजू राम पण्डित, भगवन्त राय खीची, सूदन, हरनारायण, ब्रजवासीदास, गोकुल नाथ, गोपी नाथ, मणिदेव, बोधा, रामचन्द्र, मंचित, मधुसूदनदास, मनियार सिंह, कृष्णदास, गणेश, सम्मन, ठाकुर, अपनी कलि

प्राचीन ठाकुर, असनी वाले ठाकुर, नवला सिंह कायस्थ, रामसहाय दास, चन्द्रशेखर, बाबा दीनदयाल गिरि, पजनेस और गिरधरदास प्रमुख है।

वीर काव्य परम्परा

वीर रसात्मक प्रवृत्ति

इस काल की सामाजिक एवं राजनैतिक स्थिति ऐसी थी कि वीर रस प्रधान रचनाओं के लिए अवकाश बहुत कम था। पराजित संस्कृति और मनोवृत्ति का यह काल था और उस हीनावस्था में वीर परक भावो का उद्गार कवि के हृदय मे सम्भव नही। आदि काल मे जो रचनाएँ गर्वोक्तियो के रूप में प्राप्त थी, उनमें भी राष्ट्रीय चेतना का अभाव था, केवल आश्रय दाताओं की अतिशयोक्तिपूर्ण उनमें प्रशंसा थी। प्रत्येक राजा अपने को सम्राट और अपने राज्य को राष्ट्र समझता था, जिससे राष्ट्रीयता नामक भावना का विकास नही हो पाया और इस शृंगार काल की कलम तो मदिरा और विरहिणियो के आँसू में ही डूब गई। पर इसका यह कदापि अर्थ नही कि वीर रस प्रधान रचनाओ का लिखना बन्द हो गया। **वीर भावना का सम्बन्ध मानव की सहजात वृत्तियों से है, और वह कभी नहीं मरती।** परिणामस्वरूप समय समय पर शृंगारिक कवियों द्वारा भी वीर रस प्रधान रचनाएँ होती रही है।

दरबारी कवियो की वे दर्पपूर्ण उक्तियाँ जिनमे उन्होंने अपने आश्रयदाताओ अथवा उनके पूर्वजो की कीर्ति का गान किया है, वीर रस प्रधान रचनाओ के अन्तर्गत आती है। वीर बालाओ ने युद्धकाल मे अपने रूप का नग्न अत्यधिक अपने पति पर देख कर जो फटकारें दी है वे भी वीर रसात्मक रचनायें है। राजपूती दरबारो में लिखे गए साहित्य मे ऐसी रचनाओ की अधिकता है क्योकि तलवार ही उनकी सम्पत्ति और युद्ध ही उनका व्यापार था। कुछ कवि ऐसे भी इस काल में हुए जिन्होने यवन शासकों के विरुद्ध मोर्चा लेने वाले हिन्दू वीरो के यश वर्णन में ही अपनी सारी काव्य शक्ति लगा दी है। इनमे भूषण, सूदन और लाल कवि प्रमुख हैं। ये तीनों ही मूलतः वीर रस प्रधान कवि हैं, जिनके हृदय मे देशभक्ति की चिनगारी जलो थी और उन्होंने देश-भक्तो का ओजपूर्ण वर्णन किया। महाराज शिवाजी और छत्रसाल की वीरता और देश भक्ति से इतिहास गौरवान्वित हुआ है। इन्ही दरबारो ने भूषण और लाल कवि को उत्पन्न किया। सूदन कवि ने भरतपुर के महाराज सूरजमल का वीरतापूर्ण चरित्र 'सुजान चरित्र' मे लिखा है।

भूषण—सं० १६७०–१७७२ (सन् १६१३–१७१५ ई०)

भूषण कश्यप गोत्र में उत्पन्न कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम रतिनाथ (उपनाम रत्नाकर) था। कानपुर के निकट यमुना नदी के किनारे त्रिविक्रमपुर

(तिकवांपुर) में ये रहते थे इसके निकट ही 'अकबरपुर बीरबल' नामक एक गाँव है। जनश्रुति के आधार पर इसे ही बीरबल का जन्मस्थान माना जाता है। निम्न दोहे के द्वारा इनके सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है—

> द्विज कनौज कुल कस्यपी, रत्नाकर सुत धीर।
> बसत त्रिविक्रमपुर सदा, तरनि तनूजा तीर।

अब तक शिवराजभूषण की जितनी भी प्रकाशित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं उन सबमें भूषण के पिता का नाम 'रत्नाकर' दिया हुआ है जैसा कि उपर्युक्त दोहे से स्पष्ट है। 'शिवराजभूषण' की एक हस्तलिखित प्रति सिहोर (काठियावाड़) के रहने वाले स्वर्गीय गोविन्द गिल्लाभाई के पास भी थी जिसमें इनके पिता का नाम रत्नाकर नहीं बल्कि रतिनाथ दिया हुआ है।

> द्विज कनौज कुल कस्यपी, रतिनाथ को कुमार।
> बसत त्रिविक्रमपुर सदा, जमुना-कंठ सुठार॥

रतिनाथ जी देवी के बड़े भक्त थे। गाँव के निकट ही एक स्थान पर ये चंडी पाठ किया करते थे। चण्डी के प्रताप से ही इन्हें चार पुत्ररत्नों की प्राप्ति हुई। चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और नीलकण्ठ (जटाशंकर)।

जिनमें जटाशंकर के बारे में अब यह प्रायः सिद्ध हो गया है कि ये भूषण के भाई नहीं थे। भूषण तीन ही भाई थे। ये तीनों भाई प्रसिद्ध कवि थे, इनमें चिन्तामणि मुगल दरबार में रहते थे और मतिराम को बूँदी नरेश के यहाँ आश्रय प्राप्त था। भूषण घर पर ही रहा करते थे। भूषण किस प्रकार शिवाजी के दरबार में पहुँचे, इस सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। एक किंवदन्ती के अनुसार भूषण एक बार खाना खाने बैठे, दाल में नमक कम था और इन्होंने भाभी से नमक माँगा किन्तु भाभी ने नमक नहीं दिया, उलटे ताना देते हुए उसने कहा—क्या नमक कमाकर लाये हो। ऐसी चुभती हुई बात को सुनकर भूषण मर्माहत हो गये और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक नमक नहीं लाऊँगा यहाँ भोजन नहीं करूँगा। दूसरी किंवदन्ती इस प्रकार है कि भूषण की पत्नी एक बार गणेश चतुर्थी के अवसर पर पूजा करने नहीं गयी इस पर ताना मारते हुए जेठानी ने कहा कि अपने पति देव से कह दे कि जीवित गणेश (हाथी) दरवाजे पर बाँध दे जिससे तू यहीं पर पूजा किया कर, क्या जरूरत है दूर जाने की ?

कहा जाता है कि पहले ये औरंगजेब के दरबार में गये और अपनी वीर रस की कविता सुनाकर उसे प्रसन्न कर लिया। कुछ दिन बाद बादशाह इनकी अत्यन्त कटु कविता सुनकर बहुत क्रुद्ध हुआ और निकल जाने का हुक्म दिया, वहाँ से चल कर ये

शिवाजी के दरबार में आये जहाँ पर इन्हें 'कवि भूषण' की उपाधि मिली। इनका आरम्भिक नाम 'घनश्याम' था। शिवा जी से इनकी भेंट भी एक विचित्र ढंग से हुई। कहते हैं कि जिस समय भूषण रायगढ के किसी मन्दिर मे रुके थे, शिवाजी वेष बदल कर इनसे मिलने आए। और यह जानना चाहा कि मुझसे मिलने का उनका क्या उद्देश्य है। शिवाजी के पूछने पर भूषण ने बताया कि मैं शिवाजी को अपनी कविता सुनाना चाहता हूँ। 'कुछ मुझे भी सुनाइये' ऐसा आग्रह करने पर भूषण ने 'इन्द्र जिमि जंभ पर...' ५२ बार सुनाया किन्तु उसके बाद सुनाने से इनकार कर दिया। दूसरे दिन दरबार में शिवाजी ने भूषण को ५२ लाख रुपया ५२ हाथी और ५२ गाँव पुरस्कार मे देकर अत्यधिक सम्मानित किया। कुछ लोगों का कहना है कि भूषण ने एक ही कवित्त को ५२ बार नही बल्कि ५२ छन्द ५२ बार पढ़ा था। राजा ने प्रतिज्ञा कर ली कि वे जितनी बार कवित्त को सुनायेंगे उतने लाख रुपये उतने हाथी और उतने ही गाँव पुरस्कार में दिए जायेंगे। पुरस्कार मे प्राप्त हाथियो पर नमक लदवा कर भूषण ने अपनी भाभी के पास भेज दिया। कुछ दिनो बाद शिवाजी के यहाँ से घर लौटते समय वे महाराज छत्रसाल से मिलने के लिए गए। छत्रसाल ने शिवा जी का राजकवि समझ कर इनका बड़ा सम्मान किया। यहाँ तक कि विदा के समय महाराज छत्रसाल ने इनकी पालकी के डंडे पर अपना कंधा रख दिया, भूषण पालकी से कूद पड़े और उनकी प्रशंसा में यह प्रतीकात्मक कवित्त पढा—

'सिवा को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को।'

ग्रन्थ

शिवसिंह सेंगर ने इनके चार ग्रन्थो का उल्लेख किया है—(१) शिवराज भूषण, (२) भूषण हजारा (३) भूषण उल्लास (४) दूषण उल्लास। इनमें से केवल शिवराज भूषण अथवा शिवभूषण ही उपलब्ध होता है। तीसरे और चौथे स्वतंत्र ग्रन्थ नही ज्ञात होते। ऐसा लगता है कि इन्होंने काव्यशास्त्र सम्बन्धी कोई ग्रन्थ लिखा था, ये दोनो उसके दो अध्याय, अलंकार प्रकरण तथा दोष प्रकरण, रहे होंगे। 'शिवा बावनी' और 'छत्रसाल दशक' के साथ भी भूषण जी का नाम जोड़ा जाता है। सन् १८९० ई० के पहले शिवा बावनी का कुछ पता नही था। बाद मे उनके वीर रस के ५२ कवित्तों का संग्रह शिवा बावनी के नाम से प्रकाशित किया गया। 'शिवा बावनी' का प्रकाशन कच्छ भुज के पुस्तक विक्रेता भाटिया गोवर्धन दास लक्ष्मीदास ने सन् १८८९ मे किया। शिवा जी को भूषण ने जो कवित्त सुनाया था उसके सम्बन्ध में तरह तरह की बातें की जाती हैं। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि भूषण ने एक ही कवित्त को ५२ बार सुनाया था और कुछ लोग कहते हैं कि ५२ कवित्त बावन बार मे सुनाया था। दूसरे मत के आधार पर ही ५२ कवित्त को लेकर 'शिवा बावनी' का प्रकाशन

हुआ। 'छत्रसाल दशक' का प्रकाशन भी सर्व प्रथम सन् १८९० ई० में नाथिना गोवर्धनदास लक्ष्मीदास ने किया। छत्रसाल दशक में संकलित सभी पद भूषण के नहीं हैं। इन दोनों की हस्तलिखित प्रतियों का न मिलना इसका परिचायक है कि पहले इनका कोई अस्तित्व न था और न तो सन् १८९० ई० के पूर्व किसी पुस्तक में इनका उल्लेख ही हुआ है। अपनी ऐतिहासिक अज्ञानता के कारण संग्रहकारों ने 'छत्रसाल दशक' में बूँदी वाले छत्रसाल से सम्बन्धित पदों को भी संग्रहीत कर दिया है।

भूषण ने जिस युग में रचना की है वह शृंगार युग था, किन्तु वीर रस में अत्यन्त सफल रचना करके भूषण ने अपनी स्वच्छन्दतावादी मनोवृत्ति का परिचय दिया है। अन्य आश्रित कवियों की भाँति इनकी कविता में कोरी चाटुकारिता के ही दर्शन नहीं होते वरन् उसमें जातीय गौरव एवं राष्ट्रीय भावना का उद्रेक हुआ है। शिवाजी का चित्रण जातीय गौरव एवं राष्ट्रीय संस्कृति के रक्षक के रूप में किया गया है। कुछ लोगों ने भूषण को जातिगत भेद-भाव रखने वाला बताया है किन्तु इनकी दृष्टि इतनी संकुचित नहीं थी। कहीं भी इन्होंने मुसलमान जाति की निन्दा नहीं की है। निन्दा की गयी है तो अत्यन्त कट्टर एवं अत्याचारी मुसलमान बादशाह औरंगजेब की। अकबर हुमायूँ आदि की तो प्रशंसा ही की गई है—

बब्बर अकब्बर हिमायूँ साह साहन सौं,
नेह तें मुवाली छैल हीरन तें सगरी।

वीर रस के अत्यन्त व्यापक क्षेत्र को चुनकर भूषण ने उसके विविध पक्षों की बड़ी सुन्दर व्यंजना की है। संत्रास और भय का मानसिक ऊहापोह, खीझ, व्याकुलता तथा दीनता आदि से युक्त शिवाजी का आतंक चित्रित करने में भूषण ने अनेक नवीन उद्भावनाएँ की हैं। निम्न पंक्ति में शिवाजी के आतंक के कारण शत्रु पक्ष में व्याप्त आकुलता द्रष्टव्य है—

'चौंकि चौंकि चकता कहत चहुँधा तें यारो,
लेत रहो खबरि कहाँ लौं सिवराज है।'

और तो और शत्रु के यहाँ की शुक-सारिका भी शिवाजी के आतंक से सशंक है—

'सासता की कहा चली एते साल आगरे मैं,
आयो आयो सिवराज रटैं सुक सारिका।'

शृंगार रस में यद्यपि भूषण ने बहुत कम छन्द लिखे हैं किन्तु एकाध स्थल पर तो इसमें भी बड़ी ही नूतन उद्भावनाओं की कल्पना दिखाई पड़ती है। काले रंग वाले कृष्ण और उद्धव आदि से छली जाने पर भी गोपिकाएँ काले कौए पर विश्वास करती हैं जिसमें उनकी मानसिक विलक्षणता परिलक्षित होती है—

'कारो घन घेरि घेरि मारयो अब चाहत है,
एते पर करति भरोसो कारे काग को।'

भूषण ने वीर रस के सन्दर्भ मे युद्ध वर्णन की अपेक्षा युद्ध के लिए प्रस्थान करने वाली सेना का चित्रण ही अधिक किया और वह भी बड़ी सफलता के साथ। जिस समय वीर शिवाजी की सेना चलने लगती है, पृथ्वी को धारण करने वाले बेचारे शेषनाग और कच्छप की तो दुर्दशा ही हो जाती है, समुद्र भी काँपने लगता है और अपार 'धूरि धारा' में सूर्य एक टिमटिमाते तारे की भाँति दिखायी पड़ता है—

तारा सों तरनि धूरि धारा में लगत, जिमि
थारा पर पारा पारावार यों हलत है।

सेना प्रस्थान के समय के कुछ और मार्मिक चित्र लिए जा सकते हैं—

'दल के दरारन तें कमठ करारे फूटे
केरा के से पात बिहराने फन सेष के।'

अथवा—'काँच से कचरि जात सेष के असेष फन,
कमठ की पीठ पै पिठी सी बाँटियतु है।'

काव्य-शास्त्र का निरूपण भूषण का साध्य नहीं वरन् साधन मात्र था जिससे उस क्षेत्र में इन्हें उतनी सफलता नहीं मिल पायी है जितनी कि अन्य रीतिकालीन आचार्य कवियों को मिली है। कई स्थानों पर अलंकारों के लक्षण और उदाहरण अस्पष्ट और दोषपूर्ण हो गये हैं। यही नहीं कहीं-कहीं तो अलंकारों के भेद-प्रभेद गिना दिए गए हैं किन्तु सबके उदाहरण देने की आवश्यकता ही नहीं समझी गयी। लक्षणों की अपेक्षा इनके उदाहरण अधिक अशुद्ध हैं।

भूषण ने काव्य-भाषा के जिस रूप को स्वीकार किया है वह पर्याप्त परिष्कृत नहीं है। इनकी फुटकल रचनाओं की भाषा साफ और स्पष्ट है। शृंगार के जो दो चार पद मिलते हैं उनका सा शब्द माधुर्य 'शिव भूषण' मे नहीं मिलता। इनकी भाषा में अरबी, फारसी और तुर्की शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। इसका कारण यह है कि उस समय की मराठी भाषा मे लगभग ६६ प्रतिशत फारसी के शब्द पाये जाते हैं। महाराष्ट्रवासियों को अपनी कविता बोधगम्य बनाने के लिए मराठी भाषा की प्रवृत्ति के अनुकूल इन्हें फारसी के अधिकाधिक शब्द ग्रहण करने पड़े।

लाल कवि

ये मऊ (बुन्देलखण्ड) के रहने वाले थे और इनका वास्तविक नाम गोरे लाल पुरोहित था। बुन्देलखण्ड के महाराज छत्रसाल के ये दरबारी कवि थे और महाराज

की आज्ञा से इन्होंने उनका जीवन चरित दोहों-चौपाइयों में बड़े ज्योरेवार ढग से लिखा है। इस पुस्तक मे छत्रसाल सिंह का सन् १७०७ ई० तक का ही जीवन-वृत्त मिलता है। ऐसी स्थिति में या तो यह पूर्ण रूप में मिलती नहीं अथवा इसके बाद कवि की मृत्यु हो गई। फिर भी जिस रूप में उनका यह 'छत्र प्रकाश' नामक ग्रन्थ मिलता है, बड़े महत्व का है और इसमें ऐतिहासिक घटनाओं को बद्धत सुरक्षित रखा गया है। दरबारी कवियों की भाँति केवल इनमें आश्रयदाताओं की चाटुकारी ही नहीं है बल्कि कवि ने इसमें उस घटना का भी उल्लेख किया है जिसमें महाराज 'छत्रसाल' को भागना पड़ा था।

काव्य गुणों से युक्त यह रचना अत्यन्त प्रौढ़ है। विशद वर्णनों के साथ-साथ बीच-बीच में ओजस्वी भाषणों से यह पुस्तक भरी पड़ी है। भाषा भावों को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ है। **इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि 'छत्र प्रकाश' मुक्तक काव्यों के काल में एक सफल प्रबन्ध रचना का आदर्श उपस्थित करती है,** जिसके लिए उस समय वातावरण नहीं था। 'छत्र प्रकाश' के पद्य कितने सरल एवं स्वाभाविक हैं, इसका एक उदाहरण देखें—

> **"लखत पुरुष लच्छन सब जानै। पच्छी बोलत सगुन बखानै॥**
> **सतकवि कवित सुनत रस पागै। बिलसति मति अरथन में आगै॥**
> **रुचि सों लखत तुरंग जौनी के। बिहँसि लेत मोजरा सब ही के॥**
> **चौंकि चौंकि सब दिसि उठे सूबा खान खुमान।**
> **अबधौं धावै कौन पर छत्रसाल बलवान॥**

स्मरणार्थ

(१) **विभिन्न नाम**—१. उत्तर मध्यकाल
२. रीतिकाल (पं० रामचन्द्र शुक्ल)
३. श्रृंगार काल (पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)
४. अलंकृत काल (मिश्र बन्धु)
५. कला काल (पं० रमाशंकर शुक्ल रसाल)

(२) **परिस्थितियाँ**—आरम्भ में राजनीतिक स्थिरता, राजकर्मचारियों की निरंकुशता किसानों की उपेक्षा तथा गरीबों और अमीरों में निरन्तर बढ़ती दूरी इस काल की प्रमुख विशेषता रही।

(अ) राजनीतिक—औरङ्गजेब की मृत्यु उपरान्त मुगल साम्राज्य नष्टप्राय। सामन्त, सूबेदारों का स्वतंत्र शासक बन जाना। राजपूत शासकों में भी भोग विलास की भावना।

(ब) धार्मिक—हिन्दी कवियों की भक्ति भावना का अठारहवीं शताब्दी आते-आते विकृत होना। भगवान राम का रसिया राम तथा श्रीकृष्ण का छलिया कृष्ण के रूप में स्थापित होना। सम्प्रदायों और मठों में आपसी प्रतिद्वन्दिता। धर्म प्रचार के केन्द्र विलास-तृप्ति के साधन।

(स) सामाजिक—राजा और सामन्त विलासी, जनता अशिक्षित एवं निर्धन। जनता के कन्धो पर करों का गम्भीर बोझ। इनके नैतिक बल को नष्ट करने वाले नादिरशाह एवं अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण। अन्धविश्वास एवं धार्मिक आडम्बरों का बोल-बाला। अनेक जातियों एवं उपजातियों का आविर्भाव। बाल विवाह, वृद्ध विवाह एवं बहुविवाह का जोर।

इस काल की विशेषताएँ—

(१) शृङ्गारिकता—रचना मे सर्वत्र शृंगार की प्रधानता। शृंगार के दोनों पक्ष संयोग एवं वियोग को खूब सजाया गया। कविता विवेकहीन विलासमयी वासना की तृप्ति का साधन। प्रकृति का चित्रण उद्दीपन विभाव के रूप में। सयोग में आनन्ददायिनी और वियोग मे खिन्न। 'षट् ऋतु वर्णन' एवं 'बारह मासा' उद्दीपन रूप मे ही लिखे गये।

(२) लक्षण ग्रन्थों का निर्माण—कवि एवं आचार्य दोनों का काम एक ही कवि को करना पड़ता था। संतुलित विवेचन शक्ति एवं मौलिकता का अभाव। संस्कृत के लक्षण ग्रन्थो का असफल अनुकरण। इस युग में दो प्रकार के कवि हुए—प्रथम लक्षण लिखकर स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत करने वाले मतिराम भूषणदेव आदि। द्वितीय केवल उदाहरण ही लिखने वाले—बिहारी आदि। इस काल के कवियों को रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त नाम से तीन वर्गों में भी विभक्त किया जा सकता है।

(३) अलंकार प्रियता—राजदरबार मे सम्मान प्राप्ति हेतु कवियो को अलंकार शास्त्र का ज्ञाता होना अनिवार्य। कला-पक्ष की प्रधानता। परम्परागत अलंकार प्रयोग। अलंकारों के बाहुल्य में स्वाभाविकता का हनन। अलंकार काव्य के साधन न होकर साध्य ही गये।

(४) **मुक्तक काव्य शैली**—कवि कर्म अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने तक सीमित। राजा और नवाबों के पास लम्बी रचनाओं के सुनने के समय का अभाव। प्रबन्ध रचना समाप्त प्राय: कवित्त सवैया एवं दोहा आदि विशेष रूप से लिखे गये।

(५) **शृङ्गार के अतिरिक्त**—इस युग में भूषण, लाल, सूदन पद्माकर आदि ने वीर रस की रचनाएँ कीं। ये रचनाएँ मुसलमानों के अत्याचारों के विरुद्ध सिख, मराठे और कुछ राजपूतों के विद्रोह से सम्बन्धित थीं। प्राय: सभी कवियों ने भक्ति एवं वैराग्य सम्बन्धी भी कुछ न कुछ रचनाएँ कीं। ऐसी रचनाओं का आविर्भाव अतिशय शृङ्गारिक वर्णनों से ऊब कर आत्म-चेतना के क्षणों में हुआ था।

(६) **भाषा**—प्रमुख साहित्यिक भाषा व्रजभाषा थी। इसमें फारसी बुन्देलखण्डी, अवधी आदि के शब्दों का उन्मुक्त प्रयोग। शब्दों को अधिक तोड़ा मरोड़ा गया। बिहारी रसखान और घनानन्द ने व्रजभाषा के रूप सौन्दर्य में वृद्धि की। देव और पद्माकर की कोमलकान्त पदावली से ललित बनी।

(७) **नारी-वर्णन**—नारी के पुत्री, भगिनी, गृहणी, जननी आदि रूपों की उपेक्षा हुई। उसे विलासिनी प्रेयसी के रूप में चित्रित किया गया।

●

आधुनिक काल

(सन् १८५०—अब तक)

हिन्दी के जिस काल को हम आधुनिक काल के नाम से सम्बोधित करते हैं उसकी उपलब्धियों का हिन्दी साहित्य के इतिहास में विशेष महत्व है। भाषा, भाव, शैली, अभिव्यक्ति के माध्यम तथा साहित्य रूप आदि सभी क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन का संकल्प लेकर उस काल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रवेश किया। इसके पूर्व ब्रजभाषा हिन्दी की साहित्यिक भाषा थी और कविता के रूप में जो साहित्य निर्मित हो रहा था, उसका सम्बन्ध दरबारी अथवा सामन्ती सभ्यता से था। न तो जन चेतना के साथ उसका कोई सम्पर्क था और न तो युग चेतना को उद्‌बुद्ध करने की उसमें शक्ति ही थी। इस काल में ब्रजभाषा को साहित्य के सिंहासन से उतार कर उसके स्थान पर खड़ी बोली को मूर्द्धाभिषिक्त किया गया। आरम्भ के कुछ दिनों तक ब्रजभाषा लड़खड़ाती चलती अवश्य रही, पर अब उसका यौवन समाप्त हो गया था और वह उतार पर थी। खड़ी बोली का उदय जिन परिस्थितियों में हुआ था, उससे उसने अपना सम्पर्क विशेष रूप से जन भावना के साथ रखा और आगे चल कर उसने युगीन परिस्थितियों को प्रेरणा देने वाले साहित्य की सृष्टि भी की। अब तक जो ब्रजभाषा ही कविता सृष्टि का माध्यम थी, उस स्थिति में भी परिवर्तन आया। खड़ी बोली को अभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण माध्यम स्वीकार किया गया जिससे केवल प्रबन्ध काव्य और मुक्तक ही नहीं बल्कि कहानी, नाटक उपन्यास और निबन्ध के रूप में भी साहित्य के विविध रूपों का विकास हुआ। ये क्रान्तिकारी परिवर्तन सहसा प्रकट हो गए हों, ऐसी बात नहीं। इनकी भूमिका पहले से ही बन रही थी, केवल उन्हें अवसर की तलाश थी, जिसे पाते ही वे प्रकट हो गये। यह कहना बहुत कठिन है कि साहित्य में यह परिवर्तन कब आया। जहाँ पर आकर यह परिवर्तन बिलकुल स्पष्ट हो गया और पूर्ववर्ती प्रवृत्तियों के प्रभाव से साहित्य को मुक्ति मिली, उसी समय को प्राप्त सामग्रियों के आधार पर आधुनिक काल के आरम्भ का प्रस्थान-बिन्दु माना जा सकता है।

हिन्दी गद्य का आरंभ

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने 'हिन्दी गद्य के आरम्भ' को लेकर बड़ी क्लिष्ट कल्पनाएँ की हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि गद्यारम्भ को लेकर व्यक्त किए गए पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों के विचारों में कोई सार नहीं है।

पर मेरा यह निश्चित मत है कि वह अनावश्यक अवश्य है। आधुनिक हिन्दी गद्य के इतिहास को समझने के लिए 'मध्यकालीन हिन्दी साहित्य' में भटकने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यह कहना कि हिन्दी गद्य का आरम्भ रीतिकाल की गद्य कृतियों, साम्प्रदायिक रूप से रचे गोरखनाथ की रचनाओं, वैष्णवों रचित वार्ता-साहित्य एवं परवर्तीकाल में लिखी ब्रजभाषा टीकाओं में ढूंढा जा सकता है, समीचीन नहीं जान पड़ता। जिस काल में कविता एकमात्र साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम रही है, उस काल के लोग भी, सब समय कविता में ही विचारों का आदान-प्रदान नहीं करते थे। सर्वसाधारण के दैनिक जीवन में काम आने वाला भाषा का कोई-न-कोई रूप अवश्य रहा होगा। भाषा चाहे जो भी रही हो, माध्यम तो गद्य ही रहा होगा। सब न तो कविता कर ही सकते हैं और न तो सब समझ ही सकते हैं। कविता तो विशिष्ट लोगों के कलात्मक जीवन को व्यक्त करने का माध्यम रही है। ऐसी स्थिति में यदि कहीं गद्य का व्यवहार हुआ है तो उसे माध्यम के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, साथ ही ब्रजभाषा का गद्य जो साम्प्रदायिक भक्तों द्वारा अथवा टीकाओं के रूप में लिखा गया, उसे तो कदापि गद्य के विकासक्रम में महत्व नहीं दिया जा सकता क्योंकि हिन्दी गद्य का विकास और खड़ी बोली का विकास एक दूसरे के पूरक अथवा पर्याय हैं। **हिन्दी गद्य के इतिहास से हमारा तात्पर्य केवल खड़ी बोली गद्य के इतिहास से होना चाहिए जो आधुनिक काल के साहित्य की एकमात्र प्रमुख भाषा है।**

खड़ी बोली का गद्य

खड़ी बोली गद्य को विकसित करने का श्रेय अंग्रेजी शासन और उनकी शिक्षा नीति को दिया जाता है, पर बात ऐसी नहीं है। यदि हम तत्कालीन परिस्थितियों एवं अंग्रेजी शासन के प्रयत्नों की उपलब्धियों का मूल्यांकन करें तो स्पष्ट हो जायगा कि खड़ी बोली के आन्दोलन की एक पृष्ठभूमि है और खड़ी बोली गद्य के विकास के लिए युगीन परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं। कुछ लोगों का यह भी मत है कि खड़ी बोली को अस्तित्व में लाने वाले मुसलमान हैं और उर्दूभाषा में उसका मूलरूप ढूंढना चाहिए। उर्दू भाषा में प्रयुक्त होने वाले अरबी-फारसी के शब्दों को निकाल कर आधुनिक हिन्दी गद्य की भाषा को गढ़ लिया गया है। लोगों के इस भ्रम के मूल में है, ब्रजभाषा का समृद्ध साहित्य। अवधी और मुख्यतः ब्रजभाषा के दीर्घकाल तक साहित्यिक भाषा के रूप में लोकप्रिय बने रहने और उसमें प्रचुर श्रेष्ठ साहित्य के रचे जाने के कारण खड़ी बोली एक कोने में उसी प्रकार पड़ी पड़ी रही जैसे प्रान्तों अथवा अंचलों की बोलियाँ पड़ी रहती हैं। वह साहित्य अथवा काव्य-व्यवहार की भाषा

नहीं बन सकी। इसका तात्पर्य यह नहीं कि पूर्ववर्ती साहित्य में खड़ी बोली का अस्तित्व ही नहीं था। उसका अस्तित्व था पर नगण्य मात्रा में था। खड़ी बोली अपने विकास के लिए संघर्ष रत थी, उसे अवसर की तलाश थी और हम देखते हैं कि अवसर पाते ही वह ग्रीष्म में जली दूब की भाँति परिस्थितियों की बाढ़ में फैलकर छा गई।

मोगल शासन काल में उर्दू भाषा अस्तित्व में आयी, पर खड़ी बोली उससे पूर्व वर्तमान थी। भोज के समय से लेकर हम्मीर देव के काल तक चलने वाली अपभ्रंश काव्य की परम्परा में खड़ी बोली के पूर्व रूप को देखा जा सकता है। खुसरो की पहेलियों और भक्तिकालीन निर्गुण धारा के कवियों की 'सधुक्कड़ी' भाषा में भी खड़ी बोली की झलकारी मिलती है। अकबरी शासन काल के कवि 'गंग' ने 'चंद छन्द–बरनन की महिमा' नामक पुस्तक खड़ी बोली—गद्य में लिखी थी। इस पुस्तक की भाषा आधुनिक खड़ी बोली के आस-पास है। आरम्भ में मुसलमान औलियों ने भी खड़ी बोली के गद्य लिखे थे जिसे वे हिन्दवी भाषा के नाम से पुकारते थे। आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के अनुसार शाह मीरान बीजापुरी (मृत्यु सन् १३४३ ई०), शाह बुरहान खान (मृत्यु सन् १३८२ ई०) और सैयद मुहम्मद गेसूद राज (१३९८ ई०) के लिखे पुराने गद्य भी प्राप्त हुए हैं। 'गंग' कवि द्वारा प्रवर्तित गद्य परम्परा कुछ काल के लिए क्षीण हो गयी। संवत् १७९८ में रामप्रसाद निरंजनी और संवत् १८१८ में प० दौलतराम ने क्रमशः योग वाशिष्ठ तथा रविषेणाचार्यकृत जैन पुराण का अनुवाद किया। रामप्रसाद निरंजनी की भाषा तो परिमार्जित और अपने समय से बहुत आगे है, पर पं० दौलतराम की भाषा पर ब्रजभाषा का प्रभाव बना हुआ है। शाहजहाँ के शासन काल के उत्तरार्द्ध और औरंगजेब के शासन के आरम्भ से 'रेखता' में शायरी शुरू हुई जिसमें फारसी और खड़ी बोली का मिश्रण था। बाद में फारसी का प्रभाव कम होने लगा और इसी खड़ी बोली को लेकर उर्दू साहित्य का विकास हुआ जो सर्वसाधारण में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। अतः उर्दू से खड़ी बोली का विकास नहीं हुआ बल्कि खड़ी बोली की सहायता से उर्दू भाषा का विकास हुआ और बाद में चलकर उसका एक स्वतन्त्र रूप हो गया। खड़ी बोली का अपने ढंग से विकास सीमित क्षेत्रों में होता रहा और राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल होने पर यह सारे उत्तर भारतवर्ष में फैल गयी।

मोगल साम्राज्य के ध्वंस से भी खड़ी बोली, का प्रसार हुआ। मोगल साम्राज्य के अन्तिम दिनों में सम्राट् द्वारा नियुक्त सूबेदार अपनी स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा कर सुल्तान बनने लगे थे। परिणामस्वरूप दिल्ली और आगरे की रौनक फीकी पड़ने लगी थी और लखनऊ, पटना तथा मुर्शिदाबाद जैसी नयी राजधानियाँ चमकने लगी

थी। परिणामस्वरूप उजड़ती दिल्ली को छोड़कर मीर, सैयद इंशा अल्ला आदि जैसे उर्दू के शायर और हिन्दी व्यापारी पश्चिम को छोड़कर पूरब जाने लगे और वे अपने साथ खड़ी बोली को भी लेते आये, जिससे खड़ी बोली के क्षेत्र में आशातीत वृद्धि हुयी।

जिस प्रकार खड़ी बोली को विस्तार देने का श्रेय मोगल साम्राज्य के ध्वंस को है, उसी प्रकार खड़ी बोली—गद्य के विकास का श्रेय भारत में अंग्रेजी शासन के आगमन को है। अंग्रेज शासकों को शासन दृढ़ करने के लिए स्वामिभक्त भारतीय सेवकों की आवश्यकता थी, जो जन्म से भारतीय पर रुचि से अंग्रेज हों। साथ ही जन-सम्पर्क भी आवश्यक था। अंग्रेजी शासन का बहुसंख्यक क्षेत्र हिन्दी-भाषा भाषी था जिससे इस ओर अंग्रेजों का ध्यान गया। परिणामस्वरूप मार्क्विस वेलेजली द्वारा रंगपट्टम की विजय के प्रथम वार्षिकोत्सव पर ४ मई सन् १८०० ई० को फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई, जिसने हिन्दी गद्य के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अंग्रेजों द्वारा स्थापित इस कालेज को वातावरण के निर्माण का ही श्रेय दिया जा सकता है, न कि आरम्भ कर्त्ता का, क्योंकि इसके पूर्व ही मुं० सदासुखलाल और इंशा अल्ला खाँ ने अपनी रचनायें प्रस्तुत कर दी थीं। कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना क्लर्क तैयार करने के लिए की गयी थी। इस कालेज में हिन्दी उर्दू के अध्यापक जान गिलक्राइस्ट थे। उन्होंने पौराणिक पुस्तकों के अनुवाद की योजना बनायी। जिसमें हिन्दी-उर्दू के लिए अलग-अलग व्यवस्था थी। इसी योजना में लल्लू लाल जी ने 'प्रेम सागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' का निर्माण किया। फोर्ट विलियम कालेज की भाषा-नीति, जिसके निर्देशक गिलक्राइस्ट रहे, हिन्दी गद्य के विकास में बहुत उपयोगी नहीं सिद्ध हुई। वे लल्लूलाल की भाषा को मान्यता प्रदान करते थे और उसी कालेज के हिन्दी अध्यापक सदल मिश्र की भाषा को नहीं जबकि इनकी भाषा ने परवर्ती हिन्दी गद्य लेखकों को अत्यधिक प्रभावित किया। लल्लूलाल जी की भाषा, ब्रजभाषा के समान ही अत्यन्त प्राचीन प्रादेशिक बोली थी पर इनके 'प्रेम सागर को पाठ्य क्रम में स्थान दे दिया गया और सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' की उपेक्षा की गई। इस प्रकार इस युग में हिन्दी गद्य निर्माण का जो कार्य आरम्भ हुआ उसमें योग देने वाले लेखकों में मुंशी सदासुखलाल, सैयद इंशा अल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र का महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान है।

मुंशी सदासुखलाल 'नियाज' (सन् १७४६-१८२४ ई०)

दिल्ली निवासी सदा सुखलाल जी ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा नियुक्त चुनार में एक अच्छे सरकारी पद पर कार्य करते थे। ये उर्दू फारसी के अच्छे लेखक और कवि थे।

ये बड़े ही स्वतन्त्र विचार के धार्मिक व्यक्ति थे, जिसमें इन्होंने जीवन के अन्तिम दिनों में नौकरी छोड़ दी और आकर प्रयाग में भगवत भजन करने लगे। हिन्दी गद्य रचना में ये स्वतः संलग्न हुए और अपनी रुचि के अनुसार विचार चुना। सुख सागर के अतिरिक्त विष्णु पुराण पर लिखी इनकी एक अधूरी कृति और मिलती है। तत्कालीन पंडिताऊपन जिसमें संस्कृत के सुन्दर तत्सम शब्दों का योग रहता था, इनकी गद्य शैली में पाया जाता है। उस समय संस्कृत मिश्रित भाषा ही हिन्दुओं की शिष्ट जन भाषा थी जिसमें मुंशी जी ने अपनी रचना की। इनकी भाषा में सहज प्रवाह और स्पष्टता है।

मुंशी इंशा अल्ला खाँ (मृत्यु सन् १८१८ ई०)

ये उर्दू के बहुत अच्छे शायर थे और मोगल सम्राट शाह आलम द्वितीय के दरबार में रहे। दिल्ली के उजड़ जाने पर ये अपने निर्वाह के लिए लखनऊ चले आए जहाँ कुछ दिनों तक तो इनका बड़ा सम्मान हुआ पर अन्तिम दिनों में एक दिल्लगी की बात पर नबाब नाराज हो गया। जिससे इन्हें आर्थिक संकट में दिन बिताने पड़े। फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के पूर्व ही इन्होंने लिखना आरम्भ कर दिया था। ये ऐसी भाषा लिखना चाहते थे जिसमें 'हिन्दी छुट और किसी बोली का पुट' न हो और वे 'भाखापन' अर्थात् संस्कृत मिश्रित हिन्दी से बचना चाहते थे। उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी लिखकर उन्होंने अपना सकल्प पूरा किया। इनकी भाषा में उछल कूद का बोलबाला है। खाँ साहब में अरबी फारसी के शब्दों के साधारण प्रयोग के साथ-साथ वाक्य रचना का ढंग भी मुसलमानी है। इनकी शैली का अनुसरण आगे के गद्यकारों ने इसलिए नहीं किया कि इसमें न तो सहज स्वाभाविक प्रवाह ही था और न भाषा की जीवनी शक्ति ही।

लल्लूलाल जी (सन् १७६३-१८२५ ई०)

ये आगरे के रहने वाले गुजराती ब्राह्मण थे। अपनी जीविका की तलाश में कलकत्ता आए थे और फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना होने पर सं० १८६० में कालेज के अध्यापक गिलक्राइट के आदेश से इन्होंने खड़ी बोली गद्य में 'प्रेम सागर' लिखा जिसमें 'भागवत दशम स्कन्ध की कथा वर्णित है। इनकी भाषा पर ब्रजभाषा का प्रभाव है। विदेशी शब्दों का भी यत्र-तत्र व्यवहार इनकी भाषा में है। ब्रजभाषा से बोझिल होने के कारण इनकी भाषा में सहज-प्रभाव की कमी है और पाठक रस नहीं ले पाता, वह ऊब जाता है। यही कारण है कि आगे के गद्य लेखकों ने इनका अनुसरण नहीं किया।

पं० सदल मिश्र

ये आरा (बिहार) के रहने वाले थे और लल्लूलाल जी की भाँति फोर्ट विलियम कालेज से सम्बद्ध थे। इनकी भाषा लल्लूलाल जी भाँति ब्रज रंजित नहीं है। पूर्वी प्रयोग भी इनकी भाषा में मिलते हैं। इनके 'नासिकेतोपाख्यान' में जहाँ तक हो सका है ब्रजभाषा की उपेक्षा की गई है और खड़ी बोली का व्यवहार किया गया है। इन्होंने अरबी-फारसी का बिल्कुल बहिष्कार नहीं किया जिसका परिणाम अच्छा हुआ और इनकी भाषा में मुहाविरे दानी आ गई, पर अंग्रेज प्रभुओं ने इनकी भाषा को पसन्द नहीं किया। इसमें सन्देह नहीं कि इनकी भाषा में आगे चलकर खड़ी बोली का भावी मार्जित रूप स्पष्ट हुआ। आगे चलकर हिन्दी-गद्य साहित्य में जो भाषा गृहीत हुई, उसका निर्माण बहुत कुछ सदल मिश्र की भाषा के आदर्श पर ही हुआ। मुन्शी सदासुखलाल और पं० सदल मिश्र की भाषा ही कट-छँट कर और साफ-सुथरी होकर आगे चलकर हिन्दी-गद्य साहित्य की व्यवहार भाषा बनी।

विकास एवं परिष्कार

फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के बाद गद्य लेखन की परम्परा अखण्ड रूप से चलती रही यद्यपि उसमें कोई ऐतिहासिक महत्व का कार्य नहीं हुआ। डा० लक्ष्मीसागर-वार्ष्णेय उस काल की रचनाओं का सर्वेक्षण करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि फोर्ट विलियम कालेज में 'गिलक्राइस्ट' महोदय की उपस्थिति से हिन्दी गद्य को प्रोत्साहन न मिल सका। वास्तविक प्रोत्साहन तो कम्पनी सरकार की शिक्षा नीति से मिला जिसे उसने कालेज के अतिरिक्त देशी जनता में शिक्षा-प्रचार के निमित्त तैयार किया था। परिणामस्वरूप सन् १८१७ में कलकत्ता बुक सोसाइटी और सन् १८३३ के लगभग पादरियों की आगरा स्कूल बुक सोसायटी की स्थापना हुई, जिनकी प्रेरणा से शिक्षा-सम्बन्धी विविध विषयक पुस्तकों का हिन्दी गद्य में प्रकाशन हुआ। सन् १८१५ ई० में ही एम० बी० एड० मास्टर तथा अन्य अंग्रेज कर्मचारियों ने भाषा सम्बन्धी गड़बड़ी की ओर कालेज के अधिकारियों का ध्यान आकर्षित किया था। अतः स्थापित सोसायटियों द्वारा स्कूल की रीडरें भी प्रकाशित की गईं।

अंग्रेजों के साथ भारतवर्ष में ईसाई धर्म भी आया था और उन लोगों ने ईसाई धर्म का प्रचार सामान्य जनता में करने के लिए हिन्दी गद्य परम्परा का लाभ उठाया। उनके द्वारा ईसाई धर्म-प्रचार सम्बन्धी अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ लिखे गए। इन धार्मिक आन्दोलन के परिणामस्वरूप हिन्दुओं की भी धार्मिक चेतना जगी और उन लोगों ने भी आत्मरक्षा के निमित्त तदनुकूल साधनों का उपयोग किया। इसी सन्दर्भ में सन् १८१५ ई० में वेदान्त सूत्रों का हिन्दी भाष्य भी प्रकाशित हुआ।

विचारपूर्वक यदि देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि हिन्दी-गद्य के निर्माण और विकास के मूल में नवयुग की हवा थी, जिसमें स्कूल बुक सोसायटी और ईसाई पादरी आकर मिल गए थे। अंग्रेजी सभ्यता और भारतीय समाज का जो सम्पर्क उन्नीसवीं शताब्दी मे हुआ, उसका प्रभाव हिन्दी-गद्य के लिए अद्‌भुत साबित हुआ। हिन्दी-गद्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था से निकल कर आगे बढ़ ही रहा था कि प्रेस अस्तित्व में आया और रेल तार तथा डाक आदि की व्यवस्था का शुभारम्भ हुआ। प्रान्त, देश तथा जाति की परस्पर दूरी कम हुई। परस्पर तर्क-वितर्क के अवसर ने जिस बुद्धिवादिता को जन्म दिया, उसने हिन्दी-गद्य के विकास मे अद्‌भुत योग दान दिया। अंग्रेजी राज्य के पूर्ण स्थापित हो जाने के कारण अंग्रेजी साहित्य से भी परिचय हुआ।

प्रेसों के अस्तित्व में आ जाने के कारण हिन्दी-पत्रकारिता का उदय हुआ जिसने हिन्दी-गद्य के विकास और परिष्कार में सहयोग प्रदान किया। इस कला का आरम्भ सर्वप्रथम जनभाषा में बंगला मे हुआ और हिन्दी में इसका आरम्भ कलकत्ते मे ही पं० युगल किशोर द्वारा हुआ, जिन्होने सवत् १८८३ मे हिन्दी का पहला पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' नाम से निकला। यह साप्ताहिक था और एक वर्ष के भीतर ही बन्द हो गया। राजाराम मोहन राय, द्वारिकानाथ ठाकुर और प्रसन्न कुमार ठाकुर के स्वत्वाधिकार में संवत् १८८६ मे 'बंगदूत' नामक पत्र का प्रकाशन हुआ। यह अंगरेजी, बंगला, फारसी और हिन्दी चार भाषाओं मे एक साथ प्रकाशित होता था। संवत् १८९१ में 'प्रजामित्र' नामक एक पत्र का अनुष्ठान-पत्र प्रकाशित हुआ पर पत्र निकला नही। संवत् १९०१ मे राजा शिवप्रसाद सिंह सितारे हिन्द का 'बनारस' नामक पत्र भाषा-प्रचार की दृष्टि से प्रकाशित हुआ, जिसके सम्पादक तारा मोहन मित्र थे।

राजाराम मोहन राय ऐसे समाज सुधारकों ने देश मे नवीन शिक्षा प्रणाली की आवश्यकताओं पर बल दिया। प्रारम्भ मे कम्पनी सरकार की इच्छा अंग्रेजी भाषा के प्रचार की नही थी, पर बाद मे चलकर अंग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम बन गयी। *अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों को ही सरकारी नौकरियों के योग्य घोषित किया गया।* इस प्रकार अंग्रेजी ने जो अपनी जड़ें जमानी शुरू की वो वह ऐसी जमी कि अंग्रेज चले गए पर अंग्रेजी नही गयी। अंग्रेजी के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान तथा योरोप की नवीन सामाजिक एवं धार्मिक चेतना के सम्पर्क में आने के कारण उसके प्रति जो अनुकूल और प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई, उसके द्वारा भी हिन्दी-गद्य संकलित हुआ।

ईसाई धर्म के सुव्यवस्थित प्रचार और नवीन शिक्षा प्रणाली से प्रभावित होने के कारण भारतीय युवक ईसाई-धर्म की ओर आकृष्ट होने लगे जिसके विरुद्ध घोर प्रतिक्रिया हुई और परिणाम स्वरूप बंगाल मे ब्रह्म समाज की स्थापना हुई। धीरे-धीरे

अँग्रेज़ी शासन के प्रति सन्देह और विक्षोभ बढ़ने लगा, जिसके परिणाम स्वरूप सन् १८५७ ई० का विद्रोह हुआ। अंग्रेज़ों द्वारा चलाई जानेवाली भेदभाव की नीति के कारण ही समाजसुधारकों और राजाराम मोहन राय और सर सैय्यद अहमद खाँ जैसे लोग प्रवृत्त हुए। इन लोगों ने शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। विदेशों से साथ सम्बन्ध हो जाने से राष्ट्रीयता और जन सत्तात्मक भावना का आरम्भ हुआ और सामाजिक राजनीतिक मानसिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन शुरू हुआ। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७५ ई० में 'आर्य समाज' की स्थापना करके हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार तो किया ही, साथ ही उनके द्वारा हिन्दी गद्य की भी सेवा हुई।

अँग्रेज़ी सरकार की शिक्षा नीति के कारण हिन्दी भाषा पर पुनः संकट उत्पन्न हुआ और सन् १८३६ तक जो सरकारी दफ्तरों की भाषा फारसी थी, वह सन् १८३७ ई० से फारसी बदल उर्दू हो गई। नागरी अक्षरों का भी धीरे धीरे सरकारी दफ्तरों से बहिष्कार हो गया और जीविकोपार्जन के लिए लोगों को उर्दू अपनानी पड़ी। हिन्दी जानने वालों में हीनता की भावना का संचार हुआ और उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। शिक्षित हिन्दुओं तक ने इसका विरोध किया, पर हिन्दी अपनी आन्तरिक जीवनी शक्ति के कारण उत्तरोत्तर बढ़ती रही। वह जनता की भाषा थी और उससे इसे बराबर शक्ति और प्रेरणा मिलती रही।

संकट की इसी घड़ी में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का हिन्दी के आकाश पर उदय हुआ और इन्होंने परिस्थिति की गम्भीरता का अनुमान कर बड़े ही मनोयोग पूर्वक हिन्दी के संरक्षण और विकास की दिशा में कार्य किया। इन्होंने अपने अखबार 'बनारस' की लिपि तो देवनागरी रखी पर उसकी भाषा हिन्दुस्तानी ही रही, जो उत्तर के मुसलमानों की भाषा थी।

राजा शिवप्रसाद सिंह

हिन्दी के संकटकाल में राजा शिवप्रसाद सिंह का आगमन हिन्दी साहित्य में 'बनारस' अखबार के साथ संवत् १९०१ में हुआ। इस समय तक सरकारी दफ्तरों में उर्दू का प्रवेश हो चुका था। राजा साहब सरकारी नौकरियों में थे। इनकी नियुक्ति संवत् १९१३ में शिक्षा विभाग में हुई थी। ऐसी स्थिति में सरकारी नीति का इन्हें समर्थन करना पड़ता था। इन्हें पाठ्य-पुस्तकों के तैयार करने का भार सौंपा गया जिसमें उन्होंने सरकारी नीति का अनुसरण किया। पर वे फारसी लिपि के स्थान पर देवनागरी लिपि के पक्षपाती थे। उच्च वर्ग के होने के नाते राजा साहब जन-साधारण की भाषा-सम्बन्धी कठिनाई समझ नहीं सके और उन्होंने लगभग यह मान लिया था कि वे भी शिष्ट समुदाय की भाषा बोलते हैं जिससे उन्होंने अपनी भाषा में अरबी-

फारसी शब्दों का खुल कर प्रयोग किया। ऐसे ही भाषा उस समय के सरकारी कर्मचारी बोलते थे। राजा साहब मे नेतृत्व करने की शक्ति नही थी जिससे वे बराबर सरकार से दवते रहते थे। उनमें सहज प्रवहमान हिन्दी लिखने की शक्ति थी जिसका उन्होने अपनी कुछ रचनाओं मे परिचय भी दिया है। पर वे अपनी उस शक्ति का उचित उपयोग नही कर सके। 'मानव धर्म सार', 'योग वाशिष्ठ के चुने हुए श्लोक', 'उपनिषद-सार', 'भूगोल हस्ता-मलक' 'आलसियो का कोड़ा', 'वर्णमाला', 'राजा भोज का सपना' और 'विद्यांकुर' नामक अपनी रचनाओं मे उन्होने उपर्युक्त शक्ति का परिचय दिया है।

शिवप्रसाद सिंह जी उर्दू को ही देश की मुख्य भाषा मानने लगे थे, जिससे उत्तरोत्तर उनका झुकाव उर्दू और फारसी की ओर होता गया और एक प्रकार से वे देवनागरी लिपि मे उर्दू ही लिखने लग गये। 'इतिहास-तिमिर नाशक' नामक इतिहास ग्रन्थ उन्होने बाद मे लिखा जिसमें फारसी शब्दों की प्रधानता है। शैली यद्यपि उन्होंने वही पुरानी ही रखी पर उर्दू का अनुराग इसमे स्पष्ट झलकता है। अमृत के बोतल मे शराब की भाँति ही उन्होने नाम तो शुद्ध संस्कृत का लिया और शैली उर्दू परस्त ही रही। इसके लिए अँग्रेजी परस्त और अँग्रेजी अफसरों मे राजा साहब का सम्मान भी अच्छा रहा, जिसे वे छोड़ना नही चाहते थे। इस प्रकार राजा शिवप्रसाद सिंह न तो स्वस्थ हिन्दी-गद्य का निर्माण कर सके और न तो हिन्दुस्तानी का ही। सच्ची हिन्दुस्तानी के लेखक मुंशी देवीप्रसाद और देवकीनन्दन खत्री थे। पर इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इनके द्वारा देवनागरी लिपि का प्रचार और प्रसार हुआ।

भाषा-सम्बन्धी प्रतिक्रिया

यह प्रतिक्रियाओं का युग था। अंग्रेजी शासन और ईसाई धर्म के प्रभाव से जितने भी सामाजिक धार्मिक एवं राजनीतिक कार्य इस समय हुए उसकी भयकर प्रतिक्रिया भी हुई और आगे चलकर इसका परिणाम भी शुभ ही हुआ। राजा शिवप्रसाद सिंह के 'बनारस' अखबार और उनका ग्रन्थ 'तिमिरनाशक' की भाषा की भी प्रतिक्रिया हुई और परिणामस्वरूप सन् १८५० ई० मे 'सुधाकर' नामक एक और पत्र काशी से निकला जिसके प्रधान कर्णधार बाबू तारा मोहन मित्र थे। 'बनारस' अखबार से इसकी भाषा सुलझी और शुद्ध थी। दो वर्ष बाद 'बुद्धि प्रकाश' नामक दूसरा पत्र प० सुदासुखलाल (पहले सदा सुखलाल से भिन्न) के सम्पादकत्व मे आगरा से प्रकाशित हुआ जिसकी भाषा और भी साफ और सुलझी हुई थी। सामाजिक दृष्टि से उस समय इसे प्रगतिशील पत्र की संज्ञा दी गई थी। यह पत्र बाद मे कई वर्षों तक निकलता रहा।

देश की जनता भाषा के विदेशी रूप को स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। शिक्षा विभाग में कार्य करने वाले वीरेश्वर चक्रवर्ती पर भी इसकी प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने राजा साहब की भाषा को स्वीकार नहीं किया। सरकारी दफ्तरों से तो हिन्दी हट ही गई थी, सर सैयद अहमद खाँ इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि शिक्षा क्षेत्र से भी इसे उखाड़ फेंका जाय, इसमें अंग्रेजों तथा अंग्रेज परस्तों की भी साजिश थी। 'गार्साद तासी' नामक फ्रांस स्थित हिन्दी के अध्यापक ने संवत् १८९६ (सन् १८३९) में हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास लिखा जिसमें कुछ प्रमुख कवियों की भी चर्चा थी। इस इतिहास में भी सैय्यद अहमद खाँ को अपने हिन्दी विरोधी प्रयत्नों में कुछ सहायता मिली। हिन्दी की जड़ें जनता में जमी हुई थीं जिससे तत्कालीन कुचक्र उसका कुछ बिगाड़ नहीं सके। हिन्दी जनता के जीवन-मरण का प्रश्न बन चुकी थी, उसका विकास बढ़ता ही गया। हिन्दी के इस आन्दोलन का सम्बन्ध गद्य से ही था, अब तक कविता की भाषा परम्परागत ब्रजभाषा ही बनी रही। प्रतिक्रियास्वरूप जिन हिन्दी लेखकों का उदय हुआ उनमें राजा लक्ष्मण सिंह का नाम प्रमुख है।

राजा लक्ष्मण सिंह (सन् १८२६ से १८९६ तक)

राजा लक्ष्मण सिंह में राजा शिवप्रसाद सिंह की अपेक्षा नेतृत्व शक्ति अधिक थी और अपने विशिष्ट सिद्धान्तों के साथ उन्होंने हिन्दी के क्षेत्र में पदार्पण किया था। इन्होंने राजा शिवप्रसाद सिंह की भाषा नीति के प्रतिकूल विशुद्ध, सरल एवं प्रवाहमयी हिन्दी शैली का निर्माण अरबी-फारसी की शब्दावली के बहिष्कार के साथ किया। इनकी भाषा में सर्वसाधारण में प्रचलित संस्कृत शब्दों का भी प्रयोग मिलता है और यत्र-तत्र ब्रजभाषा के शब्दों की भी उन्होंने उपेक्षा नहीं की है। इन्होंने जिस भाषा एवं भावना प्रधान शैली का निर्माण किया उसने हिन्दी गद्य की प्रौढ़ भाषा शैली का द्वार उन्मुक्त कर दिया। राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा अनूदित कालिदासकृत 'मेघदूत', 'शकुन्तला' और 'रघुवंश' का लोगों ने अच्छा स्वागत किया। अन्य सामाजिक साहित्य रूपों के लिए इनकी भाषा भले ही लोकप्रिय न हो सकी हो पर साहित्यिक क्षेत्र में इसकी लोकप्रियता असंदिग्ध रही। आगे के गद्य लेखकों ने निश्चित रूप से राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा-शैली से प्रेरणा ली। लोकप्रचलित अन्य भाषाओं के शब्दों को ग्रहण कर राजा लक्ष्मण सिंह ने भाषा का जो रूप स्थिर किया, उसके आधार पर आगे चलकर हिन्दी गद्य का बहुत कुछ रूप निर्मित हुआ।

अन्य गद्यकार

राजा शिवप्रसाद सिंह और राजा लक्ष्मण सिंह के अतिरिक्त भी गद्य निर्माण की दिशा में कार्य करने वाले लोग थे, जिन्होंने शिक्षा प्रसार और अपने अनुवाद कौशल

के द्वारा हिन्दी-गद्य के विकास में सहयोग प्रदान किया। इनमें पण्डित बन्शीधर, रामप्रसाद त्रिपाठी, मथुराप्रसाद खत्री, ब्रजवासीदास, बिहारीलाल चौबे, शिवशंकर, काशीनाथ खत्री और रामप्रसाद दुबे, और श्रद्धाराम फिल्लौरी प्रमुख हैं।

संकट और समाधान

हिन्दी भाषा के विकास का मार्ग कभी भी निरापद नहीं रहा, पर इसमें ऐसी जीवनी शक्ति रही कि वह झझावातों एवं प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझती आगे बढ़ती रही। हिन्दी गद्य के आरम्भ काल से ही उसके सामने ऐसी समस्याएँ आती गईं कि लगता था कि हिन्दी अब गई तब गई, पर उसका कोई न कोई ऐसा समाधान निकल ही आता था कि वह आगे चल निकलती थी। छापेखानों के प्रसार के कारण इस कार्य में और भी सहायता मिली। **अंग्रेजी सरकार की शिक्षा नीति का निर्माण जिस उद्देश्य को लेकर होता था, उससे उन्हें जितना अधिक लाभ नहीं होता था, उससे अधिक उसकी प्रतिक्रिया होती थी और उसे व्यक्त करने के लिए छापेखानों और अखबारों ने मार्ग खोल दिया था।** दीर्घकालीन पराधीनता के कारण राष्ट्रीय चेतना का बिलकुल ह्रास हो गया था और उसका कारण भी था। मुसलमानी शासन बाहर से आया अवश्य, पर आने के बाद उन्होंने हिन्दुस्तान में ही अपना घर बना लिया। उसके सुन्दर महल, मसजिदें और मकबरे इसी भूमि पर बने जिससे वे हिन्दुस्तान के ही गए। यदि संघर्ष के लिए कहीं कोई भूमि थी तो वह धार्मिक स्तर पर ही (धार्मिक झगड़े भारतवर्ष के लिए कोई नये नहीं थे)। जब यहाँ मुसलमान नहीं आए थे तो वैष्णव और शैव, बौद्ध और ब्राह्मण तथा निर्गुण और सगुण के परस्पर झगड़े बराबर होते रहते थे और उसी में हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक झगड़े भी आकर मिल गए तो भारतवर्ष के लिए कोई बहुत बड़ी बात नहीं थी। अंग्रेजी शासन की स्थिति इससे बिलकुल भिन्न थी। उन्होंने अपने आवास अस्थायी बनाए और यहाँ के धन से इंगलैण्ड को सजाना शुरू किया जिसकी प्रतिक्रिया हुई। अंग्रेजों के प्रत्येक कार्य को जनता सन्देह की दृष्टि से देखती थी। वे भी जनता को भुलावे में डालने के लिए अपनी बात उसके पास तक पहुँचाना चाहते थे जो हिन्दी गद्य के माध्यम से ही सम्भव था, क्योंकि उसी भाषा को सर्वसाधारण जनता समझती थी।

अंग्रेजी शासन के साथ ईसाई मिशनरियाँ भी धर्म प्रचारार्थ भारतवर्ष में आयी थीं जिनका शासन में काफी प्रभाव था और वे यथावसर शिक्षा-नीति में परिवर्तन लाने में भी सफल हो जाया करती थीं। भारत की आस्तिक जनता इन मिशनरियों को अत्यन्त सन्देह की दृष्टि से देखती थी। परिणामस्वरूप देश के धन को विदेश जाते देख और ईसाई धर्म के प्रचार को देखकर भारतीय जन-जीवन में राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक अथवा धार्मिक सुधार की भावना का उदय आरम्भ हो गया।

सन् १८१३ की शिक्षा-नीति का मिशनरियों ने इसलिए विरोध किया कि उसमें संस्कृत और फारसी की शिक्षा पर धन व्यय करने की व्यवस्था थी। बंगाल के राजा राममोहन राय ने भी 'मिशनरियों का इसलिए विरोध किया कि वे आधुनिक भारत को विदेशों के समकक्ष में खड़ा करना चाहते थे, जो उनकी दृष्टि में अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव था। अंग्रेज शासकों को जब यह अन्दाज लग गया कि भारत का पढ़ा लिखा वर्ग भी समर्थन में है तो उन्होंने अपनी शिक्षा-नीति बदली और परिणामस्वरूप सन् १८४४ में यह घोषणा कर दी गई कि सरकारी नौकरियाँ अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को ही दी जायेंगी। लार्ड मेकाले द्वारा प्रस्तावित इस शिक्षा-नीति ने सहसा हिन्दी-गद्य के विकास को रोक दिया, पर इसका प्रभाव उच्च शिक्षित वर्ग तक ही सीमित देखकर पुनः सरकारी शिक्षा-नीति में परिवर्तन हुआ और सन् १८५३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को फिर एक नया 'चार्टर' मिला। परिणामस्वरूप गाँवों में प्रारम्भिक स्कूल और जिलों में हाई स्कूल खोले गए जिससे देशी भाषाओं पर पुनः जोर दिया जाने लगा। शिक्षा के इस बढ़ते प्रसार को देखकर मिशनरियों ने भी रंग बदलना शुरू किया और वे देश में फैलकर देशी भाषाओं का प्रचार करने लगीं। इस ईसाई धर्म की ओर आरम्भ में तो उच्च वर्ग के पढ़े-लिखे लोग सरकार की निगाह में अच्छे बनने और उससे लाभ उठाने के लिए आकर्षित हुए थे, पर बाद में उन लोगों ने आर्थिक दृष्टि से विपन्न और पिछड़े लोगों को अपना लक्ष्य बना लिया। इसकी भी प्रतिक्रिया हुई। लोगों ने इसके विरुद्ध लेख लिखने आरम्भ किए। ब्रह्म-समाज जैसी सुधारवादी संस्थाओं ने जिस प्रकार पढ़े-लिखे लोगों को प्रभावित किया उस प्रकार सर्वसाधारण को प्रभावित करने वाली अन्य अनेक सुधार-संस्थाएँ जन्म लेने लगीं और सबों ने अपने प्रचार के लिए हिन्दी-गद्य को माध्यम बनाया।

इस काल के ऐसे व्यक्तियों में जिनका सम्बन्ध हिन्दी गद्य के विकास से है, महर्षि दयानन्द का नाम बड़े आदर के साथ लिया जायगा। उन्होंने सन् १८७५ आर्य समाज की स्थापना की। भारत वासियों ने बहुत बड़ी संख्या में इस धर्म का समर्थन किया और शीघ्र ही इसका प्रसार समस्त उत्तर भारत यानी हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में हो गया। ब्रह्मसमाज ने पाश्चात्य सभ्यता को प्रश्रय देने के लिए शिक्षा को बढ़ावा दिया और आर्यसमाज ने उसके प्रतिकूल भारत की प्राचीन सभ्यता को दृढ़ करने के लिए शिक्षा-प्रसार को महत्वपूर्ण माना। पर दोनों ने ही अपने अपने ढंग से हिन्दी गद्य को शक्ति प्रदान की। इसे प्रोत्साहन शत्रुओं से भी मिला और मित्रों से भी। शत्रुओं को भी जनता तक पहुँचने के लिए उसकी भाषा अपनानी पड़ी और देशभक्तों को भी जनता को सतर्क करने के लिए उनकी भाषा में सावधान करना पड़ा।

पूर्व में ही मैंने इसका संकेत कर दिया है कि अंग्रेजी शासन और अंग्रेजी शिक्षा ने राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया। इस दिशा में कुछ विदेशी सहृदय महानुभावों का भी योग सराहनीय है। शिक्षित जनता को अपना अतीत याद आया और उन्हें अपनी पराधीनता खटकने लगी। 'एनी बेसेन्ट' और 'चार्ल्स ब्रैडला' जैसे उदार अंग्रेजों ने उन्हें प्रोत्साहित भी किया। 'ह्यूम' की प्रेरणा से सन् १८८५ ई० में 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना हुई जिससे भारत में स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने का बिगुल बजा। इस राजनीतिक आन्दोलन ने देश में एकता लाने से लेकर हिन्दी-गद्य प्रसार तक सराहनीय कार्य किया। भारत की राष्ट्रीयता के साथ भाषा की समस्या सम्बद्ध हो गयी। अंग्रेजी सरकार द्वारा हिन्दी को प्रश्रय न मिलना, हिन्दी के लिए लाभ-प्रदर्शित हुआ क्योंकि अंग्रेजी शासन नीति का जब विरोध शुरु हुआ तो उसकी हिन्दी विरोधी नीति का भी विरोध समस्त देश ने किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भले ही अहिन्दी भाषा-भाषी लोग हिन्दी का विरोध करते दिखलाई पड़े पर उस समय तो सभी लोगों ने एक स्वर से हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान लिया। परिणामत. राष्ट्रीय आन्दोलन और हिन्दी-आन्दोलन एक दूसरे के पर्याय हो गये। आरम्भ की विकट परिस्थितियों मे ही हिन्दी को बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रूप में एक ऐसा सशक्त एवं कर्मठ व्यक्तित्व मिल गया कि उसने हिन्दी-विकास की व्यापक भूमिका प्रस्तुत की। विषय, रूप तथा शैली सभी दिशाओं में हिन्दी आगे बढ़ने लगी और हिन्दी साहित्य का इतिहास 'मध्यकाल' तक जो कविता का इतिहास रहा अब वह केवल कविता का इतिहास न रह कर कविता, नाटक, जीवनी, निबन्ध, कहानी और उपन्यास का इतिहास बनने लगा।

भारतेन्दु का उदय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म सन् १८५० ई० की ऋषिपंचमी को काशी के एक प्रतिष्ठित कुल में हुआ था। अंग्रेजी कम्पनी के शासनकाल में ही इनके पूर्वज दिल्ली से आकर व्यापार के निमित्त कलकत्ते में बस गए थे। साहित्यिक वातावरण इन्हें उत्तराधिकार में मिला था। इनके पिता गोपालचन्द्र उपनाम 'गिरधरदास' ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। ये परम धार्मिक वैष्णव थे और इनके बारे में प्रचलित है कि पाँच भक्तिपद बनाकर ही सब अन्न-जल ग्रहण करते थे। बालक हरिश्चन्द्र पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

भारतेन्दु जी की प्रतिभा का परिचय उनके बालकपन से ही मिलने लगा। उन्होंने पाँच वर्ष की ही अवस्था में निम्नलिखित दोहा लिखकर अपने पिता जी को सुनाया था।

'लै ब्योढा ठाड़े भये, श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर के सैन्य को, हतन लगे भगवान॥

९ वर्ष की अवस्था में भारतेन्दु जी का यज्ञोपवीत हुआ और इसके बाद ही उनके प्रिय पिता उनसे बिछुड़ गए। माता जी की मृत्यु इससे चार वर्ष पूर्व ही हो चुकी थी। जीवन की निस्सारता का उन्होंने बचपन में ही अनुभव करना आरम्भ कर दिया और इस स्थिति में उन्होंने दुःख के बजाय एक विचित्र स्वतन्त्रता और निश्चिन्तता का अनुभव किया जो उनके जीवन के अन्त तक उनके साथ रही। आरम्भिक शिक्षा उनकी घर पर ही आरम्भ हुई थी। अच्छे विद्वान् आपको हिन्दी और संस्कृत पढ़ाते थे। मौलवी ताजअली से आपने उर्दू फारसी की शिक्षा ली। पण्डित नन्दकिशोर जी आपके अंग्रेजी शिक्षक थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् इनका नाम क्वीन्स कालेज में लिखा गया, पर वहाँ उनका जी नहीं लगा और उन्होंने उसे छोड़ दिया। १३ वर्ष की अवस्था में इनका ब्याह शिवाला निवासी लाला गुलाबराय की सुपुत्री मन्नोदेवी से हुआ और उन्होंने सपरिवार जगन्नाथपुरी की यात्रा की। उनकी यह यात्रा बड़ी महत्वपूर्ण रही क्योंकि इसी यात्रा-क्रम में उनका परिचय बंगाल के कुछ नवीन कलाकारों से हुआ। उस समय तक बंगाल के सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन में नवीन चेतना का उदय हो चुका था जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य के रूपों में हो रही थी। भारतेन्दु जी पर उसका प्रभाव पड़ा और परिणामस्वरूप उनकी सत्प्रेरणा से हिन्दी में नवयुगीन चेतना का आरम्भ हुआ। अपने देश को देखने की उनमें बड़ी लालसा थी और वे सन् १८६६ ई० में पुनः भ्रमण को निकले। इस बार उन्होंने बुलन्दशहर, चुनार, लखनऊ, मंसूरी, हरिद्वार, कानपुर, लाहौर, अमृतसर और दिल्ली आदि की यात्रा की। इस यात्रा के पश्चात् ही उन्होंने अपनी साहित्यिक गतिविधि बड़ी तेजी से आरम्भ कर दी। ये महापुरुष अत्यन्त अल्पजीवी रहे। केवल पैंतीस वर्ष की अवस्था में माघ कृष्ण ६, सन् १८८२ ई० में इनका गोलोकवास हो गया, पर इस अल्प जीवन में जितना बड़ा कार्य साहित्यिक क्षेत्र में इन्होंने कर दिखाया, शायद ही हिन्दी संसार के किसी अन्य व्यक्ति ने किया हो। लगता है जिस संकल्प को लेकर इनका जन्म हुआ था, उतना उन्हें पूरा करना ही था और इसीलिए बचपन से ही उनमें ऐसी शक्ति का उदय हो गया था जो शीघ्रातिशीघ्र उनसे सब कार्य पूरा करवा लेना चाहती थी।

अनेक असाधारण कार्य भारतेन्दु जी ने किए। अपनी १७ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने 'कविवचन-सुधा' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया, जिसमें आरम्भ में तो पुराने कवियों की ही कविताएँ छपा करती थीं, पर बाद में हिन्दी गद्य भी छपने लगा। इन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' नामक एक पत्रिका और निकाली, पर आठ अंक

निकलने के बाद इसका नाम उन्होने बदल कर 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' कर दिया और इसी 'चन्द्रिका' में हरिश्चन्द्र की परिमार्जित हिन्दी का प्रथम बार दर्शन हुआ। भारतेन्दु जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि "हिन्दी नई चाल मे ढली, सन् १८७३ ई०।"

भारतेन्दु जी को विलक्षण व्यक्तित्व मिला था। उनकी बेफिक्री और मस्त मौलापन का कोई जवाब नही था। सरस्वती के इस उपासक ने लक्ष्मी की कभी परवाह नही की और उसे दीन-दुखियो में मुक्त हस्त से लुटाया। वे सचमुच कलिकाल के 'दानी राजा हरिश्चन्द्र' थे। उनका नाम सार्थक हो गया था। इस सम्बन्ध मे उनके जीवन की अनेक घटनायें प्रचलित हैं। वे हिन्दी के पुराण-पुरुष के रूप में आज जाने जाते हैं। विश्वनाथ-दर्शन करके लौटते समय गली मे जाड़े से थर-थर काँपने भिखमंगे के ऊपर कीमती दुशाला फेंककर आगे बढ जाने जैसी अनेक घटनाएँ उनके जीवन से सम्बन्धित हैं। वे जितने उदार, रसिक, स्वच्छन्दता प्रेमी और सहृदय थे उतने ही विनोदप्रिय भी। पहली अप्रैल को प्रायः वे लोगों को मूर्ख बनाने का आनन्द लिया करते थे। भारतेन्दु जी की मित्र मण्डली उस काल के सभी प्रकार के व्यक्तियों की प्रतिनिधि सभा थी। उसमे राजा, रंक, फकीर, तुक्कड़, सम्पादक, हिन्दी हितैषी, लेखक, कवि, गुण्डे, सज्जन और असज्जन सभी थे। इनमे महलों से लेकर कुटियो तक का समन्वित रूप देखा जा सकता था। उनका कहना था धन सम्पत्ति ने मेरे पूर्वजो को खाया है, मैं उसे नष्ट कर दूँगा। उन्होने वैसा ही किया। दीन-दुखियो और साहित्यकारों पर उन्होने इतना धन लुटाया कि जीवन के अन्तिम दिनों मे उन्हे आर्थिक कष्ट भी था। सन् १८७० ई० मे उनके छोटे भाई गोकुलचन्द ने सम्पत्ति का बटवारा इसलिए कर लिया कि सब भारतेन्दु जी लुटा देंगे। अलग होने पर वे और स्वतन्त्र हो गए।

भारतेन्दु जी का साहित्यिक व्यक्तित्व तो हिन्दी साहित्य के विविध रूपो मे प्रकट हुआ ही है, पर उनकी प्रतिभा का वास्तविक चमत्कार हिन्दी नाटक के क्षेत्र मे देखने को मिलता है। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व के आसपास लेखकों का एक दल खड़ा हो गया जिसे 'भारतेन्दु मण्डल' के नाम से अभिहित किया जाता है। भारतेन्दु जी का साहित्यिक व्यक्तित्व सम्पूर्ण इस काल पर छाया हुआ है। जिन परिस्थितियो मे यह युग आगे बढ रहा था उसकी अभिव्यक्ति के लिए 'नाटक' सर्वथा अनुकूल था।

नाटक

उद्‌भव

हिन्दी में नाटक का उद्‌भव आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता भारतेन्दु जी की लेखनी से हुआ। यों तो इसके पूर्व भी कुछ नाटको की रचना हुई थी और

नाटकों की परम्परा का अनुसन्धान करते हुए लोगों ने व्यास जी के शिष्य देव कवि कृत 'देव माया प्रपंच' और जैन कवि बनारसीदासकृत 'समय सार-नाटक' तक दृष्टि दौड़ाई है, किन्तु साहित्य के जिस रचना-प्रकार को आज नाटक की संज्ञा दी जाती है उसके स्वरूप एवं परिभाषा को ध्यान में रख कर नाटकों की उत्पत्ति के इतिहास को खोजते हुए भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र की अपूर्ण कृति 'नहुष' एवं रीवा नरेश श्री विश्वनाथ सिंह जू के 'आनन्द रघुनन्दन' से आगे बढ़ना परम्परा के मोह में पड़कर इतिहास के पन्नों में चक्कर काटना मात्र है।

प्रेरक तत्त्व

भारतेन्दु काल रचनात्मक दृष्टिकोण की विविधता का युग रहा है। इस युग में मूल चेतना एक होती हुई भी उसकी अभिव्यक्ति विविध रूपों में हुई है। मुख्यत: इस मूल चेतना को युग चेतना का नाम देना समीचीन ज्ञात होता है। इसीलिए इस *युग चेतना से प्रेरित साहित्यकारों ने जब लेखनी उठाने का उपक्रम किया,* तो **इनका ध्यान सबसे पहले नाटकों पर गया और इनकी युगीन भावनाओं की अभिव्यक्ति का नाटक सफल और सशक्त माध्यम सिद्ध हुआ।** आधुनिक काल में गद्य की इसी विधा को आरम्भिक रचना का महत्त्व प्राप्त होने का जो श्रेय मिला उसे लक्ष्य कर आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य परम्परा का प्रवर्त्तन नाटकों से हुआ है।" जब हम यह कहते हैं कि आधुनिक गद्य परम्परा का प्रवर्त्तन नाटकों से हुआ तो इसीसे आधुनिक साहित्य के इन प्रारम्भिक गद्य लेखकों की इस मनोवृत्ति का आभास हो जाता है कि गद्य के रूप में अभिव्यक्त होने वाली युग चेतना के लिए उपयुक्ततम माध्यम इन्हीं लेखकों की दृष्टि से नाटक ही प्रतीत हुआ।

विचारणीय यह है कि गद्य के रूप में अभिव्यक्त होने वाली इस मूल चेतना को कैसे समझें। इसे समझने के लिए देशकाल पर दृष्टिपात करना अपेक्षित है। निःसन्देह भारतेन्दु का रचनाकाल १९वीं शदी का उत्तरार्द्ध रहा है। यह वह समय था जब अंग्रेजों ने 'ईस्ट इंडिया' कम्पनी के माध्यम से भारतीय राजनीति अपने हाथ में ले लिया था और भारत में उनका आधिपत्य स्थापित हो गया था। इस विदेशी सत्ता के प्रति विद्रोह की भावना समाज और साहित्य में समानान्तर अभिव्यक्त हुई। सन् १८५७ का विप्लव भले ही *अंग्रेजों के शब्दों के 'कुछ सिपाहियों की बगावत रही हो'* किन्तु सच्चाई और ईमानदारी से विचार कर विदेशी इतिहासकारों एवं विचारकों ने भी इसे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का पहला मोरचा करार दिया है। किन्तु भारतीय रियासतों की आन्तरिक दुर्बलताओं तथा ऐक्य बुद्धि के अभाव और अन्य दुर्भाग्यपूर्ण कारणों से राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित यह विद्रोह-भावना जो विप्लव के रूप में अभिव्यक्त

हुई थी, विदेशी शासकों द्वारा निर्ममता पूर्वक कुचल दी गई। उसी के आसपास बंगाल तथा बिहार में कतिपय विप्लवकारी गुटों द्वारा की गई योजनाबद्ध क्रान्तियाँ भी निष्फल सिद्ध हो चुकी थीं। इन राजनीतिक क्रान्तियों के निष्फल परिणाम की प्रतिक्रिया भारतीय विचारकों, राजनेताओं, समाज चेताओं, युग नायकों एवं रचयिताओं के मस्तिष्क में यह हुई कि सत्ता से वंचित हम भारतवासी शक्ति एवं साधनों की होड़ में विदेशी शासकों से बहुत पीछे हैं, अतएव संघर्ष करके हम इन्हें तत्काल पराजित नहीं कर सकते। हमें उचित अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिए और इस अवसर की पृष्ठभूमि तैयार करनी चाहिए। इसके लिए सबसे पहले देश के जन-मानस में राष्ट्रीय चेतना का उदय आवश्यक है। किन्तु कठिनाई यह थी कि विदेशी शासन की कठोर नीतियों को देखकर खुलकर राष्ट्रीय चेतना के पक्ष में कुछ कह सकना भी कठिन था। वस्तुतः राजनीति अथवा राष्ट्रीयता के नाम पर यदि उस युग के लेखक प्रत्यक्ष रीति से कुछ कहना अथवा करना चाहते तो उनकी योजना कदापि सफल न हो पाती। उन्हें दोनों प्रकार से हानि उठानी पड़ती। एक तो व्यक्तिगत स्तर पर सरकार के कोपभाजन बनकर नाना दु:ख यातनाओं की चक्की में पिस जाते और दूसरी ओर उनके राष्ट्रीयता विषयक सामूहिक प्रयास की समस्त सम्भावनाओं को मूल से उच्छिन्न कर देने में विदेशी शासन कोर कसर न उठा रखते। इस प्रकार सर्वस्व गवाँकर भी हारने का वह विकट स्थिति थी।

प्रस्तुत विकट परिस्थिति में राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति के लिए व्रत संकल्प लेखकों की कर्तव्य निष्ठा दुरंत समस्या थी। यह हमारे लिए बड़े गौरव एवं हर्ष का विषय है कि हमारे तत्कालीन विचारकों ने राजनीतिक स्तर पर साधन हीनता के कारण हार मान कर भी अपने पौरुष को कुंठित नहीं होने दिया। राजनीति को छोड़ साहित्य के माध्यम से अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति आरम्भ की और इस माध्यम द्वारा उन्होंने राजनीतिक स्तर पर विकसित होने वाली राष्ट्रीय चेतना की तुलना में बहुत अधिक एवं प्रशस्त राष्ट्रीय भावना का प्रसार किया। इस प्रकार विदेशी शासन की विषम परिस्थिति में शासकों की आँखें बचाकर अपने उद्देश्य की पूर्ति रचना के माध्यम से करने का स्तुत्य प्रयास प्रायः सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में हुआ और हिन्दी में भी यह समकालीन चेतना व्यापक स्तर पर विकसित हुई। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस भाव-चेतना के पुरस्कर्ता स्वनाम धन्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं उनके स्वाभिभक्त सहयोगी साहित्यकार थे और उनकी अभिव्यक्ति का सबसे सफल एवं सशक्त माध्यम नाटक था।

ऊपर के विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शुक्ल जी ने नाटकों के माध्यम से गद्य शैली के प्रवर्तन पर जिस विलक्षणता और आश्चर्य की ओर संकेत

किया है वह आकस्मिक न होकर सोद्देश्य है, इसके पीछे देशकाल सापेक्ष जीवन्त सामाजिक आवश्यकता है। **इस प्रकार इस युग के नाटकों का प्रेरणा स्रोत राष्ट्र निर्माण की भावना अथवा जातीय उत्थान एवं राष्ट्रीय चेतना को कह सकते हैं।** चूंकि इस चेतना की अभिव्यक्ति खुले शब्दों में सम्भव न थी इसलिए रचयिताओं को प्रतीकों एवं संकेतों का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। स्पष्ट कहें तो इस युग में राष्ट्र-प्रेम का प्रतीक बनकर भाषा-प्रेम आया और भारतेन्दु ने 'निजभाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल' के द्वारा भाषा-प्रेम अथवा भाषा अभ्युत्थान के प्रतीक से राष्ट्र के सर्वांगीण विकास की कामना प्रकट की। इससे स्पष्ट हो गया कि भारतेन्दु युगीन नाटकों की मूल चेतना राष्ट्र प्रेम की पुनीत भावना थी।

साहित्य में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति विविध रूपों में होती है। प्रायः इस चेतना की अभिव्यक्ति के लिए राष्ट्रीय स्वरूप के तीनों पहलू अतीत, वर्तमान एवं भविष्य का परिचय देने का प्रयास होता है। अतीत के स्वर्णिम इतिहास, आदर्श चरित्र एवं गौरव पूर्ण गाथाओं को सामने रखकर कृतिकार जातीय गौरव की भावनाएँ जगाते हैं। अपने विगत इतिहास के गौरव का स्मरण करा के वर्तमान देशवासियों को अपने ऐतिहासिक आदर्श के अनुकरण की प्रेरणा देते हैं और अतीत के सामने सामने वर्तमान को रखकर वर्तमान हीनता, दीनता, उपेक्षा आदि को दिखाकर वर्तमान को अतीत की भांति समृद्ध बनाने की चेतना जगाते हैं। साथ ही अतीत एवं वर्तमान का सम्यक् परिचय देकर भविष्य को सुखद एवं उन्नतिशील बनाने की योजना बनाते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना के अन्तर्गत रचयिताओं ने अतीत वर्तमान दोनों से कथानक चुनकर इन तीनों पहलुओं को पुष्ट करने का प्रयत्न किया है। भारतेन्दु युग में भी इस चेतना के विकास की दृष्टि से राष्ट्रीय विकास के तीनों पहलू सामने आये हैं। इस युग में 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'धनंजय विजय' 'सती प्रताप', एवं 'नील देवी' आदि ऐसे नाटक हैं जिनके कथानक हमारे अतीत से सम्बन्ध रखते हैं और इन कथानकों से हम अपने इतिहास पुरुषों के आदर्श चरित्रों की दिव्य आभा से अपने मन को पवित्र एवं प्रकाशित करने का संकल्प पाते हैं तथा अपने जीवन-पथ एवं कर्म पथ को प्रशस्त करने की प्रेरणा भी। **प्राचीन आख्यानों के आधार पर रचित इन नाटकों को समाज सुधार परक नाटक कह सकते हैं जिनमें नीति-उपदेश एवं आप्तवाक्यों की बहुलता दिखायी पड़ती है।**

इन नाटकों द्वारा जातीय गौरव की जयगाथा गायी गयी है, जो राष्ट्रीय चेतना की प्रेरक शक्ति है। जहाँ एक ओर ये समाज सुधारपरक एवं नीति मूलक नाटक अतीत की पृष्ठभूमि पर वर्तमान के संकल्प को धारण करने तथा उसे कार्यान्वित करने की उत्कट प्रेरणा देते हैं वहीं कुछ ऐसे नाटक भी हैं जो वर्तमान राष्ट्रीय

परिस्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिए कल्पित सामाजिक उपादानों का आश्रय लेकर रचे गए है। ऐसे नाटकों में 'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी' आदि नाट्य कृतियाँ है जिनका मूल लक्ष्य राष्ट्रीय अधोगति की निर्व्याज अभिव्यक्ति है। ऐसे नाटकों में राष्ट्रीयता का प्रचण्ड एवं उग्रतम स्वरूप उमड़कर सामने आया है। इन नाटकों मे वर्तमान राष्ट्रीय अधोगति को दिखाने के लिए बड़े ही सहज, आकर्षक, करुणोत्पादक एवं हृदयद्रावक चित्र खींचे गए हैं। और संवादों के अतिरिक्त पात्रों के रूप में 'भारत जननी', 'भारत भाग्य' आदि का अवतरण कराकर उद्दाम राष्ट्रीयता का स्वर उठाया गया है। इन नाटको मे ऐसे गीत भरे पडे हैं जिन्हें सुनकर विगत स्पृह व्यक्ति की धमनियो में राष्ट्रीयता का उष्ण रक्त बिना प्रवाहित हुए न रुक सकेगा। अतीत एवं वर्तमान के इस चित्रण के अतिरिक्त भारतेन्दु युग के कलाकौशल एवं साहित्यिक उपलब्धि का सबसे बडा वैभव उस युग की हास्य व्यंग्य विनोदपूर्ण कृतियाँ हैं जिन्हे प्रहसन के नाम से पुकारा गया है। इस कोटि मे 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अंधेर नगरी चौपट राजा', 'विषस्य विषमौषधम्' तथा 'पाखण्ड विडम्बन', 'प्रेम-योगिनी' आदि रचनाओं का उल्लेख हो सकता है। उदाहरणार्थ 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' मे समकालीन समाज मे अतिशय व्याप्त विकृतियो के प्रदर्शन से पतनोन्मुख समाज को उबारने की प्रेरणा तो है ही, उग्र राष्ट्रीयता की भी अभिव्यक्ति हुई है। 'अंधेर नगरी' मे अविवेकी राजा, उसके चाटुकार मन्त्री, जी हुजूर दरबारी, उस नगर के निवासी और वहाँ की स्थिति, कार्यविधि तथा उस नगर में पहुँचने वाले एक महन्त एवं उनके शिष्य के माध्यम से दिखाया गया है कि जो लोग स्वार्थ हिताहित नेक बद पर सुविचार न कर केवल तात्कालिक लोभवश किसी आकर्षण मे उलझते हैं वे अन्ततः गम्भीर सकट में पड जाते है। 'प्रेम योगिनी' मे विद्या कला एवं संस्कृति की राजधानी काशी नगरी के जीवन में व्याप्त छल छद्मसय व्यवहारो को सचित्र उतारा गया है। इस नाटिका मे भारतेन्दु का जीवन-वृत्त भी कहीं-कहीं झलक उठता है। कुछ सरकार परस्त महत्वाकांक्षियों की कानाफूसी के कारण भारतेन्दु को अंग्रेजी सरकार का कोप भाजन बनना पडा था और जीवनकाल मे उन्हे यातनाएँ भी सहनी पडी थी। उनकी इस मनःस्थिति का आभास भी इन हास्यमूलक रचनाओं में होता है। 'विषस्य विषमौषधम्' मे एक देशी राजा तथा राजकुल की अनैतिकता की छाया है तथा पाखण्ड विडम्बन मे, सांकेतिक शैली में, जाति, धर्म, सम्प्रदाय के नाम पर भेद बुद्धि पैदा करने वालो तथा राष्ट्रीय एकता को आघात पहुँचाने वालों की भर्त्सना की गई। वस्तुतः यह रचना संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' का खण्डानुवाद है। रीतिकालीन शृंगार से पोषित, भक्तियुगीन कवियों द्वारा प्रवर्तित 'राधा' भाव मे उपासना की जो परम्परा थी उसे भी भारतेन्दु ने अपनी 'चन्द्रावली' नाटिका मे उतारा। इसमें एकोन्मुख प्रेम विह्वल चित्तवृत्तियों को वाणी दी गई है।

एक प्रकार से भारतेन्दु की धार्मिक मान्यताएँ ही इसमें स्थापित हुई हैं। हिन्दी की यह प्रथम रोमांटिक नाटिका है।

इन मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त भारतेन्दु युग में अनुवादों की भी धूम रही और स्वयं भारतेन्दु ने अन्य भाषाओं के नाटकों का सुन्दर अनुवाद कर दिखाया। 'विद्या सुन्दर' बंगला के किसी नाटक की छाया है और 'दुर्लभ बन्धु' शेक्सपियर के 'मर्चेण्ट आव वेनिस' का अविकल अनुवाद है। इन अनूदित नाटकों के तथ्य और शिल्प को देखकर यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने ऐसे ही नाटकों के अनुवाद की ओर हाथ बढ़ाया जिनके कथानक से मूल लक्ष्य की सिद्धि हो सके अर्थात् राष्ट्रीय अभ्युत्थान की भावना को बल प्राप्त हो सके। उक्त दोनों अनूदित नाटकों से मानव जीवन की उच्च वृत्तियों के उत्कर्ष की कामना प्रकट हुई है और इन वृत्तियों के विकास के द्वारा समाज के सर्वतोमुखी अभ्युदय की प्रेरणा दी गई है। इसके अतिरिक्त इस युग में ऐतिहासिक आख्यानों का अनुवाद भी हुआ। स्वयं भारतेन्दु ने 'राजतरंगिणी' का अनुवाद 'काश्मीर कुसुम' के नाम से किया। 'बादशाह दर्पण' भी ऐतिहासिक आख्यान का अनुवाद ही है। ये तमाम साहित्यिक प्रयास इस युग की सांस्कृतिक दृष्टि के पोषक हैं जिसे राष्ट्रीय चेतना का पूरक कहा जा सकता है। भारतेन्दु के अतिरिक्त लाला श्रीनिवास दास, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि सामयिक रचयिताओं ने भी नाटकों की रचना की है। किन्तु इनके नाटकों में विषयवस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटकों से आगे बढ़कर कुछ देखने को नहीं मिलता। वस्तुतः इस युग की सम्पूर्ण विशेषताएँ भारतेन्दु के नाटकों में गुम्फित एवं समन्वित हो गयी हैं। इसलिए इस युग के नाटकों के मूल्यांकन के लिए भारतेन्दु के नाट्य साहित्य को सामने रख लेना उपयुक्त होगा। नाटकों की विषयवस्तु के अतिरिक्त शिल्प की दृष्टि से विचार करने पर भी भारतेन्दु की पारदर्शी प्रतिभा एवं युग दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी में नाटक के नाम पर महत्वपूर्ण कृतियों का नितान्त अभाव रहा। परम्परा के नाम पर संस्कृत नाटकों की पद्य बहुल, शिथिल, बोझिल नाट्य शैली की अविष्णु परम्परा विरासत के रूप में इस युग के नाटककारों को मिली। भारतेन्दु ने संस्कृत के इन परवर्ती नाटकों की परम्परा के घाटों में सिमटी हुई इस नाट्य शैली का अन्धानुसरण नहीं किया बल्कि अपनी अन्तर्दृष्टि से प्रेरित तथा युग-जीवन से अभिषिक्त कर हिन्दी नाटक को नई प्राणधारा देने के साथ-साथ उसमें उचित गति एवं स्थिर वेग का संकेत दिया। इसी प्रकार उन्होंने अंग्रेजी एवं बंगला के नाटकों का अनुवाद भी किया। उनकी देखा-देखी इस नाट्य शैली का अनुकरण भी हुआ किन्तु उसमें अपनी निजी मान्यताओं एवं स्थापनाओं का समावेश कर ही दिखाया। इसके अतिरिक्त उस युग के समाज में अत्यन्त लोकप्रिय पारसी रंगमंचों एवं लोक नाट्य मण्डलियों के प्रभाव को उन्होंने भी

अंगीकृत कर अपने नाट्यादर्श की स्थापना में इन सबका उचित उपयोग किया। भारतेन्दु को पूर्व एवं पश्चिम के नाट्य शास्त्र का भी ज्ञान था। अपने 'नाटक' नामक प्रबन्ध में रूपक के भेद प्रभेदों की निर्भ्रान्त व्याख्या कर रूपकों के लक्षण उदाहरण एवं नाम गिनाकर उन्होंने तदविषयक अपने विस्तृत ज्ञान का परिचय दिया है। उनका जो नाट्यादर्श प्रस्तुत हुआ है उसे देखकर हम कह सकते हैं कि वे न तो परम्परा के नाम पर निष्प्राण नाट्य शैली से चिपकने का मोह दिखाते थे और न नवीनता के नाम पर विदेशी नाट्य शैलियों के आकर्षण चमत्कार के पीछे दौड़ते थे। जिस प्रकार उन्होंने विषयवस्तु के सम्बन्ध मे अपना लक्ष्य स्थिर करते हुए अपने दृष्टिकोण मे जीवन एवं समाज की मान्यताओं के सन्तुलन एवं सामंजस्य पर बल दिया है उसी प्रकार नाटक शैली की स्थापना की दृष्टि से भी उन्होंने युग सम्मत एवं विकासशील नाट्य तन्त्र का निर्माण किया है। जिसमे पूर्व एवं पश्चिम के नाट्य शास्त्र की युगापेक्षित आवश्यकताओं का आकलन भी हो सका है और परम्परा तथा प्रगति का सन्तुलित सामंजस्य भी। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—'नाटकों की रचना शैली मे उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया। न तो बंगला के नाटको की तरह प्राचीन भारतीय शैली को एक बारगी छोड़ वे अग्रेजी नाटको की नकल पर चले और न प्राचीन नाट्य शास्त्र की जटिलता मे अपने को फँसाया।

वस्तुतः उनकी यह संतुलित दृष्टि एवं सामंजस्य बुद्धि शैली तक ही सीमित न रहकर नाटक के समग्र स्वरूप पर केन्द्रित रही है जिसे देखकर शुक्ल जी ने ठीक कहा है—"सबसे बड़ी बात स्मरण रखने की यह है कि उन पुराने लेखकों के हृदय का मार्मिक सम्बन्ध भारतीय जीवन के विविध रूपो के साथ पूरा पूरा बना था।...आज कल के समान उनका जीवन देश के सामान्य जीवन से विच्छिन्न न था। विदेशी अंधडों ने उनकी आँखों मे इतनी धूल नही झोंकी थी कि अपने देश काल का रूप रंग उन्हें सुझाई ही न पडता। काल की गति वे देखते थे। सुधार के मार्ग भी उन्हे सूझते थे। पर पश्चिम की एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्याय नहीं समझते थे। प्राचीन और नवीन के संधि स्थल पर खड़े होकर वे दोनों का जोड इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन प्राचीन का प्रवर्द्धित रूप प्रतीत हो। एक प्रकार से यदि देखा जाय तो हिन्दी निबन्धों के भी भारतेन्दु जी ही जनक हैं। तत्कालीन पत्रो मे जिनका प्रकाशन भी उन्होंने स्वयं किया था, उन्होंने उस समय निबन्ध लिखे, जब कि दयानन्द सरस्वती और प० श्रद्धाराम फिल्लोरी के धार्मिक खण्डन-मण्डन सम्बन्धी निबन्ध भी नही लिखे जा सके थे।

भाषा और शैली की दृष्टि से भारतेन्दु जी ने हिन्दी गद्य साहित्य को अनुपम देन दी है। राजा शिवप्रसाद सिंह 'सितारे हिंद' की भाषा को इन्होंने बिलकुल नापसन्द किया और राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा को भी उन्होंने सर्वसाधारण के योग्य नहीं माना।

वे राजा शिवप्रसाद सिंह की भाँति देवनागरी में न तो उर्दू और फारसी लिखना चाहते थे और न तो राजा लक्ष्मण सिंह की भाँति उसे संस्कृत से सम्बद्ध कर देना चाहते थे। उनके सामने आधुनिक हिन्दी का एक नक्शा था जिसे वे खींचना चाहते थे। हिन्दी का वे अलग व्यक्तित्व निर्मित करना चाहते थे, उसमें उन्हें अपूर्व सफलता मिली। स्व-प्रकाशित 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' के माध्यम से 'हरिश्चन्द्री' हिन्दी का प्रचार किया। इस भाषा में न तो किसी प्रकार की कृत्रिमता थी और न तो उस पर अन्य किसी प्रकार का भाषागत एवं राजनीतिक बन्धन ही था। उसमें भाव प्रकाशन की क्षमता और स्वाभाविकता थी। उस काल के लेखकों ने भी इस भाषा का अनुसरण किया और उनके द्वारा लिखे गए लेख पाठकों में काफी लोकप्रिय भी हुए। आचार्य हजारी-प्रसाद जी के अनुसार 'मुंशी ज्वालाप्रसाद' का 'कविराज की सभा', 'तोता राम का' अद्भुत अपूर्व स्वप्न', 'बाबू काशी प्रसाद' का 'रेल का विकट खेल' और भारतेन्दु द्वारा लिखा 'पाँचवा पैगम्बर' आदि लेख बहुत लोकप्रिय हुए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हिन्दी साहित्य में प्रविष्ट होने के पूर्व हिन्दी साहित्य की विचित्र स्थिति थी। लोक जीवन से उसका सम्बन्ध बिलकुल टूट गया और वह काव्य के क्षेत्र में रईसों के केवल मन बहलाव की वस्तु बन कर रह गई थी। भक्त कवियों की सारी साधना पर पानी फिर चुका था, अपनी साहित्यिक शक्ति से उन्होंने मानव में जो देवत्व की प्रतिष्ठा की थी, उसका रूप परिवर्तित हो चुका था और 'राधा और कन्हाई' केवल बहाने मात्र रह गए थे। इतना ही नहीं 'रामभक्ति शाखा में' भी रसिक सम्प्रदाय की स्थापना हो चुकी थी। गद्य का आरम्भ तो हो चुका था पर वह आधुनिक भारत के निर्माण के सर्वथा प्रतिकूल था। तथा गद्य में मौलिक रचना की ओर लोगों का अभी ध्यान ही नहीं जा पाया था। अतः भारतेन्दु को इस दिशा में नई धरती तोड़नी थी और उन्होंने वैसा ही किया। वे युग के क्रान्तिकारी साहित्यकार थे, महलों से हटाकर काव्य को कुटियों तक पहुँचा कर उसमें जन-जीवन की उन्होंने प्रतिष्ठा की, आधुनिक हिन्दी गद्य शैली का निर्माण किया तथा हिन्दी में मौलिक [illegible] को जन्म दिया। भारतेन्दु के इस सर्वतोन्मुखी साहित्यिक व्यक्तित्व का प्रभाव नाटककारों को [illegible] गय पर भी पड़ा और उनके आसपास एक लेखक मण्डल तैयार हो वार्तों में सिमटी हु[illegible] यु के बाद तक भी चलता रहा। हिन्दी के गौरव का जो बोध अन्तर्दृष्टि से प्रेरित [illegible]

[illegible]धारा देने के साथ-
नाटकों [illegible]
अन्य लेखक समु[illegible] उन्होंने अंग्र[illegible] भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
गया जो उनकी-भू[illegible] गद्य शैली के भाषा ज्ञान के, मिटै न हिय को शूल॥'
उन्हें हुआ था और [illegible] समावेश कर जो लक्ष्य बना लिया था, उसकी लौ आगे भी जलती
'निज [illegible] ही रंगमंचो भारतेन्दु का ऋणी है।
बिनु निज[illegible]

भारतेन्दु मण्डल

पूर्व मे ही संकेत कर दिया गया है कि भारतेन्दु की सत्प्रेरणा से उनके आस-पास लेखको का एक मण्डल निर्मित हो गया था, जिनके द्वारा भारतेन्दु के साहित्य कार्य को आगे भी सम्पन्नता मिली। इन लेखकों मे प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रेमघन, लाला श्रीनिवास दास, ठाकुर जगमोहन सिंह, राधाचरण गोस्वामी, बाबू तोताराम, केशवराम भट्ट, मोहनलाल विद्युलाल पण्ड्या, भीमसेन शर्मा, काशीनाथ खत्री, फ्रेडरिक-पिनकाट और प० सुधाकर द्विवेदी आदि प्रमुख थे।

प्रतापनारायण मिश्र—सं० १९१३-१९५१ (सन् १८५६-१८९४ ई०)

मिश्र जी का जन्म उन्नाव मे हुआ था और वे कानपुर मे रहते थे। इन्होने 'ब्राह्मण' नामक पत्र प्रकाशित किया और उसके माध्यम से ही आरम्भ में उन्होंने अपना साहित्य जनता तक पहुँचाया। ये बडे ही मन-मौजी स्वभाव के व्यक्ति थे जिसका परिचय इनके निबन्धो से लग जाता है। व्यंग्यात्मक शैली मे लोकोक्तियो और मुहाविरो का मजेदार प्रयोग इनकी अपनी मौलिक विशेषता थी। भाषा में चटपटापन लाने के लिए अप्रचलित ग्राम्य प्रयोग करने में भी मिश्र जी हिचकते नही थे। व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ इनमे पाई जाती है, पर उस समय इस पर ध्यान नही दिया जाता था। इन्होने अपने निबन्धो के शीर्षक भी रोजमर्रा के व्यवहार में आने वाली साधारण वस्तुओं से लिया है जैसे—'घूरे के लत्ता बिनै' 'कनातनक डौल बाँधै', 'समझदार की मौत' 'बात', 'मनोयोग', 'वृद्ध' आदि। देश-दशा, समाज सुधार, नागरी हिन्दी प्रचार से लेकर साधारण मनोरंजन आदि विषयों को उन्होंने अपने निबन्धों का विषय बनाया है। कुछ उनके ऐसे निबन्ध है जिन्हे व्यक्ति-व्यंजक निबन्धो की कोटि मे रखा जा सकता है। गम्भीर विषय पर लिखे निबन्धों मे संयत और साधु-भाषा का इन्होंने प्रयोग किया है पर इनकी प्रवृत्ति हास्य विनोद की ओर ही विशेष रही। जीवन मे भी वे ऐसे ही विनोदी रहे। लेखन मे ये भारतेन्दु जी को ही आदर्श मानते थे, पर इनकी शैली मे भारतेन्दु की शैली से कुछ भिन्नता भी दिखलाई पड़ती है। मुख्यतः निबन्धकार के रूप मे ही ये विख्यात है, पर इन्होने कविता, नाटक और प्रहसन आदि भी लिखे है।

बालकृष्ण भट्ट—सं० १९०१-१९७१ (सन् १८४४-१९१४ ई०)

बालकृष्ण भट्ट का नाम भारतेन्दु मण्डल के उन लेखको मे प्रमुख हैं जिन्होने साहित्य-साधना को लक्ष्य बना लिया था। प्रयाग के 'कायस्थ पाठशाला' में कुछ दिनो तक वे संस्कृत के अध्यापक रहे। इन्होंने सन् १८७६ ई० मे 'हिन्दी प्रदीप' नामक हिन्दी पत्रिका केवल इसलिए निकाली कि उसके माध्यम से वे हिन्दी-गद्य को एक

दिया दे सकेंगे। घाटा उठाकर भी 'भट्ट जी', हिन्दी प्रदीप' को ३२ वर्षों तक चलाते रहे। 'ब्राह्मण' पत्र में भी इनकी रचनाएँ प्रकाशित होती थीं। 'हिन्दी प्रदीप' में केवल साहित्यिक ही नहीं बल्कि राजनीतिक लेख भी निकलते थे। सभी प्रकार के लेखों में 'भट्ट जी' के साहित्यिक व्यक्तित्व की छाप देखने को मिलती है। कहावतों, मुहावरों, व्यंग्य और वक्रता के साथ ही इनके निबन्धों में पाण्डित्य की झलक भी मिलती है। इस युग के निबन्धकारों में इनका स्थान अप्रतिम है। निबन्ध में मजा और रोचकता लाने के लिए भट्ट जी ने पूरबी तथा अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग ऐसे उचित स्थल पर किया है कि भाषा की नीरसता भी समाप्त हो गई है और उनमें पठनीयता भी आ गई है। इनके निबन्धों की संख्या सौ से ऊपर है। आलोचनात्मक साहित्य का भी सूत्रपात 'भट्ट जी' की लेखनी से हुआ।

प्रेमघन—सं० १९१२-१९८९ (सन् १८५५-१९३२ ई०)

पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' मिर्जापुर के निवासी थे और यहीं पर एक रईस घराने में इनका जन्म हुआ था। जिनका प्रभाव इनके जीवन के सम्पूर्ण अंग पर रहा। ये भारतेन्दु जी के मित्रों में से थे। इन्होंने कई पत्रों का प्रकाशन भी किया जिनमें इनके नाटक, लेख और कविताएँ प्रकाशित होती रहती थीं। लम्बे वाक्यों से युक्त, आनुप्रासिक भाषा, इनकी शैली की प्रमुख विशेषता थी। इन्होंने विनोदपूर्ण प्रहसनों की भी रचना की है। इनका एक नाटक 'भारत सौभाग्य' सन् १८८८ में कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर खेला गया। 'आनन्द कादम्बिनी' में जिसका प्रेमघन जी ने स्वयं सम्पादन किया था, उनकी अधिकांश रचनाएँ प्रकाशित हुई। नाटकों की भाषा पात्रानुकूल रखने की इन्होंने चेष्टा की है। आलोचनात्मक निबन्धों के पुरस्कर्त्ता के रूप में भी प्रेमघन जी का नाम लिया जा सकता है।

लाला श्रीनिवास दास—सं० १९०८-१९४४ (सन् १८५१-१८८७ ई०)

इन्होंने 'प्रह्लादचरित', 'तप्ता संवरण', 'रणधीर और प्रेम मोहिनी', और 'संयोगता स्वयंवर' नामक नाटक लिखे। 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' की अधिक ख्याति हुई, जो दुखान्त है। 'परीक्षा गुरु' इनका हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास माना जाता है, यद्यपि इस सम्बन्ध में हिन्दी के सभी विद्वान एकमत नहीं हो पाए हैं। अंग्रेजी उपन्यासों का इस पर स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इनकी भाषा में अधिक चुलबुलापन नहीं बल्कि गाम्भीर्य है।

ठाकुर जगमोहन सिंह—सं० १९१४-१९५६ (सन् १८५७-१८९९ ई०)

ये भारतेन्दु जी के मित्र और विन्ध्य प्रदेश के विजय राघवगढ़ के राजकुमार थे। काशी में अध्ययन के लिए आये थे और भारतेन्दु जी के सम्पर्क में आने पर साहित्य

की ओर इनकी भी रुचि हुई। प्रकृति के प्रति इनका अगाध प्रेम था जिससे स्वभावतः भावुकता इनमें अधिक थी और परिणामतः भावना प्रधान गद्य लिखने में इनका इस युग के लेखकों में महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने अपनी रचना 'श्यामा स्वप्न' में इस शैली का परिचय दिया है। संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी के ये अच्छे ज्ञाता थे।

बाबू तोताराम—सं० १९०४–१९५९ (सन् १८४७–१९०२ ई०)

इन्होंने 'भरत बन्धु' नामक पत्र का सम्पादन किया था। इन्होंने 'कीर्ति केतु' नाटक की भी रचना की। हिन्दी की अनेक पुस्तकों के लेखक तो ये थे ही साथ ही इन्होंने अंग्रेजी पुस्तकों का अनुवाद भी प्रस्तुत किया।

राधाचरण गोस्वामी—सं० १९१५–१९८२ (सन् १८५८–१९२५ ई०)

'भारतेन्दु' नामक एक पत्र इन्होंने निकाला था और कई मौलिक नाटकों की भी रचना की थी।

राधा कृष्णदास—सं० १९२२–१९६४ (सन् १८६५–१९०७ ई०)

इनकी रुचि साहित्य के विविध क्षेत्रों में थी। ये 'भारतेन्दु' जी के फुफेरे भाई थे। इन्होंने उपन्यास और नाटक तो लिखे ही, साथ ही प्राचीन साहित्य के सम्बन्ध में अन्वेषण-सम्बन्धी लेख भी लिखे। 'हिन्दी समाचार पत्रों का सामयिक इतिहास' इनकी इस कला की ऐतिहासिक रचना है। इनका नाटक 'महाराणा प्रताप' बहुत लोकप्रिय हुआ और रंगमंच पर कई बार खेला गया। इन्होंने 'बंगला' उपन्यासों का अनुवाद भी किया था।

इनके अतिरिक्त केशवराम भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास, काशीनाथ खत्री, विट्ठलाल पण्डया, भीमसेन शर्मा, फ्रेडरिक पिनकट, सुधाकर द्विवेदी, मोहनलाल तथा काशीप्रसाद खत्री आदि इस युग के लेखक थे।

नाटक

भारतवर्ष में नाटक की परम्परा बहुत पुरानी है पर विशिष्ट राजनीतिक परिस्थितियों के कारण इस साहित्यिक रूप का ह्रास हो गया था। **मुगल-शासन काल जब कि हिन्दी कविता का समृद्ध काल है, नाटक की दृष्टि से अकाल का काल है। इस्लामी संस्कृति और धार्मिक भावनाएँ नाटकों के प्रतिकूल थीं, यही कारण है कि समस्त ललित-कलाओं को प्रश्रय देनेवाला वह शासन नाट्य-कला को विकसित न कर सका।** कुरान के विरुद्ध समझी जाने के कारण यह कला मुगल-काल में समाप्तप्राय हो गई। लोकजीवन में रासलीलाएँ और रामलीलाएँ बराबर चलती रही पर उनमें हिन्दी नाटक का स्वरूप ढूँढना क्लिष्ट कल्पना है। चौदहवी शताब्दी में

भी नाटक लिखे गए थे पर या तो वे संस्कृत नाटकों के अनुवाद थे या रामायण और महाभारत की कथाओं का उनमें पद्यात्मक वर्णन होता था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उदार एवं व्यापक अध्ययन के फलस्वरूप हिन्दी नाटकों के लिए अनुकूल भूमि मिली। हिन्दी में मौलिक नाटकों के व्यवस्थित रूप प्रदान करने का श्रेय बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी को ही है, यद्यपि उनके पिता गोपालचन्द्र उपनाम 'गिरधर दास' ने सन् १८५६ मे 'नहुप' नामक प्रथम हिन्दी नाटक की रचना की जिसकी अब पूरी प्रति नहीं मिलती। नाटकों की चर्चा 'भारतेन्दु' के प्रसंग में की जा चुकी है जो वास्तव में हिन्दी नाटक के जनक हैं। इस मण्डल के अन्य गद्य लेखकों ने भी नाटक लिखे जिनकी चर्चा उनके प्रसंग में की जा चुकी है।

जीवनी साहित्य

वास्तविक जीवनी-साहित्य का हमारे यहाँ इसलिए अभाव मिलता है कि भारतीय मनीषी अपने सम्बन्ध मे कुछ कहना अनुचित समझते रहे। यही कारण है कि आज हम अपने महापुरुषों के सम्बन्ध में अत्यन्त अल्प ज्ञान रखते हैं। सब कुछ अन्धकार के गर्त मे विलीन हो गया। भक्त प्राण देश होने के कारण इसमें अवतारी पुरुषों एवं भक्तों की जीवनी लिखने की परम्परा रही न कि ऐतिहासिक लोगों की। हिन्दी में नाभादास कृत 'भक्तमाल' और बाबा वेणीमाधव कृत 'गोसाईंचरित' जैसे जीवनी-साहित्य की इस देश में कमी नहीं रही। सन् १८५७ ई० मे रीवा के महाराज रघुराज सिंह जूदेव ने नाभादास की शैली पर 'रामरसिकावली' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त युगलदास, राधाचरण गोस्वामी, भारतेन्दु, कार्तिकप्रसाद खत्री, राधाकृष्णदास, रेवरेण्ड एडविन ग्रीव्ज, मुंशी देवीप्रसाद, गोकुलनाथ शर्मा, काशीनाथ खत्री तथा राजा शिवप्रसाद सिंह सितारेहिन्द आदि ने जीवनी-साहित्य की सृष्टि की है। इस काल का जीवनी-साहित्य बहुत समृद्ध नहीं है। इन रचनाओं के द्वारा आदर्श और नैतिकता की शिक्षा देने का प्रयत्न किया गया है। शिवसिंह सेंगर कृत 'सरोज' (सन् १८७७ ई०) और ग्रियर्सन कृत 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान' (सन् १८८९ ई०) मे कवियो और लेखकों की संक्षिप्त जीवनी दी गई है।

निबन्ध

भारतेन्दु काल मे ही पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी निबन्धों का उदय हुआ 'हिन्दी प्रदीप' और 'ब्राह्मण' नामक पत्रों के माध्यम से हिन्दी निबन्धों का अत्यधिक विकास हुआ। निबन्ध साहित्य के द्वारा लेखक पाठकों से जितना नैकट्य स्थापित कर पाता है उतना अन्य साहित्य रूपों द्वारा नहीं। क्योंकि लेखक के व्यक्तित्व और उसके अनुभूत भावों को प्रकट करने में निबन्ध अपेक्षाकृत सफल साहित्य

रूप है। इसीलिए निबन्ध को गद्य की कसौटी माना गया है। निबन्धों को विचारात्मक, भावात्मक एवं वर्णनात्मक वर्गों में विभक्त किया जाता है। भारतेन्दु काल निबन्धों का आरम्भ काल था, जिसमें निबन्ध साहित्य की कोई रूपरेखा निर्मित नहीं हो सकी थी। **इस काल में साहित्यिक निबन्धों की ओर उतना लेखकों का ध्यान नहीं गया जितना कि साहित्येतर निबन्धों की ओर।** भारतेन्दु मण्डल के निबन्धकारों ने समाज की जीवनचर्या, ऋतुचर्या तथा पर्व त्योहार आदि पर भी साहित्यिक निबन्ध लिखा करते थे। पर आज साहित्यिक निबन्धों की रूपरेखा उनसे भिन्न है। इस काल के निबन्धों से गम्भीर भावों को व्यक्त करने की क्षमता का आविर्भाव हो गया था। भारतेन्दु, राधाकृष्ण दास, दयानन्द सरस्वती तथा बालमुकुन्द गुप्त जैसे लेखकों के निबन्धों में गद्य के अच्छे नमूने देखने को मिल जाते हैं। हिन्दी निबन्ध का जन्म लगभग सन् १८७७ ई० के आस-पास हुआ और अद्भुत बात जो देखने को मिलती है, वह यह है कि इस आरम्भ काल से ही हिन्दी निबंधों में मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति प्रदान करने की सरल एवं स्वाभाविक शक्ति प्राप्त हो गयी थी।

पं० बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र इस युग के सर्वाधिक महत्वपूर्ण निबन्धकार हैं जिन्होंने निबन्ध शैली को नवीन रूप प्रदान किया। इन्हीं निबन्धकारों की परम्परा का आगे विकास हुआ।

समालोचना

आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का जो स्वरूप प्राप्त है, भारतेन्दु काल के पूर्व इसका यह रूप नहीं मिलता। लक्षण ग्रन्थों के रूप में संस्कृत आचार्यों और साहित्य मीमांसकों की शैली का ही अनुसरण हिन्दी के उत्तर मध्यकाल में होता रहा जिसका प्रमुख उद्देश्य गुण-दोष विवेचन मात्र था। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव के कारण हिन्दी में जिस आलोचना शैली का विकास हुआ है उसके अनुसार किसी भी कृति के गुण और दोष दर्शन के साथ-ही-साथ उसकी अन्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषताओं का उद्घाटन भी होने लगा है। पर आलोचना के इस आरम्भिक काल (भारतेन्दु-युग) में आलोचना का यह रूप निर्मित नहीं हो पाया था और आलोचना या समालोचना के रूप में केवल गुण-दोष का उल्लेख कर देना ही समालोचना का प्रधान उद्देश्य था।

सन् १८८२ ई० में 'आनन्द कादम्बिनी' के माध्यम से हिन्दी में समालोचना का सूत्रपात हुआ। यह कार्य लाला श्रीनिवास दास के 'संयोगता स्वयम्बर' की आलोचना से आरम्भ हुआ। पर इसमें समालोचना का जो स्वरूप सामने आया उसे पुस्तक परिचय की संज्ञा देना अधिक समीचीन जान पड़ता है। आगे चलकर समालोचना की वास्तविक रूपरेखा का कुछ-कुछ निर्माण पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' शीर्षक लेखमाला

से हुआ। यह लेखमाला उन्होंने 'हिन्दोस्थान' में लिखी थी। महावीर प्रसाद जी का यह कार्य लगभग १८९९ ई० में हुआ था। सन् १८९९ ई० में उन्होंने सरकारी हिन्दी 'रीडरों' की जो आलोचना की तो उसकी एक ऐसी परम्परा चल निकली कि लेखकों की रचनाओं में खोज-खोज कर गुण-दोष निकाले जाने लगे। इस प्रकार आलोचनात्मक लेखों की धूम तो मची पर इस समय तक भी गम्भीर समालोचना साहित्य का रूप सामने नहीं आ पाया। सन् १८९७ ई० में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन हुआ जिसमें समालोचना सिद्धान्त सम्बन्धी लेखों का प्रकाशन आरम्भ हुआ। सन् १८९६ ई० में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री कृत 'समालोचना' पुस्तिका और सन् १८९७ ई० में प्रकाशित जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' कृत पद्यात्मक 'समालोचनादर्श' तथा अम्बिकादत्त व्यास कृत 'गद्य-काव्य-मीमांसा' नामक रचनाएँ प्रमुख हैं जिनके द्वारा समालोचना-साहित्य का स्वरूप निर्माण आरम्भ हुआ। इस समय तक आलोचना का लक्ष्य केवल गुण-दोष दर्शनमात्र ही रहा।

उपन्यास

हिन्दी उपन्यास-साहित्य का आरम्भ भी भारतेन्दु-काल में ही हुआ। यह साहित्य रूप परिस्थितियों की देन है। हिन्दी उपन्यास-साहित्य का आरम्भ किसी साहित्यिक लक्ष्य को लेकर नहीं हुआ था। आरम्भ में इसकी रचना जनता का मनोरंजन करने के लिए हुई थी। इस काल के पाठक तीन श्रेणियों में विभक्त थे। प्रथम श्रेणी में वे लोग थे जो अंग्रेजी, हिन्दी आदि विविध विषयों की शिक्षा पाये हुए थे और सरकारी अथवा गैरसरकारी नौकरियाँ करते थे, दूसरी श्रेणी में वे लोग थे जो संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे परन्तु हिन्दी कम जानते थे और तीसरी श्रेणी में वे लोग आते थे जिन्होंने बहुत साधारण शिक्षा पाई थी तथा केवल हिन्दी ही पढ़-लिख सकते थे। पहली श्रेणी के पाठकों को पहले तो अवकाश ही कम मिलता था और जो कुछ मिलता भी था उसे वे हिन्दी की पुस्तकें पढ़कर बर्बाद नहीं करना चाहते थे। दूसरी श्रेणी का पाठक रामायण, महाभारत और पुराणों को छोड़कर अन्य कुछ पढ़ने को तैयार नहीं था, इस प्रकार तीसरी श्रेणी का ही पाठक बच रहता है जिसने उपन्यासों का स्वागत किया। इस श्रेणी के अन्दर छोटी-मोटी दूकानें करने वाले अथवा खेती-बारी और इधर-उधर की मेहनत करने वाले मजदूर थे जिनके लिए मनोरंजन की सामग्री आवश्यक थी जिसे आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों द्वारा प्रस्तुत किया गया। इन्हीं परिस्थितियों ने हिन्दी उपन्यास साहित्य को जन्म दिया है।

कथा कहने की क्षमता इस साहित्य रूप में अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा अधिक है जिसमें वह वर्तमान जीवन की समस्याओं को सरलतापूर्वक अपने में समेट सका है। उपन्यास साहित्य के वर्तमान रूप को हठात् पूर्ववर्ती साहित्य में ढूँढना

समीचीन नहीं जान पड़ता। युग की आवश्यकताओं ने उसे जन्म दिया है और यह दूसरी बात है कि उसने साहित्य की पूर्ववर्ती परम्पराओं से समुचित लाभ उठाया है।

उपन्यास साहित्य का वह समर्थ रूप है जिसमें प्रबन्ध काव्य का सुसंगठित वस्तु-विन्यास, महाकाव्य की व्यापकता, गीतों की मार्मिकता, नाटकों का प्रभाव गाम्भीर्य तथा छोटी कहानी की कलात्मकता एक साथ मिल जायगी। ***श्रृंखलाबद्ध कथानक द्वारा सरल तथा गूढ़ मानव चरित्रों का निर्माण उसकी समस्याओं, सक्रिय गतिविधियों तथा सामाजिक एवं मानसिक संघर्षों से युक्त उसके स्वभावों एवं मन की महती शक्तियों का पूर्ण जीवंत एवं यथार्थ चित्र कल्पना के द्वारा जिस साहित्य रूप द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, उसे उपन्यास कहते हैं।*** हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों पर प्रेमाख्यानक काव्यों का विशेष प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इसका भी कारण है। गद्य साहित्य के आविर्भाव काल सन् १८०० ई० के आस-पास ही संस्कृत, अरबी, और फारसी साहित्य की कहानियों के अनुवाद हिन्दी में आने लगे। मुसलमानों के साथ जो रूमानी प्रेम को व्यक्त करने वाली कहानियाँ अरबी फारसी के माध्यम से आई थी, उन्होंने हिन्दी पाठकों को अत्यधिक आकर्षित किया। इनके अनुवाद अथवा आश्रय लेकर लिखी कहानियों से साधारण जनता अपना मनोरंजन करती थी। इसी समय हिन्दी के भाग्य से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे साहित्य पुरुष का उदय हुआ जिसने *अपनी प्रतिभा एवं प्रयत्न से हिन्दी खड़ी बोली के विभिन्न साहित्यिक रूपों को जन्म दिया और यहीं आकर हिन्दी साहित्य के बहुमुखी* विकास का सूत्रपात हुआ। 'भारतेन्दु' के साहित्य काल (सन् १८५०–१८८५ ई०) में बंगला उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद हुए और कुछ मौलिक उपन्यासों की भी रचना हुई। भारतेन्दु जी ने एक नवीन उपन्यास 'हमीर हठ' के नाम से आरम्भ किया, पर असामयिक निधन के कारण वे उसे पूरा न कर सके। एक कहानी 'कुछ आप बीती और कुछ जग बीती' उन्होंने लिखना आरम्भ किया था पर उसे भी वे पूरा न कर सके। साहित्य की दिशा विषय की दृष्टि से वे जिस ओर मोड़ना चाहते थे, वह उनके गोलोकवासी हो जाने के कारण उधर नहीं मुड़ सकी। देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी, तथा किशोरीलाल गोस्वामी ने मनोरंजन को प्रधानता देकर घटना प्रधान उपन्यासों की धूम मचा दी। *मनोरंजन-मात्र इन उपन्यासों का उद्देश्य था। अर्द्ध-*शिक्षित जनता की सम्पत्ति समझे जाने के कारण सभ्य एवं बड़े घरों की बहू बेटियों के लिए उपन्यासों का पढ़ना भद्दी रुचियों का परिचय देना था, और उपन्यास लिखना भी एक साहित्यकार के लिए सम्मान की वस्तु नहीं थी। आरम्भ में जितने भी कथा-प्रधान उपन्यासों की सृष्टि हुई उनमें तिलस्मी, साहसिक, जासूसी और प्रेमाख्यानक

मुख्य है। कुछ उपन्यास ऐसे भी लिखे गए जिनका सम्बन्ध ऐतिहासिक घटनाओं से जोड़ा गया है, परन्तु ऐतिहासिकता नाम की कोई वस्तु उनमें नहीं है।

इस काल के उपन्यासकारों ने संस्कृत साहित्य की आख्यायिकाओं, 'अरेबियन-नाइट्स' के ढंग पर लिखी गई उर्दू और फारसी की कहानियों तथा अंग्रेजी साहित्य के उपन्यासों से विशेष प्रेरणा प्राप्त की। कुछ वास्तविक घटनाओं के आधार पर 'कल्पना प्रधान' अनेक उपन्यासों की भी सृष्टि हुई। 'पिंडारियों' की लूटमार करने की कलाओं ने भी उपन्यासकारों को प्रचुर सामग्री प्रदान की।

पिंडारी अमीर अली ने बंदी होने के बाद न्यायालय में अपना जो बयान प्रस्तुत किया उसके आधार पर अंग्रेजी में 'अमीर अली ठग' नामक उपन्यास लिखा गया और उसी रूप में उसका हिन्दी में अनुवाद भी हुआ। 'अमला वृत्तान्त माला', 'कांस्टेबल वृत्तान्त माला' तथा 'ठग वृत्तान्त माला' आदि सभी इसी प्रकार के उपन्यास हैं। इस युग के उपन्यासों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) प्रयोगात्मक (सन् १८८०–१८९९ ई०)
(२) कल्पना-प्रधान (सन् १८९९–१९१० ई०)
(३) उपदेशात्मक (सन् १९१०–१९१८ ई०)

प्रयोग युग

पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी का सामाजिक उपन्यास 'भाग्यवती' सन् १८७७ में लिखा गया और सन् १८८७ में प्रकाशित हुआ। कुछ विद्वान इसे ही हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास मानते हैं और कुछ लोग इससे भी पूर्व हिन्दी उपन्यास के आरम्भिक इतिहास को ले जाना चाहते हैं पर उपन्यास के प्रमुख तत्वों का विकसित रूप सर्वप्रथम लाला श्रीनिवास दास कृत 'परीक्षा गुरु' में देखने को मिलता है। इसका प्रकाशन सन् १८८२ ई० में हुआ और लेखक ने इसे अंग्रेजी उपन्यासों के आधार पर लिखा है। इसके अन्दर सांसारिक खरे अनुभवों के बड़े सजीव चित्र आए हैं। उपन्यासकार उपदेश देने के चक्कर में यदि न पड़ा होता तो अवश्य ही यह एक उच्चकोटि का उपन्यास होता। इसमें दिल्ली के एक सेठ की कहानी है जो चाटुकारों की मिथ्या प्रशंसा में पड़कर भिखारी बन जाता है और बाद में एक सच्चे शुभचिंतक मित्र की सहायता से ऋण मुक्त होकर सुधर भी जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक सामाजिक और नैतिक उपन्यास लिखने के प्रयोग हुए, उनमें से अधिकांश का नाम अब भी अज्ञात है। पं० बालकृष्ण भट्ट ने सन् १८८६ में 'नूतन ब्रह्मचारी' की रचना छात्रों को नैतिक शिक्षा देने और सन् १८९२ में 'सौ सुजान और एक सुजान' दो धनी व्यापारियों की कुसंगति में पड़ने के कारण पतन और

सज्जन की संगति में पड़कर सन्मार्ग पर आ जाने के परिणामों को दिखलाने के उद्देश्य से की।

बीसवीं सदी के यशस्वी कवि पण्डित अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने सन् १८६६ में 'ठेठ हिन्दी का ठाट' भाषा प्रयोग की दृष्टि से लिखा। उन्नीसवीं शताब्दी के तीन और उपन्यास उल्लेखनीय हैं। मेहता लज्जाराम शर्मा कृत 'धूर्त रसिक लाल' (सन् १८६६), 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' (सन् १८६६) तथा श्री कार्तिक प्रसाद का 'दीनानाथ' (सन् १८६६)। इसके अतिरिक्त मेहता जी ने 'आदर्श दम्पति' (सन् १६०४) बिगड़े का सुधार (सन् १६०७) और 'आदर्श हिन्दू' (सन् १६१५) नामक तीन उपन्यास और लिखे। ठा० जगमोहन सिंह का 'श्यामा स्वप्न' (सन् १८८८) और पण्डित अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तान्त' (सन् १८६३) प्रकाशित हुए जो संस्कृत कथा साहित्य की आख्यायिकाओं के ढंग पर लिखे गए।

कल्पना प्रधान

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास निकलने आरम्भ हुए तो उपन्यास साहित्य में एक मोड़ आया। उपन्यासकारों ने तिलस्म और ऐय्यारी के ऐसे चमत्कार दिखलाए कि पाठकों की आँखें चौंधियां गई। घटनाएँ, कथाएँ तथा पात्र आदि भले ही इन उपन्यासों के बिल्कुल काल्पनिक हों, पर उनके अन्दर भी वास्तविकता है, वे भी एक प्रकार के समाज के प्रतीक हैं और उनका भी सामाजिक मूल्य है।

देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी और ऐय्यारी उपन्यास सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए। कुछ लोगों ने तो केवल 'चन्द्रकान्ता' पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी। देवकीनन्दन खत्रीकृत 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास का प्रकाशन सन् १८६१ ई० में हुआ, जिसके द्वारा आदर्श हिन्दू ललना का चरित्र पाठकों के सामने रखा गया। हिन्दू ललना का प्रेम जीवन में एक बार होता है। इस उपन्यास की नायिका 'चन्द्रकान्ता' ने भी जिसे एक बार अपना हृदय दे दिया, दे दिया। इस प्रकार इन्होंने अनेक उपन्यासों की रचना की। खत्री जी के उपन्यासों का एकमात्र उद्देश्य था पाठकों का मनोरंजन करना। इनकी वर्णन शैली 'रेनाल्ड' से मिलती-जुलती है क्योंकि दोनों ही कथाओं का सूत्र इतिहास से मिलाते हैं और उसमें कुछ विचित्रता पैदा कर देते हैं।

गोपाल राम गहमरी ने घटना-प्रधान जासूसी उपन्यास लिखे, जिनमें घटनाओं का एक क्रम पाया जाता है। इनके उपन्यासों में भाव की अपेक्षा बुद्धि का चमत्कार अधिक पाया जाता है। इन्होंने चालीस वर्षों में डेढ़ सौ उपन्यास लिख डाले। ये जासूसी उपन्यास पूर्ण रूपेण योरप विशेषतः इङ्गलैण्ड की देन हैं।

किशोरीलाल जी गोस्वामी के उपन्यास कल्पना प्रधान हैं। केवल कथानक मात्र के लिए उन्हें सामाजिक कहा जा सकता है। इनमें प्रेम-प्रवंचना का आधिक्य है, जो कही कही अश्लील भी हो गई है। इतना तो अवश्य है कि गोस्वामी जी के उपन्यास इस युग के अन्य उपन्यासों की अपेक्षा समाज के अधिक निकट हैं, जिनकी संख्या दर्जनो हैं।

श्री निहाल चन्द्र वर्मा को हिन्दी का 'अरेबियन नाइटकार' कहा जाता है। मोती महल, जादू का महल, प्रेमका फल, आनन्द भवन, सोने का महल आदि आपके तिलस्म और ऐय्यारी के उपन्यास है जो इधर प्रकाशित हुए हैं, पर इनका प्रथम उपन्यास जादू का महल सन् १९१५ में लिखा गया था।

उपदेशात्मक

उपन्यासो की लोकप्रियता देखकर कुछ धर्म प्राण लोगो ने भी इसे प्रचार एवं उपदेश का उचित माध्यम समझकर अपनाया। परिणाम स्वरुप कुछ पौराणिक उपन्यासों की भी रचनाएँ हुई जिनका प्रधान लक्ष्य भारतीयों को प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति से परिचित कराना था क्योंकि अंग्रेजी सभ्यता का प्रचार बड़ी तेजी से होता जा रहा था। स्त्रियों के आदर्श के लिए अनुसूया, सुभद्रा, चन्द्रलेखा, सतीसीमंतिनि, मदालसा और सीता—सावित्री जैसी और पुरुषों के लिए वीर कर्ण, एकलव्य, परशुराम आदि महा वीरो के चरित्रो का चित्रण किया गया है। व्रजनन्दन सहाय कृत 'राधाकांत' सौंदर्योपासक तथा ईश्वरीप्रसाद शर्मा कृत 'सूर्यमयी', 'किरणमयी' आदि उपन्यास और मन्नन द्विवेदी की कृतियाँ इसी श्रेणी में आती है।

संधि काल के कवि

हिन्दी साहित्य का यह काल हिन्दी गद्य के आरम्भ और विकास की दृष्टि से जितना महत्वपूर्ण है, उतना काव्य की दृष्टि से नही। अब तक व्रजभाषा में शृंगार परक इतना प्रौढ एवं प्रभूत साहित्य लिखा जा चुका था कि उस विषय पर उससे कुछ आगे लिख पाना इस काल के कवियों के लिए न तो सम्भव था और न तो उसके लिए अनुकूल वातावरण ही था। कवियो को आश्रय प्रदान करने वाले दरबार या तो समाप्त हो गए थे या तो उनकी स्थिति ऐसी नही रह गई थी कि वे दरबारी ठाट-बाट की रक्षा कर सकें। कवियो का अखाड़ा केन्द्र से हटकर ग्रामीण अंचलों की ओर आया जहाँ उस प्रकार की कविता के ग्राहक नहीं थे। केन्द्र से हटकर रीवां, अयोध्या, मुठालिया रामपुर (जिला मथुरा), काशी तथा हरिहर पुर ऐसे कुछ छोटे छोटे राज दरबार थे जो अब भी पुरानी परम्परा को चलाए जा रहे थे। इन दरबारो में लिखी गई कविता तत्कालीन परिस्थितियो से बिलकुल अप्रभावित रही क्योंकि शृंगार परक

साहित्य की जो इतनी लम्बी परम्परा उन्हें मिली थी उससे सहसा विरत हो जाना उनके लिए कठिन था, पर इन कवियों ने पुरानी कविता का प्राय: पिष्ट पेषण ही किया।

विषय और भाषा दोनों ही दृष्टियों से इस काल की कविता में विकास नहीं बल्कि ह्रास के ही लक्षण दिखाई पड़े। विषय शृंगार और भाव ब्रजभाषा ही रही, पर अब कविता का क्षेत्र ब्रजप्रदेश नहीं रहा रीतिकाल का जो साहित्य ब्रजभाषा में लिखा गया, उसके नियामक ब्रजभाषा भाषी प्रदेश के या तो निवासी थे अथवा उससे उनका सम्पर्क था। पर इस काल के कवियों की ब्रजभाषा किताबी ब्रजभाषा थी और जिनके लिए ये कविताएँ लिखी जा रही थीं वे भी काव्य परंपरा के रूप में ही ब्रजभाषा का ज्ञान कर पाते थे। यही कारण है कि इस काल की कविता में न तो वह यौवन का उभार रह पाया है और न तो जीवन्त ताज़गी ही। कविताएँ नहीं लिखी गई हैं बल्कि कवियों ने लकीर पीटा है।

राधा कृष्ण को इन कवियों ने भी काव्य का विषय बनाया है पर राधा कृष्ण सम्बन्धी पौराणिक कथाओं की जैसी दुर्गति इस काल के कवियों ने की वैसी कभी और किसी साहित्य में नहीं हुई। कुछ लोग इन्हें धार्मिक साहित्य की संज्ञा देते हैं, पर इनमें वर्णित नायिकाएँ शुद्ध मानवी हैं उन्हें लोक भूमि पर ही देखना समीचीन होगा। इस साहित्य को धार्मिक साहित्य कहना, धार्मिक साहित्य का अपमान करना है। ये उच्च श्रेणी की रचनाएँ नहीं कही जा सकती।

'द्विजदेव' और 'भारतेन्दु' आदि दो-एक कवियों की रचनाओं को छोड़ कर प्राय: अन्य कवियों की कृतियाँ निम्न कोटि की ही हैं। 'भारतेन्दु' को विलक्षण साहित्यिक व्यक्तित्व मिला था जिसमें प्राचीनता और नवीनता के वे सन्धि स्थल बन गए थे। उनमें प्राचीन परिपाटी का परिज्ञान और नवीन उद्भावना की शक्ति थी। अत: वे युग-सन्धि के कवि थे। इनके अतिरिक्त अन्य कवियों ने वही पुराना ढर्रा पकड़ा है, जिन्होंने अधिकतर कवित्त और सवैया छन्दों का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त विरहा, मलार (बारह मासा), रेखता, गजल और कजली जैसे नये छन्दों का भी इस काल के कवियों ने प्रयोग किया है। रेखता और गजल लिखने वालों में 'भारतेन्दु' और शाह कुन्दन लाल विशेष उल्लेखनीय हैं।

अयोध्या नरेश महाराज मानसिंह 'द्विजदेव', सरदार कवि, लाल त्रिलोकीनाथ सिंह 'भुवनेश', गौरी प्रसाद सिंह, गोविन्द कवि गिल्ला भाई, द्विज बल्देव प्रसाद, रसिक बिहारी रसिकेश, सन्तोष सिंह शर्मा, डा० जगमोहन सिंह, नकछेद तिवारी, 'अजान कवि', द्विज बेनी गदाधर कवि (कवि पद्माकर के पौत्र) असनी के लाल कवि, राय शिवदास कवि, शाह कुन्दन लाल 'ललित किशोरी' उदयनाथ 'कवीन्द्र' गोकुलनाथ

और जगन्नाथदास रत्नाकर प्रमुख हैं। जगन्नाथदास रत्नाकर ने कविताएँ तो पुरानी परिपाटी पर ही लिखी हैं, पर इनका कविता काल बहुत बाद का है। इस क्षेत्र के अधिकांश कवियों की जानकारी अभी शेष है।

पुरानी परिपाटी के साथ-साथ नवीन प्रगति में योगदान प्रदान करनेवाले कवियों में 'भारतेन्दु', रामकृष्ण वर्मा बलवीर, उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, ठाकुर जगमोहन सिंह और अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के नाम प्रमुख हैं। 'हरिऔध' का कविताकाल रत्नाकर की भाँति बाद का है। इस काल में मुक्तक और प्रबन्ध दोनों की रचना कृष्णपरक और रामपरक काव्य के रूप में हुई है।

प्रमुख कवि

सेवक—सं० १८७२-१९३८ (सन् १८१५-१८८१ ई०)

ये असनी वाले ठाकुर कवि के पौत्र थे और काशी में रहते थे। ब्रजभाषा के सहृदय कवि थे। उन्होंने नायिका भेद ग्रन्थ 'वाग्विलास' की रचना की और बरवा छंद में एक छोटा-सा नख-शिख ग्रन्थ भी लिखा। इनके सवैये, रसिकों को आज भी याद हैं।

महाराज रघुराज सिंह रीवा नरेश—सं० १८८०-१९३६ (सन् १८२३-१८७९ई०)

ये रीवां के महाराज थे और इन्होंने 'भक्ति तथा शृंगार' सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ रचे। 'राम स्वयंवर' नामक इनका वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्य बहुत प्रसिद्ध है। यथावसर राजा होने के कारण उन्होंने इसमें राजसी ठाट-बाट का खूब वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त 'रुक्मिणी-परिणय', 'आनन्दाम्बुनिधि' तथा 'रामाष्टयाम' नाम के इनके ग्रंथ अच्छे बन पड़े हैं।

सरदार कवि—कविताकाल सं० १९०२-१९४० (सन् १८४५-१८८३ ई०)

ये काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के दरबार में थे। 'साहित्य सरसी', 'वाग्विलास', 'हनुमत भूषण', 'तुलसी भूषण', 'शृंगार संग्रह', 'राम रत्नाकर', 'साहित्य सुधाकर' और 'रामलीला प्रकाश' आदि मनोहर ग्रंथों के रचयिता हैं। साहित्यमर्मज्ञ एवं सिद्धहस्त कवि होने के साथ ही ये एक अच्छे टीकाकार भी थे। इन्होंने 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'सूर के दृष्टिकूट' और 'बिहारी सतसई' पर काफी अच्छी टीकाएँ लिखी हैं।

बाबा रघुनाथदास रामसनेही

ये अयोध्या के एक साधु थे और इन्होंने सं० १९११ (सन् १८५४ ई०) में 'विश्रामसागर' नामक एक बड़ा ग्रन्थ लिखा जिसमें पुराणों की संक्षिप्त कथाएँ हैं।

भारतेन्दु

युग निर्माता साहित्यकार भारतेन्दु के साहित्यिक व्यक्तित्व की चर्चा हो चुकी है। इनके पिताजी अपने समय के अच्छे कवि माने जाते थे, साथ ही उनके यहाँ कवियों का जमघट लगा रहता था। स्वाभाविक रूप से इसका प्रभाव भारतेन्दु पर पड़ा। वे प्राचीनता और नवीनता के सन्धिस्थल पर खड़े थे। संस्कार गत प्राचीन परम्परा का सहसा त्याग उनके लिए जितना कठिन था, उससे कम मुश्किल उनके लिए नवीनता का स्वागत न करना था। अतः उनमें प्राचीनता और नवीनता का अद्भुत समन्वय हुआ। उनमें जगनिक, कबीर, सूर, मीरा, देव और बिहारी आदि के दर्शन एक साथ हो जाते हैं। 'भारतेन्दु' जी ने अनेक कवि-समाज स्थापित किए जिनमें प्राचीन परम्पराओं के आधार पर समस्या पूर्ति हुआ करती थी। इनकी सुन्दर शृंगारिक रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे अश्लील चेष्टाओं और विलासिता की गंध से मुक्त हैं। प्रेममाधुरी (सन् १८७५ ई०), प्रेमतरंग (सन् १८७७ ई०), प्रेमालाप (सन् १८७७ ई०) तथा प्रेमफुलवारी (सन् १८८३ ई०) आदि में उनके सुन्दर कवित्त, सवैये और पद संग्रहीत हैं। स्फुट कविताओं का अलग संग्रह भी भारतेन्दु ग्रन्थावली (नागरी प्रचारिणी सभा) द्वितीय खण्ड में हुआ है: इनकी व्रजभाषा अत्यन्त परिष्कृत और स्वच्छ है। भाषा मधुर और प्रसाद गुण पूर्ण है। सरस सवैयों में बोल-चाल की व्रजभाषा का व्यवहार किया गया है। द्विजदेव और भारतेन्दु इस युग के सर्वश्रेष्ठ कवि थे।

ललितकिशोरी—कविताकाल सं० १९१३–१९३० (सन् १८५६–१८७३ ई०)

कृष्णभक्ति में तल्लीन होकर इन्होंने घर द्वार छोड़ दिया था और वृन्दावन में आकर विरक्त की भाँति रहने लगे थे। इनका वास्तविक नाम कुन्दनलाल था और लखनऊ में वैश्य कुल में इनका जन्म हुआ था। इन्होंने भक्ति तथा प्रेमपरक सुन्दर पद और गजलें लिखी। वृन्दावन का प्रसिद्ध साहजी का मंदिर इन्हीं का बनवाया है।

राजा लक्ष्मण सिंह

इनका शकुन्तला का अनुवाद बहुत प्रसिद्ध हुआ। सं० १९४० (सन् १८८३ ई०) में इन्होंने व्रजभाषा में 'मेघदूत' का भी अनुवाद किया।

लछिराम—जन्म सं० १८९८ (सन् १८४१ ई०)

दरबारी कवि थे और कई राजाओं के यहाँ रहे। ये ब्रह्मभट्ट थे। अनेक ग्रंथों का इन्होंने निर्माण किया। समस्यापूर्ति में ये अत्यन्त पटु थे और अविलम्ब समस्या-पूर्ति कर लिया करते थे।

इसके अतिरिक्त गोविन्द गिल्ला भाई, नवनीत चौबे, प्रतापनारायण मिश्र, बदरी-नारायण प्रेमघन, ठाकुर जगमोहन सिंह तथा पं० अम्बिकादत्त व्यास इस वेवे के कवि थे जिन्होंने भारतेन्दु मण्डल को समृद्ध बनाया।

•

द्विवेदी काल

पुनरुत्थान

आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भिक दिनों में जिस प्रकार हिन्दी साहित्य को भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जैसा व्यक्ति मिल गया था, उसी प्रकार इसके विकास काल में इसे पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ऐसा व्यक्ति मिला। 'भारतेन्दु' की अलौकिक नेतृत्व शक्ति ने जिस प्रकार अपने आस-पास अनुयायियों का एक लेखक मण्डल तैयार कर लिया था उसी प्रकार द्विवेदी जी ने भी अपने निर्भीक संघर्षशील व्यक्तित्व के कारण साहित्यकारों को अपनी ओर आकर्षित किया। भारतेन्दु युग की समाप्ति के साथ ही साथ बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी का उदय हुआ। भारतेन्दु जी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य को ऐसी स्थिति तक पहुँचा दिया था कि वह परिस्थितियों के सन्दर्भ में पुनर्जागरण का मंत्र फूंक सके। कविता, निबन्ध, नाटक उपन्यास तथा समालोचना आदि सभी महत्वपूर्ण विधाओं को स्वरूप दिया जा चुका था, केवल उन्हें विकसित करना था, जिसका दायित्व आकर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी पर पड़ा।

यह वह युग था जबकि सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तन का क्रम बड़ी तेजी से आरम्भ हो गया था। कई ऐसी घटनाएँ इसी समय घटीं जिनसे भारतीय जन मानस क्षुब्ध हो उठा था। इसी समय अंग्रेजों ने बंगाल का विभाजन करके बंगाल की भावुक जनता को विद्रोह के लिए तैयार कर दिया था। परिणामस्वरूप स्वदेशी आन्दोलन ने अत्यधिक ज़ोर पकड़ा। इसी समय सन् १९०४-०५ में जापान जैसे छोटे देश ने रूस जैसे विशाल देश को पराजित किया था, जिसका सीधा प्रभाव भारतीय मनोबल पर पड़ा। पराधीनता की निस्सारता उसके सामने

स्पष्ट हो चुकी थी, स्वतंत्रता की लडाई के लिए राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी और उसके नेतृत्व मे असहयोग की भूमिका निर्मित हो ही रही थी कि विजेता जापान के गौरव ने भारतीय पौरुष को कुरेदा और हीनता की ग्रन्थि से ग्रसित भारतीय जनता का स्वाभिमान कसमसाया जिससे लोगो मे आत्मबल और मनोबल का संचार हुआ। जातीय गौरव और राष्ट्रीयता की रक्षा करने के लिए मर मिटने की कामना जगी। जगाने का कार्य तो 'भारतेन्दु' ने कर ही दिया था अब पुनरुत्थान की बात थी, जिसके लिए सकल्प साहित्यकारों ने महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के नेतृत्व मे लिया। इस काल मे हिन्दी साहित्य का सर्वतोन्मुखी विकास हुआ और उस पर अनेक देशीय विदेशीय साहित्य एवं विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा, पर एक ऐसा साहित्यकारो का दल अवश्य देखने को मिल जाता है, जिसने महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के संकल्पो को स्वरूप प्रदान किया। ऐसी स्थिति मे युग-प्रवाह के साथ चलने वाले इन साहित्यकारो को द्विवेदी युग के ही भीतर रखना समीचीन होगा।

सन् १९०५ मे हुए कांग्रेस के काशी अधिवेशन मे लोकमान्य तिलक ने 'स्वतंत्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' का नारा दिया जिससे प्रेरणा ग्रहण कर क्रांतिकारी वीर युवकों ने जो बलिदान दिए उसकी प्रतिक्रिया जनमानस मे भी हुई और यातायात के नए साधनो के बढ जाने के कारण सम्पूर्ण देश जाग उठा न कि केवल अंचल विशेष।

पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण हिन्दी के प्रचार और प्रसार का कार्य भी तेजी से बढा। नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में जिस 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन हुआ था, उसके सम्पादन का कार्य तीन वर्षों बाद बाबू श्यामसुन्दर दास से हटकर द्विवेदी जी के हाथ आया। यह एक ऐतिहासिक घटना थी जिसने हिन्दी साहित्य का भविष्य ही बदल दिया। द्विवेदी जी के अनुयायी साहित्यकार उन्हें गुरु मानते थे न कि भारतेन्दु मण्डल के साहित्यकारों की भाँति मित्र। द्विवेदी जी ने स्वयं रचनाएँ थोडी की पर उन्होंने साहित्यकारो का निर्माण अत्यधिक किया। उन्होंने भाषा संस्कार पर सर्वाधिक बल दिया और प्रयत्न किया कि कविता और गद्य की भाषा मे अन्तर मिट जाय। इनके पूर्व गद्य मे खडी बोली का व्यवहार तो होने लगा था, पर कविता की भाषा व्रजभाषा ही थी। लोगो का विश्वास था कि खडी बोली में काव्य रचना हो ही नही सकती पर द्विवेदी जी और उनके अनुयायियों ने यह सिद्ध करके दिखला दिया कि खडी बोली मे केवल रचना ही नहीं, सुन्दर काव्य रचना हो सकती है। यह सुधार का ही युग था। आर्य समाज, थियोसॉफिकल सोसाइटी तथा रामकृष्ण मिशन जैसी सामाजिक और धार्मिक संस्थाएँ क्रियाशील थी। इधर द्विवेदी जी भाषा सुधार मे तत्पर थे। राजभक्ति के स्थान पर जो देश-भक्ति की भावना आयी और देश ने जो अपने अतीत का गौरवमय इतिहास देखना आरम्भ

किया था, उसे आधार मानकर द्विवेदी युगीन साहित्यकारों ने पुनरुत्थानवादी साहित्य की सृष्टि की, जिसमें मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', गोपालशरण सिंह, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, और नाथूराम शर्मा आदि प्रमुख हैं। खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाने में इस युग के कवियों का विशेष हाथ रहा जिन कवियों ने खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाने का प्रयत्न किया उनमें सर्वश्री श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद और नाथूराम शर्मा का नाम प्रमुख है।

काव्य-रचना

राष्ट्रीय आन्दोलन के समानान्तर ही स्वतंत्रता के प्रति कवियों में भी आकर्षण उत्पन्न हुआ और सामाजिक जीवन एवं राष्ट्रीय चेतना को काव्य का विषय बनाया गया। महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने जिस काव्य परम्परा को प्रेरित किया, उसके पूर्व ही पं० श्रीधर पाठक ने स्वच्छन्द वादी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपनी रचनायें आरम्भ कर दी थी जिसका विकास आगे चलकर एक विशिष्ट ढंग से छायावादी कवियों में हुआ। इस प्रकार श्रीधर पाठक की काव्य भूमि द्विवेदी कालीन काव्य-भूमि के इतने निकट हैं कि उसकी चर्चा के अभाव में हिन्दी कविता के भावी विकास को देख पाना कठिन है।

श्रीधर पाठक (सन् १८५९-१९२८ ई०)

श्रीधर पाठक का जन्म आगरा के जोधरी ग्राम में हुआ था और वे जीवन के अन्तिम क्षणों में प्रयाग (इलाहाबाद) जाकर बस गए थे जहाँ उनकी मृत्यु हुई। धनविजय, गुणवन्त हेमन्त, वनाष्टक और देहरादून पाठक जी की प्रमुख मौलिक कृतियाँ हैं। इन्होंने 'गोल्डस्मिथ' की तीन पुस्तकों का अनुवाद (दि हरमिट) 'एकांतवासीयोगी' (दि ट्रैवेलर) 'श्रांतपथिक' और (दि डिजेर्टेडविलेज) ऊजड़ ग्राम के नाम से किया है। ऊजड़ ग्राम का पद्यानुवाद ब्रजभाषा में है और शेष दोनों की भाषा खड़ी बोली है। इससे खड़ी बोली का पथ प्रशस्त हुआ। 'कालिदास' कृत 'ऋतुसंहार' का भी अनुवाद पाठक जी ने ब्रजभाषा में ही किया, पर वह पूर्ण नहीं हो सका था।

पाठक जी ने प्रकृति के रूढ़िबद्ध रूपों तक ही न रह कर अपनी आँखों से भी उस रूप को देखा है। उन्होंने खड़ी बोली पद्य के लिए सुन्दर लय और चढ़ाव उतार के कई नये ढाँचे भी निकाले। अन्त्यानुप्रास-रहित बेठिकाने समाप्त होने वाले गद्य के से लम्बे वाक्यों के छन्द भी (जैसे अंग्रेजी में होते हैं) इन्होंने लिखे हैं। अटन का यह छन्द देखिए—

विजन बन प्रान्त था, प्रकृति मुख शान्त था।
अटन का समय था, तरणि का उदय था॥
प्रसव के काल की लालिमा में लसा।
बाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा॥

पाठक जी की यह स्वच्छन्द धारा प० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के बीच मे आ जाने के कारण अप्रतिहत वेग से आगे प्रवाहित न हो सकी।

महावीरप्रसाद जी द्विवेदी (सन् १८६४–१९३८ ई०)

द्विवेदी जी का जन्म राय बरेली जिले के दौलतपुर गाँव मे हुआ था। हिन्दी साहित्य में द्विवेदी जी 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से तथा अपने अन्य निबन्धों के द्वारा किए गए भाषा सुधार के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्होंने स्वयं कुछ कविताएँ लिखी हैं। पहले व्रजभाषा मे रचनाएँ करते थे। अपनी सिद्धान्तवादिता के कारण स्वरचित कविताओं को भाषा की प्रयोगशाला बना देने के कारण नीरस बना देते थे। संस्कृत के प्रभाव के कारण समास युक्त लम्बे पदों की रचनायें भी इन्होने की है। कुछ अनुवाद कार्य भी किया है जैसे 'कुमार सम्भव' का आरम्भिक वर्णन। उनका काव्यमय अनुवाद मूल के अत्यन्त निकट होता था। ये कवि सही कवियो के निर्माता थे।

जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' (सन् १८६६–१९३२ ई०)

'रत्नाकर' जी का जन्म वाराणसी के शिवाला मुहल्ले में हुआ जो उनका पैत्रिक निवास है। इनके पिता पुरुषोत्तमदास के यहाँ कवियों और शायरों का आना जाना लगा रहता था जिसमें इनके सम्बन्धी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी थे। इसका प्रभाव 'रत्नाकर' जी पर पड़ा। वे व्रजभाषा को न छोड़ सके जबकि खड़ी बोली काव्य की भाषा बन चुकी थी। ये दिल्ली वाले अग्रवाल वैश्य थे। इनके पूर्वज अकबर के शासनकाल से ही उच्च सरकारी पदों पर थे। इनके प्रपितामह सेठ तुलाराम जहाँदार शाह के साथ लखनऊ आए फिर काशी मे आकर बस गए। 'रत्नाकर' जी ने बी०ए० पास किया था और अधिक दिनों तक ये महारानी अयोध्या के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे जहाँ इनकी नियुक्ति सन् १९०२ ई० में हुई थी। ये बड़े शौकीन तबियत के आदमी थे और रीतिकालीन सामंतो की भाँति रहते थे। कलकत्ता साहित्य सम्मेलन के सभापति के रूप में जब वे वहाँ गए तो इनकी वेष-भूषा देखकर नये लोगों को पहचानना कठिन हो गया कि कवि 'रत्नाकर' ये ही हैं।

इनके काव्य की भाषा व्रज रही। 'उद्धव शतक' और 'गंगावतरण' नामक इनकी दो रचनाएँ बहुत लोकप्रिय हुईं। 'उद्धव शतक' मे वही भ्रमर गीत प्रसंग है, पर वर्णन योजना 'रत्नाकर' की अपनी है। यह एक प्रबन्ध काव्य है जिसमें कृष्ण का

सन्देश लेकर उद्धव का व्रज जाना, गोपियों से सम्वाद और पुनः प्रेम के प्रवाह में बहते हुए लौटकर कृष्ण के पास आना वर्णित है। यह ११८ कवित्तों में समाप्त हुआ है। इस काल में इनके जैसा सुन्दर कवित्त लिखने वाला दूसरा कोई कवि नहीं हुआ। एक प्रकार से 'रत्नाकर' जी रीतिकालीन छन्द परम्परा के अन्तिम श्रेष्ठ कवि हैं। इनका 'गंगावतरण' भी एक प्रबन्ध काव्य है जो १३ सर्गों में समाप्त हुआ है और उसमें सगर सुतों के उद्धार के निमित्त राजा भगीरथ का गंगा को धरातल पर लाने की कथा कही गई है। इसे पौराणिक काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। इनके अतिरिक्त इन्होंने कई ग्रन्थों का सम्पादन और अनुवाद भी किया है। महावीरप्रसाद द्विवेदी के पूर्व 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादन मण्डल में भी थे।

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (सन् १८६५–१९४६ ई०)

इनका जन्म आजमगढ़ जनपद के निजामाबाद नामक कस्बे में हुआ था। इनके पिता जी का नाम भोला सिंह उपाध्याय और माता का नाम रुक्मिणी देवी था। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर चाचा पं० ब्रह्मा सिंह की देख रेख में हुई। इन्होंने मिडिल स्कूल की परीक्षा पास कर तहसीली स्कूल में अध्यापन शुरू किया और बाद में नार्मल की परीक्षा पास कर ली। पुनः कानून गोई की परीक्षा दी और कानून गो हो गए जहाँ से अवकाश प्राप्त करने पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अवैतनिक अध्यापक बने। इससे अलग होकर आजमगढ़ में रहने लगे जहाँ ६ मार्च १९४७ ई० को इनका स्वर्गवास हुआ। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे, पर इनके पितामह सिक्ख हो गए थे।

'हरिऔध' इनका उपनाम था जो अयोध्यासिंह (हरि-सिंह, औध-अयोध्या) का संक्षिप्त रूप है। काव्य रचना की प्रेरणा इन्हें निजामाबाद के सिक्ख गुरु बाबा सुमेर सिंह से मिली थी जो व्रजभाषा में काव्य रचना किया करते थे। 'हरिऔध' जी ने आरम्भ में व्रजभाषा में ही कवितायें लिखीं। अपनी प्रथम काव्य कृति 'कृष्णशतक' (सन् १८८२ ई०) इन्होंने व्रजभाषा में ही लिखी। बाद में इनका झुकाव खड़ी बोली की ओर हुआ और इन्होंने अपना प्रसिद्ध काव्य 'प्रियप्रवास' लिखकर यह सिद्ध कर दिया कि खड़ी बोली में सुन्दर काव्य-रचना ही नहीं की जा सकती बल्कि व्रजभाषा का-सा उसमें लालित्य और माधुर्य भी लाया जा सकता है। इस प्रियप्रवास ने हरिऔध जी को कवि सम्राट् बना दिया और सन् १९३६ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा इसी ग्रन्थ पर इन्हें मंगला पारितोषिक और विद्या वाचस्पति की उपाधि प्रदान की गई। व्रजवासियों के जीवनधन कृष्ण, कंस के निमंत्रण पर अक्रूर के साथ मथुरा चले जाते हैं और लौटकर नहीं आते। कृष्ण के इस प्रवास का वर्णन ही

इसका मुख्य वर्ण्य विषय है। सर्वगुण सम्पन्न राधा इस काव्य की नायिका है और इसमे राधा-कृष्ण की पारस्परिक प्रेम-गाथा का चित्रण है।

इस कृति में कवि ने कृष्णचरित को युगीन परिस्थितियों के अनुरूप विश्वसनीय ढंग से चित्रित किया है। पौराणिक प्रसंगो को तर्क संगत ढंगसे उपस्थित करने का इसमे प्रयास किया गया है। कृष्ण को लोक-रक्षक तथा विश्व-कल्याणकारी भावनाओं से पूर्ण और राधा को मर्यादा, संयम और सद्वृत्तियों की मूर्ति तथा लोक-सेविका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक युग मे वियोग पक्ष की स्थापना करनेवाला यह सफल प्रबन्ध काव्य है।

इसकी रचना अतुकांत तथा भिन्न तुकात शैली में हुई है, किन्तु छन्द की दृष्टि से इसमें संस्कृत वर्णवृत्तों का व्यवहार किया गया है। भाषा खड़ी बोली पर, संस्कृत प्रयोग बहुल है।

'वैदेही बनवास', इनका दूसरा प्रबन्ध काव्य है, जिसमें सीता परित्याग की कथा कही गई है। इसमें एक सरल कहानी सीधे-सादे ढंग से कह दी गई है। जिससे इसमे 'प्रिय-प्रवास' की गरिमा ढूँढना व्यर्थ है। यह उतना लोकप्रिय तो नही हुआ पर हरिऔध जी को यह अत्यन्त प्रिय था। एकाध स्थल इसके मार्मिक हैं। सीता परित्याग का प्रसंग ऐसा ही है, जो पाठक को द्रवीभूत कर देता है।

'रस-कलस' इनका नायिका-भेद ग्रन्थ है जिसमे इन्होंने युगीन परिस्थितियों के अनुसार कुछ नवीन नायिकाओ की कल्पना की है। जैसे—देश-प्रेमिका, लोक-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका तथा परिवार-प्रेमिका आदि। उर्दू शायरो को मुँह तोड उत्तर देने के लिए हरिऔधजी ने चोखे चौपदे लिखे। इस प्रकार भाषा और भाव सभी दृष्टियों से हरिऔध जी ने खड़ी बोली की सेवा का व्रत लिया था, जिसे उन्होंने काव्य, उपन्यास तथा अनूदित ग्रन्थों को प्रस्तुत करके पूरा किया। ये खड़ी बोली के प्रथम महाकवि हैं जिन्होंने राष्ट्रीयता और विश्व-बन्धुत्व की भावना से युक्त, सांस्कृतिक-पौराणिक आख्यानो का समकालीन सामाजिक जीवन के अनुकूल चित्रित किया।

हरिऔध जी का भाषा पर पूर्ण अधिकार था और सब प्रकार की भाषा की बानगी इनकी रचनाओं में मिल जायगी। कठिन से कठिन हिन्दी का प्रयोग 'ठेठिम का वाँका' और 'प्रियप्रवास मे तथा सरल से सरल हिन्दी का प्रयोग 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' तथा 'बालकों के लिए' लिखी गई कविताओं मे हुआ है। 'रसकलस' इनकी ब्रजभाषा का अच्छा नमूना है। चोखे-चौपदे के मुक्तको मे मुहाविरेदार उर्दू मिश्रित भाषा की छटा देखते ही बनती है। हिन्दी के पुराने और नवीन दोनों छन्दो के प्रयोग में माहिर और उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा अलंकारोके व्यवहार मे हरिऔध जी अत्यन्त पटु थे। रस की दृष्टि मे विप्रलंभ श्रृंगार, वात्सल्य तथा करुण रस उन्हें विशेष प्रिय थे।

मैथिलीशरण (सन् १८८६–१९६६ ई०)

गुप्तजी का जन्म झाँसी जिला अन्तर्गत चिरगाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम सेठ रामचरण और माता का नाम सरयू देवी था। ये पाँच भाई थे जिनमें से दो ने साहित्य-साधना की। सियारामशरण गुप्त इनके कनिष्ठ भ्राता थे। गुप्तजी की शिक्षा कुछ दिनों तक गाँव के स्कूल में हुई, फिर इन्होंने हिन्दी, संस्कृत, बंगला, मराठी और अंग्रेजी का अध्ययन घर पर ही किया।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को गुप्तजी अपना काव्य-गुरु मानते थे। द्विवेदी जी ने इन्हें बहुत प्रोत्साहित किया और सन् १९०९ ई० से ही इनकी रचनाएँ 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित होने लगीं। मुंशी अजमेरी से भी इन्हें आरम्भ में प्रोत्साहन मिला जिन्हें भाई तुल्य मानते थे। सम्पूर्ण द्विवेदी युग को यदि किसी एक व्यक्ति में देखना हो तो उसे मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में देखा जा सकता है। तत्कालीन जितने धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक आन्दोलनों को द्विवेदी जी ने अपना समर्थन दिया उनके लिए 'गुप्त' जी काव्य का सशक्त धरातल प्रदान किया। भारत का स्वातंत्र्य युद्ध जिस समय अपनी पराकाष्ठा पर था गुप्त जी ने अपनी काव्य पुस्तक 'भारत-भारती' लिखकर भारतीय जनता के सम्मुख उसके अतीत, वर्तमान और भविष्य का ऐसा सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया कि आन्दोलन में जान आ गयी। 'भारत-भारती' युवकों के गले का हार बन गई थी और अतिशयोक्ति न होगी यदि कहा जाय कि अनेक राष्ट्रीय नेताओं ने अपने उपदेशों और वक्तृताओं द्वारा जो कार्य नहीं किया वह कार्य अकेले 'गुप्त' जी की 'भारत-भारती' ने कर दिखलाया। इस पुस्तक ने गुप्त जी को राष्ट्रकवि बनाया, बड़ा बनाकर आदर दिलाया था। भारतीय संसद-सदस्य के रूप में गौरवान्वित करते हुए 'पद्मभूषण' दिलाया।

इनका तात्पर्य यह नहीं कि 'गुप्त जी' की साहित्यिक उपलब्धियों का महत्व कम है। 'गुप्त' जी ने लगभग अर्द्धशताब्दी तक हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है और उनके द्वारा उनका जो साहित्यिक व्यक्तित्व निर्मित हुआ है, वह अनेक साहित्यिक 'वादों' के बीच सीधा खड़ा है जो काव्य के माध्यम से भारतीय अतीत-गौरव और संस्कृत के अध्ययन का आधार प्रस्तुत करता है।

गुप्त जी को भक्ति भावना परम्परा के रूप में प्राप्त हुई थी, वे राम भक्त थे जिसका परिचय इन्होंने अपने महाकाव्य 'साकेत' में दिया है। इनकी भक्ति-भावना रूढ़िग्रस्त नहीं बल्कि उदार थी, यही कारण है कि 'रामचरित मानस' के अनेक ऐसे पात्र जैसे 'उर्मिला' जिसके साथ 'तुलसीदास' ने न्याय नहीं किया था, 'साकेत' में उनके साथ न्याय किया गया है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम को 'गुप्त' जी ने आरम्भ में ही

परब्रह्म न मानकर मानव, माना है और उनके असाधारण गुणों की चर्चा करके उन्हें परम ब्रह्मत्व तक पहुँचाया है। बहुत पहले श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'काव्येर उपेक्षिता' नाम से एक लेख लिखा था, जिसमें भारतीय कवियों द्वारा उपेक्षिताओं के प्रति सहानुभूति प्रकट की गई थी। गुप्त जी के काव्य गुरु महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उनमें से एक को केन्द्र बनाकर कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता नामक लेख लिखा। लोगों का विश्वास है कि 'गुप्त' जी के 'साकेत' की मूल कल्पना यही लेख है क्योंकि इसमें 'उर्मिला' को ही विशेष महत्व प्रदान किया गया है। उर्मिला का विरह वर्णन 'साकेत' महाकाव्य का अत्यन्त मर्मस्पर्शी स्थल है।

यशोधरा, जयद्रथवध, सिद्धराज तथा पंचवटी जैसे अनेक प्रबन्ध काव्यों की रचना गुप्त जी ने पौराणिक और ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर युगीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में अत्यन्त सरल एवं सुबोध शैली में की है। इसके अतिरिक्त 'साकेत' और 'जय भारत' नामक दो खड़ी बोली के महाकाव्य इन्होंने हिन्दी को दिए जिनमें से एक में तो इनकी भक्ति-भावना और सामाजिक आस्था व्यक्त हुई है और दूसरे में परकल्याण की भावना। 'जय भारत' की रचना व्यासकृत 'महाभारत' के अनुकरण पर हुई है। इसका मुख्य विषय धर्म और अधर्म का युद्ध है। प्राचीन काव्यगत रूढ़ियों से यदि थोड़ा हट कर विचार किया जाय तो ये दोनों महाकाव्य अत्यन्त सफल कहे जा सकते हैं। छायावादी ढंग के इनके गीत 'झंकार' में संग्रहीत हैं, पर ये बानगी के रूप में ही लिखे गए हैं।

इनकी अन्य रचनाएँ भी काफी सफल रही हैं। लघु प्रबन्ध काव्यों की सम्वाद योजना, वस्तु-संगठन और प्रकृति-चित्र आदि तो अपेक्षाकृत और भी सुन्दर बन पड़े हैं। इनकी समस्त छोटी-बड़ी कृतियों में, प्रायः कोई-न-कोई धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक प्रसंग की उद्भावना होती है। **अतीत के प्रति आग्रह, वर्तमान और भविष्य के प्रति सावधान तथा देश के प्रति आस्थावान रहने की भावना गुप्त जी की रचनाओं का मूलमन्त्र है। गुप्त जी सच्चे राष्ट्रीय कवि हैं।** मानव मन की नाना दशाओं के चित्र में उनको अद्भुत सफलता मिली है तथा इनका विरह वर्णन हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है। नारी जाति के प्रति जितनी आत्मीयता और सहानुभूति 'गुप्त जी' के काव्य में देखने को मिलती है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है।

गुप्त जी ने महाकाव्य, खण्डकाव्य, चम्पू तथा मुक्तक आदि शैलियों का सफल प्रयोग किया है। वर्णनात्मकता अथवा इति वृत्तात्मकता इनकी शैली की प्रमुख विशेषता है।

कुछ लोग, गुप्त जी की कृतियों के कुछ स्थलों पर, शुष्कता एवं नीरसता, इति वृत्तात्मकता के मोह, अनुभूति पक्ष की दुर्बलता तथा अप्रचलित शब्दों के व्यवहार-

सम्बन्धी दोष लगाते हैं और यहाँ तक कह जाते हैं कि तुकबन्दी के चक्कर में पड़ने के कारण 'गुप्त जी' ने काव्य के कथा प्रवाह की भी उपेक्षा की है। कुछ कृतियों के सम्बन्ध में उपर्युक्त बातें सही हो सकती हैं, पर गुप्त जी के अधिकांश खण्ड-काव्य इन आरोपों से मुक्त हैं। गुप्त जी ने इतना अधिक लिखा है और भाषा, भाव, तथा छन्द के रूप में आधुनिक हिन्दी साहित्य को इतना अधिक दिया है कि उपर्युक्त आरोपों का कोई मूल्य ही नहीं है।

इनकी भाषा शुद्ध, प्रवाहयुक्त तथा परिमार्जित खड़ी बोली है, जिसमें तत्सम, तद्भव एवं देशज शब्दों का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया गया है। इनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता उसकी लोकप्रियता है। वह सबके पढ़ने योग्य है। श्लीलता का उसमें सर्वत्र निर्वाह हुआ है और गुप्त जी ने हिन्दू सभ्यता और संस्कृति को उसके उज्ज्वलतम रूप में सामने रखा है।

गुप्त जी बीसवीं शताब्दी के सर्वाधिक जनप्रिय कवि रहे हैं जिन्होंने अपनी मौलिक और अनूदित रचनाओं के द्वारा एक काव्य परम्परा का निर्माण किया था। उनकी मृत्यु के साथ ही एक युग की समाप्ति हो गई।

'गुप्त जी' ने लगभग पचास पुस्तकों की रचना की। इनमें विरहणी-व्रजांगना, प्लासी का युद्ध, मेघनाद वध और उमर खैयाम की रुबाइयाँ अनूदित तथा जयद्रथ वध, भारत-भारती, यशोधरा, पंचवटी, साकेत, सिद्धराज, द्वापर, नहुष, जयभारत और विष्णु-प्रिया, प्रमुख मौलिक काव्य कृतियाँ हैं।

अन्य कवि

पं० रामचरित उपाध्याय (जन्म सन् १८७२ ई०) आरम्भ में पुराने ढंग की कविताएँ करते थे पर महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रभाव में आकर उन्होंने खड़ी बोली में अच्छी रचनाएँ कीं। 'रामचरित-चिन्तामणि' नामक एक सुन्दर प्रबन्ध काव्य भी उन्होंने लिखा है।

सरस्वती पत्रिका में छपने वाले कवियों में पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय का नाम उल्लेखनीय हैं। सन् १९०५ ई० से ही इनकी कविताएँ सरस्वती में छपने लगी थीं। इन्होंने खड़ी बोली में सुन्दर सर्वैये लिखे हैं।

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रभाव से मुक्त होकर उसी समय कुछ ऐसे कवि भी थे जो स्वतन्त्र रूप से सुन्दर कविताएँ लिख रहे थे, उनमें रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण', पं० नाथूराम शंकर शर्मा, पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवानदीन, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० रूपनारायण पाण्डेय आदि प्रमुख हैं। जगदम्बा प्रसाद द्विवेदी ने काव्य की प्राचीन परिपाटी को खड़ी बोली में सफलता के

साथ प्रयुक्त किया। इनके ये रचनायें 'कल्लोलिनी' और 'नवोदिता' में संग्रहीत हैं। इन्होंने मार्मिक अन्योक्तियाँ भी लिखी है।

अनूप शर्मा प्रारम्भ मे ब्रजभाषा में रचना करते रहे, पर बाद में वे खड़ी बोली की ओर आकर्षित हुए। सुनाल, सिद्धार्थ और वर्द्धमान नामक इनकी काव्य-कृतियाँ हैं। प्रबन्ध पटुता इनकी रचनाओं मे देखने को मिल जाती है।

ठा० गोपालशरण सिंह, खड़ी बोली के प्राचीन कवियो मे माने जाते है। स्फुट से लेकर प्रबन्ध काव्यों की इन्होंने रचनाएँ की हैं। 'दापू' पर लिखा इनका प्रबन्ध प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त आधुनिक कवि, कादम्बिनी, ज्योतिष्मती, माधवी, मानवी, संचिता, सागरिका और सुमना इनकी अन्य रचनाएँ हैं। पुरोहित प्रतापनारायण, तुलसी राम-दिनेश तथा सोहनलाल द्विवेदी आदि ने भी सरल भाषा-शैली मे अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। मोहनलाल द्विवेदी की भाषा अपेक्षाकृत अधिक ओजपूर्ण है।

राष्ट्रीय चेतना

किसी भी देश का स्वस्थ साहित्य वहाँ की संस्कृति मानवता और राष्ट्रीय गौरव को प्रेरणा प्रदान करने का प्रमुख कारण होता है। कवि की प्रभावशालिनी काव्य चेतना समय समय पर जनमानस को सजग एवं सचेत करती रहती है। भारतीय इतिहास के पराभव काल में भी हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय चेतना का अभाव नहीं रहा। यह दूसरी बात है कि उसका स्वरूप सदैव एक सा नहीं रहा, इसके लिए समकालीन परिस्थितियाँ उत्तरदाई होती हैं। हिन्दी के उत्तर मध्य कालीन (रीतिकाल) काव्यधाराओं को भी 'भूषण' जैसे राष्ट्रीय कवि को उत्पन्न करने का गौरव मिल ही गया, जबकि इतिहास का यह काल जातीय-जीवन की दृष्टि से अत्यन्त पराभव काल था। एक लम्बी पराधीनता ने राष्ट्रीय भावधारा की मूर्ति को इतना धूमिल कर दिया था कि इसकी कोई एक सुदृढ परम्परा का निर्माण हो ही नहीं सका।

'भारतेन्दु' के हिन्दी साहित्य मे आगमन के साथ ही राष्ट्रीय चेतना का उदय और उसका क्रमिकविकास होने लगा। भारतेन्दु कालीन कविता में भारतीय जन-समाज का क्षीण विश्वास सुनाई देने लग गया था, पर उस युग का कवि समाज की दीन-हीन दशा पर केवल क्षुब्ध हो करुणा से आँसू गिराता था और उसके अन्दर वह साहस नहीं आ सका था कि वह अवांछित परिस्थितियो से मुक्त होने का सन्देश देता। इसके साथ-साथ राष्ट्रीयता के भाव की प्रवल भूमिका तैयार होती जा रही थी, राष्ट्रीयता एवं समाज सुधार की भावना से प्रेरित अनेक समाज सुधारक संस्थाओं ने जिसे बल प्रदान किया। राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व जब महात्मा गांधी के हाथ आया, उसके

पूर्व ही साहित्य का सामाजिक तथा राष्ट्रीय मूल्य तो आँका जा चुका था किन्तु एक व्यवस्थित क्रान्ति का रूप तो इसे गांधी के प्रवेश के बाद ही मिला। परिणाम स्वरूप कवियों की दृष्टि आध्यात्म चिन्तन और संयोग वियोग चित्रण से हटकर देश प्रेम की ओर गयी और देश की मिट्टी उन्हें मोहक लोरी सुनाने लगी। खोए हुए अतीत की तलाश शुरू हुई और विदेशी शासकों द्वारा प्रस्तुत किए गये भारतीय इतिहास को नये सन्दर्भों में समझने की चेष्टा की गयी। यह पुनरुत्थान का काल था जिसका पोषण महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में हुआ। ऐतिहासिक एवं पौराणिक पुरुषों की नवीन व्याख्या मानव को महत्व प्रदान करने के लिए की गई और उपेक्षित पात्रों को महत्त्व प्रदान किया गया। इस प्रकार प्रबन्ध काव्यों और प्रगीतों के द्वारा अतीत गौरव का गान और वर्त्तमान अपमान जनित परिस्थितियों का भावुकता पूर्ण चित्रण करके देश में चल रहे स्वतंत्रता संग्राम को बल प्रदान किया गया। लोक जीवन को प्रभावित करने वाले राष्ट्रीय बिरहे और कजलियाँ जो कांग्रेस की सभाओं में साधारण पढ़े लिखे भावुक देश भक्तों द्वारा गायी जाती थीं, उनकी लोकप्रियता ने भी कवियों को युगीन दायित्व के प्रति सचेष्ट किया। परिणाम स्वरूप हिन्दी कवियों ने काव्य के माध्यम से व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन किया।

हिन्दी साहित्य के इतिहास पर यदि हम दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जायगा कि राष्ट्रीय चेतना अथवा भावना का जैसा विकास इस युग में हुआ इसके पूर्व कभी नहीं हुआ था। भारतेन्दु काल में यह भावना राजभक्ति और देशभक्ति के साथ-साथ चलती थी। क्योंकि उस समय तक अंग्रेज प्रभुओं का शासन सूर्य अपने चरमोत्कर्ष पर था और उससे मुक्त होने की सहसा कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। फिर भी तत्कालीन शासन व्यवस्था के प्रति असन्तोष का भाव भारतेन्दु साहित्य में आने लगा था। समयानुसार असन्तोष का यह स्वर तीव्रतर होता गया और महावीर प्रसाद जी द्विवेदी कालीन काव्य में मातृभूमि के प्रति अनुराग की भावना अत्यधिक मुखर होकर सामने आने लगी। द्विवेदी कालीन काव्य में यह भावना मुख्यतः प्रबन्ध काव्यों के माध्यम से कलात्मक ढंग से व्यक्त हुई जिसके परिणाम स्वरूप या तो कवियों ने कल्पित कथानक का सहारा लिया या प्राचीन कथानक को नवीन ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। पंडित रामनरेश त्रिपाठी के खण्डकाव्य 'पथिक' का कल्पित कथानक मातृभूमि के प्रति अनुराग व्यक्त करने और स्वतंत्रता की भावनाओं को बल प्रदान करने के लिए, निर्मित किया गया है। इसके अतिरिक्त मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र को केन्द्र में रखकर लिखे गये तुलसी कृत 'राम चरित मानस' के आधार पर लिखे गये मैथिलीशरण गुप्त कृत महाकाव्य 'साकेत' का नामकरण चरित्रनायक राम के नाम पर न करके उनकी मातृभूमि 'साकेत' के नाम पर किया गया। इस नाम करण के पीछे निश्चित ही ज्ञात अथवा अज्ञात भाव से तत्कालीन काव्य में बढ़ती हुई

मातृभूमि के प्रति अनुराग-भावना का प्रभाव है। प्रबन्ध काव्यों के अतिरिक्त श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी तथा मैथिलीशरण गुप्त आदि ने स्वदेश वन्दन में सुन्दर प्रभावपूर्ण कविताएँ लिखी।

सन् १९२१ ई० मे जब महात्मा गांधी ने भारत की सक्रिय राजनीति मे प्रवेश किया तो देश मे चल रहे स्वतंत्रता सग्राम की रूप-रेखा ही बदल गयी। देश-प्रेम को एक व्यापक दिशा मिली और राष्ट्रीय भावना का प्रसार महलों से लेकर झोपड़ियों तक हुआ। देश ने अंग्रेजी को देश से निकाल बाहर करने का संकल्प लिया और शासन के प्रति असहयोग की ऐसी आँधी चली कि हिन्दी के कविगण भी उससे अछूते नही रहे। उन्होने केवल राष्ट्रीय कविताएँ ही नही लिखी बल्कि जेल यात्रायें भी की जिनमें मैथिलीशरण गुप्त प० माखन लाल चतुर्वेदी, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा सुभद्रा कुमारी चौहान आदि प्रमुख हैं। इसी युग में प्रबन्ध काव्यो की परम्परा मे ऐसे इतिहास पुरुषों को चुना गया जिन्होने मातृभूमि की रक्षा और पराधीनता को समाप्त करने के लिए अपने जीवन के अन्तिम रक्त बूँद तक संघर्ष किया था। प० श्याम-नारायण पाण्डेय कृत 'हल्दीघाटी' में वर्णित महाराणा प्रताप का चरित्र इसी कोटि का है। इसके अनेक ओजस्वी स्थल राष्ट्रीय कांग्रेस की सभाओं मे सुनाए जाते थे। स्वय पाण्डेय जी भी इसी काव्य के माध्यम से कवि सम्मेलनो पर सदा छाये रहे। इस दिशा मे रामधारी सिंह 'दिनकर' का भी योगदान भुलाया नही जा सकता।

रामनरेश त्रिपाठी (जन्म सन् १८८९ ई० और मृत्यु सन् १९६२ ई०)

त्रिपाठी जी का जन्म उत्तर प्रदेश के जनपद जौनपुर के कोइरीपुर ग्राम मे हुआ था (अब यह ग्राम सुल्तानपुर जनपद मे चला गया है) इनकी प्रारम्भिक शिक्षा जौनपुर में ही हुई। काव्य रचना इन्होंने ब्रजभाषा छन्द से आरम्भ की फिर बाद मे सरस्वती पत्रिका के प्रभाव में आकर खड़ी बोली को अपनी रचना का माध्यम बनाया। इन्होने यात्रायें खूब की थी जिसका सुन्दरतम उपयोग इन्होंने अपने खण्ड काव्य 'पथिक' मे किया है। 'कवितावितोद', 'क्या होम-रूल लोगे?' 'मिलन', 'पथिक' 'मानसी' और 'स्वप्न' त्रिपाठीजी के काव्य ग्रन्थ हैं। त्रिपाठीजी दाम्पत्य प्रेम और राष्ट्रीय भावना के कवि हैं जिसका चरम परिपाक उनके खण्ड काव्य 'मिलन' 'पथिक' और 'स्वप्न' में हुआ है। प्रेम, देश प्रेम और प्रकृति प्रेम का जैसा सुन्दर समन्वय त्रिपाठी जी की रचनाओं मे हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी छन्द योजना अत्यन्त सुदृढ एवं निर्दोष है। इन्होंने आल्हा और विरहा जैसे लोक साहित्य के छन्दो का भी व्यवहार किया। भाषा भावो के अनुरूप बड़ी ही साफ-सुथरी और प्रभावोत्पादक है।

माखनलाल चतुर्वेदी (सन् १८८८ ई०–१९६८ ई०)

चतुर्वेदीजी का जन्म बावई होशंगाबाद (मध्यप्रदेश) में हुआ था। इनके पिता नन्दलाल चतुर्वेदी गांव की पाठशाला मे अध्यापक थे, जिनकी देख-रेख में इनकी शिक्षा दीक्षा हुई। चतुर्वेदीजी ने भी खंडवा के एक स्कूल में अध्यापन कार्य आरम्भ किया था पर आठ वर्ष के बाद स्वाध्याय और राष्ट्रीय आन्दोलन ने उन्हें अपनी ओर खींच लिया। हिन्दी साहित्य में वे 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'हिमकिरीटिनी' 'हिमतरंगिनी', 'माता' 'युगचरण' 'वेणु लो गूंजे धरा' 'मरणज्वार' और 'बीजुरी काजल आंज रही' उनके प्रकाशित काव्यग्रंथ हैं। इसके अतिरिक्त 'कृष्णार्जुन युद्ध (नाटक) साहित्य देवता (गद्य काव्य) कला का अनुवाद (कहानी-संग्रह) तथा अमीर इरादे गरीब इरादे (निबन्ध संग्रह) अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। वृद्धावस्था के अन्तिम क्षणों मे खंडवा मे रहकर 'कर्मवीर' का सम्पादन और प्रकाशन करते रहे।

माखनलाल जी का सामाजिक और साहित्यिक दोनों व्यक्तित्व समान रूप से आदरणीय रहा है। मध्यप्रदेश की जनता आज भी इन्हें 'दादा' के नाम से सम्बोधित करती है। सक्रिय राजनीति में भाग लेने के कारण उनके हृदय में जो ज्वाला जली थी, उसके स्फुलिंग उनके गीतों में दिखलाई पड़ते हैं। ये मुख्यतः मुक्तकों और गीतों के कवि हैं। वैयक्तिक अनुभूतियों को मूर्तरूप प्रदान करने वाले गीतों से लेकर राष्ट्रीय विचारधारा को वाणी देने वाले गीतों तक मे उनकी अप्रतिहत प्रतिभा के दर्शन मिलते हैं। प्रकृति के कोमलतम तत्व उन्हें अपनी अपनी ओर आकर्षित करते हैं पर उनकी अन्तरात्मा में पैठकर वे उनकी बलिदानी राष्ट्रीय भावनाओं को व्यक्त करने में पूर्ण सफल सिद्ध हुए हैं। 'पुष्प की अभिलाषा' तथा 'कैदी और कोकिला' जैसी इनकी रचनाएँ इसी कोटि मे आती हैं। इनकी कविताओं का मूल स्वर तो क्रान्ति, विद्रोह और देश प्रेम से परिपूर्ण है ही साथ ही इन्होंने प्रणय परक सुन्दर रचनाएँ भी की हैं। इन रचनाओं में वे छायावादी प्रवृत्ति के निकट दिखलाई पड़ते हैं। भाषा की सरलता और स्वाभाविकता के प्रति आग्रह होने के कारण प्रान्तीय अनगढ़ शब्दों का प्रयोग भी इनकी कविताओं में हुआ है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (सन् १८९७–१९६० ई०)

'नवीन' जी का जन्म वैष्णव ब्राह्मण परिवार में ग्वालियर के भयाना नामक ग्राम में हुआ था। वे सन् १९१७ ई० में माधव कालेज से हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करके कानपुर के क्राइस्ट चर्च के विद्यार्थी बने। गांधीजी द्वारा चलाये गए १९२०–२१ ई० के सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के कारण जेल चले गये और बी० ए० की परीक्षा नहीं दे सके। अपने उग्र राष्ट्रीय विचारों के कारण एकाधिक बार इन्होंने जेल-यात्रा की पर उस पथ पर बढ़ते ही गए। स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी का इनपर अत्यधिक

प्रभाव पड़ा और उनके 'प्रताप' के माध्यम से इनकी कविताएँ प्रकाश मे आने लगी थी। इनकी रचनाओं का आरम्भ तो सन् १९१७ ई० के आस-पास हो गया था, पर वे प्रकाश मे बाद मे आई। 'कुंकुम', 'रश्मिरेखा', 'क्वासि', 'विनोबा स्तवन', 'उर्मिला' और 'हम विष पायी जनम के' 'नवीन' जी की काव्य-कृतियाँ हैं। व्यक्तिगत प्रेम और राष्ट्र-प्रेम दोनो ही 'नवीन' जी के प्रिय विषय रहे हैं और दोनों में ही उन्होंने अत्यन्त प्रभावशालिनी रचनाएँ की है। अतीत-गौरव-गान और दयनीय परिस्थितियो का करुण चित्रण इनकी राष्ट्रीय कविताओं में प्रचुर मात्रा मे मिल जाता है। पौरुष की जैसी हुंकार 'नवीन' जी की रचनाओ में है वैसी ही उनकी वक्तृताओं में भी थी। संसद-सदस्य के रूप मे हिन्दी के प्रबल समर्थक होने और तत्सम्बन्धी ओजस्वी भाषण देनेके कारण ही समस्त योग्यता रखते हुए और जवाहरलाल जी के विश्वासभाजन होने पर भी राजनैतिक जीवन मे इन्हें जितना सम्मान मिलना चाहिए था नही मिला। 'उर्मिला' इनका प्रबन्ध काव्य है, पर मुक्तक रचनाओं में इनका मन अधिक रमा है। छायावाद युग के कवि होते हुए भी वे छायावादी कवि नहीं बल्कि भावुकता और मस्ती के कवि हैं।

उदयशंकर भट्ट (सन् १८९८–१९६६ ई०)

'भट्ट' जी का जन्म इटावा (उत्तरप्रदेश) मे हुआ था जो इनका ननिहाल था। इनके पिता श्री फतेहशंकर भट्ट बुलन्दशहर के कर्णवास नामक ग्राम मे रहते थे। जीविकोपार्जन एवं अध्ययन के सम्बन्ध में भट्ट जी का सम्पर्क देश के विभिन्न भागों से हुआ। अध्यापक के रूप मे अपने लाहौर निवास-काल मे भट्ट जी स्वतंत्रता आन्दोलन तथा क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में भी आये थे। काव्य के अतिरिक्त, निबन्ध, उपन्यास, नाटक, एकांकी नाटक, गीति-नाट्य तथा रेडियो-रूपक जैसे विविध साहित्य रूपों का सफल निर्माण 'भट्ट' जी की लेखनी से हुआ है।

'तक्षशिला', 'राका', 'मानसी', 'विसर्जन', 'युगदीप', 'अमृत और विष', 'विजय-पथ', 'यथार्थ और कल्पना' तथा 'अन्तर्दर्शन' भट्ट जी की प्रमुख काव्य-कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र' और 'राधा' नामक इनके तीन गीति-नाट्यों को भी पर्याप्त ख्याति मिली है। स्वदेश के अतीत गौरव के प्रति भट्ट जी के मन मे बड़ी ममता थी जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने युगीन जर्जर रूढ़ियों से समझौता किये बिना की है। अपने व्यक्तिगत जीवन मे भी भट्ट जी अत्यन्त उदार एवं मानवतावादी दृष्टिकोण के पोषक रहे हैं जिसका स्पष्ट प्रभाव उनकी रचनाओ पर देखा जा सकता है। व्यक्तिगत जीवन के संघर्ष, प्राचीन गौरव, आध्यात्मचिंतन से लेकर पददलित मानवता के प्रति सहानुभूति आदि सभी 'भट्ट' जी के काव्य के लोकप्रिय विषय रहे हैं। इनकी कविताओं में अतीत और वर्तमान का समन्वय देखने को मिल जाता है।

सुभद्राकुमारी चौहान (सन् १९०४–१९४८ ई०)

इनका जन्म क्षत्रिय कुल में इलाहाबाद (उत्तरप्रदेश) में हुआ था, जहाँ इनके पिता ठाकुर रामनाथ सिंह निहालपुर मुहल्ले में रहते थे। खंडवा निवासी ठा० लक्ष्मण सिंह चौहान के साथ सन् १९१९ ई० में इनका विवाह हुआ। देश में जब असहयोग आन्दोलन की भूमिका बनी तो सुभद्राजी ने पढ़ना छोड़कर उसमें अपना सक्रिय योगदान किया। गिरफ्तार तो ये कई बार हुईं पर एक बार जेल की यातना भी इन्हें सहनी पड़ी। दुर्भाग्य से इसे हिन्दी का ही दुर्भाग्य कहिए कि सन् १९४८ ई० में एक मोटर दुर्घटना में इनकी मृत्यु हो गयी। राष्ट्रीय कविताओं का तो यह युग ही था और राष्ट्रीय कविता करने वाले अनेक कवि मैदान में भी आये, पर राष्ट्रीय कविता करनेवाली सुभद्रा जी एकमात्र कवियित्री हैं जो इस काव्यधारा में अपने साहित्यिक व्यक्तित्व के कारण बड़े आदर के साथ पढ़ी और स्मरण की जाती है।

'मुकुल', 'नक्षत्र' और 'चित्राधार' इनकी कविताओं के प्रसिद्ध संग्रह हैं। 'मुकुल' नामक संग्रह पर इन्हें सन् १९३१ ई० में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सेकसरिया पुरस्कार भी मिला था। 'बिखरे मोती' और 'उन्मादिनी' नाम से इनके दो कहानी-संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। सुभद्रा जी देश-प्रेम के पीछे दीवानी थी, काव्य-रचना और सामाजिक सम्बन्धों में भी वे इसी भावना से ओत-प्रोत हो आचरण करती थीं। राखी, रक्षाबन्धन के अवसर पर वे उसी पुरुष के हाथों में बाँधती थी जिसकी तेजस्विता पर उन्हें आस्था होती। अतीत के उत्साहवर्द्धक पर्व और राष्ट्रनेता सुभद्राजी के आदरणीय थे। लौकिक प्रसंगों को उन्होंने काव्य का विषय न बनाकर, 'झंडे की इज्जत', 'स्वदेश के प्रति', 'जलियाँ वाला बाग में बसंत', तथा 'झाँसी की रानी' जैसे शीर्षकों को काव्य के लिए चुना। सन् १८५७ ई० की क्रांति को केन्द्र में रखकर लिखी 'झाँसी की रानी' नामक इनकी काव्य-रचना जितनी लोकप्रिय हुई, उतनी लोकप्रियता इस काल की कम ही रचनाओं को मिली। सभामंचों से श्रोताओं में उत्साह लाने तथा देशव्यापी क्रांति को तीव्रता प्रदान करने के लिए बच्चे तक सुभद्रा कुमारी चौहान की इस रचना 'झाँसी की रानी' का उद्घोष करते देखे जाते और स्कूल तथा कालेज की अन्त्याक्षरी प्रतियोगिता में तो इनका एक छत्र राज्य होता। इस कविता के माध्यम से कवियित्री ने उन सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनैतिक कारणों की सफल अभिव्यक्ति की हैं, जिनके परिणामस्वरूप सन् १८५७ की राज्यव्यापी क्रांति हुई। इस आन्दोलन के बीच से झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का जो ओजस्वी व्यक्तित्व उभड़ कर इनकी कविता में आया है, वह किसी भी देश और जाति के गौरव का कारण बन सकता है। ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित एवं वीर रस पूरित यह एक सफल राष्ट्रीय कृति है। लक्ष्मीबाई का उदय और अन्त दोनों गौरवपूर्ण रहा जिससे देशवासी कवियित्री के स्वर से स्वर मिलाकर कहने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि—

जाओ रानी याद रखेंगे
ये कृतज्ञ भारतवासी;
यह तेरा बलिदान,
जगावेगा स्वतंत्रता अविनाशी।

देशप्रेम का साधना से बचकर जो कुछ समय सुभद्रा जी को मिल जाता था उसमें वे अपने दाम्पत्य जीवन की स्वाभाविक नारी सुलभ ममता की साधना करती थीं। वैयक्तिक अनुभूतियों को भी उन्होंने अपने काव्य का विषय बनाया है, पर उनकी यह प्रेमानुभूति स्वकीयत्व की मर्यादा में ही अभिव्यक्त हुई है न कि परकीयत्व की अतीव छट-पटाहट में। भारतीय गृहणी के आदर्शों के अनुरूप प्राणेश्वर के चरणों पर अर्पित हो जाती है—

चरणों पर अर्पित है, इसको
चाहो तो स्वीकार करो!
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है
ठुकरा दो या प्यार करो।

इस प्रकार वीर, शृंगार एवं वात्सल्य की अद्भुत सृष्टि इनकी कविताओं में हुई है। सहज प्रवाहमयी ओजपूर्ण भाषा में रचना करने की जैसी शक्ति इनमें थी, इस क्षेत्र के कवियों में वह विरले कवियों में मिलती है।

श्यामनारायण पाण्डेय (जन्म—सन् १९०७ ई०)

पाण्डेय जी का जन्म आजमगढ़ जनपद (उत्तर प्रदेश) के डुमराँव नामक गाँव में हुआ था जो मऊनाथ भजन के निकट स्थित है। पाण्डेय जी ने इस गाँव के नाम का संस्कार कर लिया है और उसे द्रुमग्राम के नाम से सम्बोधित करते हैं। आरम्भिक शिक्षा इनकी हिन्दी-उर्दू मिडिल तक होकर कुछ काल तक के लिए स्थगित हो गई थी। बचपन में ही इनके पिता श्री रामाज्ञा पाण्डेय स्वर्गवासी हो गए थे। बाद में श्यामनारायण जी ने काशी के संस्कृत-महाविद्यालय में साहित्याचार्य तक शिक्षा ग्रहण की और काशी में ही माधव संस्कृत विद्यालय में प्रधानाध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। आजकल अपनी चल रही कविता कीर्ति को 'अचल' बनाकर (इन्होंने अपने भव्य भवन का नाम कविता रखा है।) डुमराँव में ही गृहस्थ जीवन बिता रहे हैं। कवि-सम्मेलनों के माध्यम से पाण्डेय जी ने विशेष ख्याति प्राप्त की है और साधारण पढ़े-लिखे ग्रामीण भी उन्हें और उनकी कविताओं को भलीभाँति जानते हैं। आज भी कोई कवि-सम्मेलन पाण्डेय जी के अभाव में अधूरा समझा जाता है। स्कूल-

कालेज की अन्त्याक्षरी प्रतियोगिताओं से लेकर सामाजिक एवं राष्ट्रीय सभाओं तक में पाण्डेय जी की वीर रस पूर्ण कविताओं का एक छत्र राज्य रहा है। जिन लोगों ने उन्हें वीरासन में बैठकर 'हल्दी घाटी' और 'जौहर' की पंक्तियों को ललकारते हुए सुना होगा वे वीर रस का नाम सुनते ही पाण्डेय जी की विशिष्ट भंगिमा की सहज मूर्ति का साक्षात्कार करने लग जाते होंगे।

तुमुल, रिमझिम, आरती, जय हनुमान, रूपान्तर (अनुवाद) हल्दीघाटी और जौहर इनकी अब तक की प्रकाशित रचनाएँ हैं। 'शिवाजी' नामक इनका एक और प्रबन्ध-काव्य प्रकाश में आया है। 'हल्दीघाटी' पर पाण्डेय जी को दो हजार रुपए का प्रसिद्ध देव पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। भारत-चीन-युद्ध के समय की लिखी इनकी ओजपूर्ण कविताओं की भी विशेष चर्चा हुई है। मुक्तकों और प्रगीतों के इस युग में पाण्डेय जी एक सशक्त प्रबन्धकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। राष्ट्रीय काव्य-धारा की जो परम्परा 'चन्दवरदायी' और 'भूषण' के माध्यम से कभी प्रकट और कभी अप्रकट रूप में चली आ रही थी, श्यामनारायण जी पाण्डेय उसकी नवीनतम कड़ी हैं। भारतीय अतीत गौरव का रंग पाण्डेय जी पर इतना गहरा चढ़ा है कि वर्तमान दम-घुटनशील वातावरण में उनका दम घुटता है। वे हिमालय से कन्या कुमारी तक की भूमि पर विदेशी संस्कृति की छाया तक भी नहीं देखना चाहते। यही कारण है कि उन्होंने अपने प्रबन्ध अथवा महाकाव्यों के लिए ऐसे कथानायक चुने हैं जो उनकी सांस्कृतिक मान्यताओं की रक्षा करते हुए वर्तमान अपमानित भारतीय जीवन को गतिमान बना सकें। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तो उनके प्रबन्ध-काव्य जन-जन के गले के हार हो रहे थे और ऐसे सहृदय पाठकों की कमी नहीं थी कि जिन्हें उनकी पूरी 'हल्दीघाटी' और 'जौहर' रचनाएँ जबानी याद थीं। सर्वप्रथम पाण्डेय जी को ख्याति उनके 'हल्दीघाटी' काव्य के प्रकाशन से मिली। इसमें इतिहास प्रसिद्ध स्वाधीनता-प्रेमी एवं स्वाभिमानी वीर महाराणाप्रताप के शौर्य, साहस एवं उनकी देश भक्ति का मनोहारी वर्णन किया गया है। राणा के प्रतिद्वन्द्वी सम्राट् अकबर के वैभव का प्रभावशाली वर्णन महाराणा के महत्त्व को प्रतिष्ठापित करने के लिए प्रसंगानुकूल ही हुआ है। मानसिंह आदि शत्रुपक्ष के पात्रों द्वारा राणा की महत्ता को स्वीकार करना अपने आप में एक बहुत बड़ी बात है जो कवि की कल्पना प्रवण प्रतिभा का परिचायक है। सत्रह सर्गों के इस विशाल महाकाव्य में अनेक ऐसे मार्मिक स्थल आए हैं जिनमें पराधीनता के प्रति घृणा, स्वाधीनता के महत्त्व, मातृभूमि के प्रति अनुराग तथा देश-भक्ति के भाव व्यक्त हैं।

देशवासियों ने लम्बी पराधीनता के कारण जो अपना स्वाभाविक आत्मविश्वास खो दिया था उसे उत्पन्न करने का प्रयत्न राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्णधार नेताओं ने

किया, जिसमे इस युग के राष्ट्रीय कवि भी पीछे नही रहे। 'हल्दीघाटी' के आरम्भ में ही पाण्डेय जी उद्घोष करते हैं कि—

"ले महाशक्ति से शक्ति भीख,
व्रत रख वनदेवी रानी का;
निर्भय होकर लिखता हूँ मैं,
ले आशीर्वाद भवानी का।"

इसमें सन्देह नही कि शतियो की सोई हुई तरुणाई जाग उठी थी और राष्ट्रीय चेतना की ऐसी लहर देश मे उठी थी कि कोई भी देशवासी इससे अछूता नही रहा। चाहे वह महलो में रहता रहा हो अथवा झोपडो या जंगलो मे। सबके हृदय मे ब्रिटिश शासन को उखाड फेंकने की आग जल उठी थी। 'हल्दीघाटी' के नायक मेवाड़ केशरी महाराणा प्रताप के नेतृत्व मे उनकी समस्त प्रजा यहाँ तक कि जंगल मे रहने वाले या यायवर भील भी अकबरी साम्राज्य विस्तार को नकार देने के लिए उठ खड़े हुए। युद्ध में पराजित होने पर भी जिस प्रकार के अपराजित मनोबल के साथ जंगलों में रहकर, घास की रोटी खाकर 'राणाप्रताप' ने स्वाधीनता की ज्योति बुझने नही दी और चित्तौड़ को छोड़कर अपनी सभी भूमि को पुनः मुक्त कर लिया, क्या उससे देश मे चल रहे क्रातिकारी आन्दोलन को प्रेरणा नही मिली। नेताजी सुभाष चन्द का ऐतिहासिक प्रवास और स्वाधीनता युद्ध क्या उक्त आदर्श की श्रृंखला मे नहीं है। पाण्डेय जी ने देश की सामयिक चेतना को पहचाना है और अतीत को उसके सन्दर्भ मे चित्रित किया है। मनुष्यो की तो बात ही छोड़ दीजिए 'चेतक' जो कि राणाप्रताप का ऐतिहासिक अश्व था, उसकी स्वामिभक्ति एवं साहसपूर्ण वीरता का वर्णन करके पाण्डेय जी ने देश के सामने एक आदर्श रखा है। अश्वो की स्वामिभक्ति तो सर्वविदित है, पर पाण्डेय जी का 'चेतक' तो निराला ही है—

'रण बीच चौकड़ी भर-भर कर
चेतक बन गया निराला था;
राणा प्रताप के घोडे से
पड़ गया हवा को पाला था।
जो तनिक हवा से बाग हिली,
लेकर सवार उड़ जाता था;
राणा की पुतली फिरी नहीं,
तब तक चेतक मुड़ जाता था।

हय यहीं रहा, अब यहाँ नहीं,
हय वहीं रहा अब वहाँ नहीं;
थी जगह न कोई जहाँ नहीं,
किस अरि मस्तक पर कहाँ नहीं ?"

'चेतक' तो फिर भी चेतन था उनकी जड़ तलवार भी कहर ढाती फिरती थी—

वैरीदल की ललकार गिरी,
वह नागिन सी फुफकार गिरी,
था शोर मौत से बचो, बचो,
तलवार गिरी, तलवार गिरी।

इस प्रकार पाण्डेय जी की यह लोकप्रिय रचना, भाषा, भाव एवं रचना कौशल की दृष्टि से भले ही प्रथम कोटि की साहित्यिक कृति न कही जा सके पर जिस संकल्प को लेकर कवि ने इसकी सृष्टि की है, उसमें उसे आशा से अधिक सफलता मिली है।

'जौहर' श्यामनारायण जी का दूसरा प्रबन्ध काव्य है जो महारानी पद्मिनी के ऐतिहासिक जौहर के कथानक पर रचा गया है। अलाउद्दीन की नृशंसता और अपने ही बीच पलने वाले गृह शत्रुओं के कारण जैसा भयंकर दृश्य उपस्थित हुआ, उससे इतिहास की आत्मा काँप जाती है। चित्तौड़ के श्मशान की राख जिसमें 'पद्मिनी' ने अन्य सुन्दरियों एवं रानियों के साथ जीते जी अग्नि कुण्ड में जलकर 'जौहर' किया भले ही बुझ गई हो पर इस प्रबन्ध काव्य के रूप में वह अभी भी ठण्डी नहीं हुई है और उसे पढ़ कर पाठक का रक्त अब भी खौल उठता है। यह प्रबन्ध काव्य अपेक्षा कृत अधिक कलात्मक है। इसमें कवि पुजारी के रूप में स्वयं ऐतिहासिक तीर्थस्थल की यात्रा करता है और माँ के आदेश से पद्मिनी की गाथा को काव्य बद्ध करता है। इसमें कहानी कहने का ढंग पाण्डेय जी का बहुत अच्छा है, उत्सुकता बराबर बनी रहती है। भाषा, भाव एवं रचना कौशल सभी दृष्टियों से यह काव्य अच्छा बन पड़ा है। राजनीतिक दाँव पेंचों का भी इसमें अच्छा समावेश है। यह प्रबन्ध काव्य इक्कीस सर्गों में समाप्त हुआ है। इसमें वर्णित व्यापक वेदना पाठक को बराबर रुलाती रहती है। गोरा-बादल का युद्ध और डोले की तैयारी इसके अत्यन्त लोकप्रिय स्थल हैं। अन्त तो कारुणिक है ही—

'जल गई रानी रूई सी,
स्मृति सुई सी गड़ रही है,

की मार्मिक व्यथा लिए पाठक अतीत की वेदना में खो जाता है।

पण्डित श्यामनारायण जी पाण्डेय को यदि आधुनिक युग का 'भूषण' कहा जाय तो अनुचित न होगा। इनकी काव्यात्मक प्रतिभा मूलतः प्रबन्धात्मक है जैसा कि इनके दो श्रेष्ठ प्रबन्ध काव्य 'हल्दीघाटी' और 'जौहर' को देखने से जान पड़ता है। इनकी आरम्भिक रचना 'तुमुल' भी प्रबन्ध काव्य की कोटि में आती है। इसमें लक्ष्मण और मेघनाद का युद्ध वर्णित है। वीर शिरोमणि शिवाजी को केन्द्र मे रखकर जो प्रबन्ध काव्य पाण्डेय जी ने लिखा है, वह अभी मुझे देखने को तो नहीं मिला है, पर मैंने उसके अनेक सुन्दर स्थल कवि सम्मेलनों मे पाण्डेय जी के मुख से सुने हैं। निश्चित ही यह वीर रस-प्रधान एक सफल काव्य होगा। जिस परिवेश में कवि ने शिवाजी को प्रस्तुत किया है उससे निश्चित रूप से वर्तमान पीढ़ी को प्रेरणा मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। अपनी अन्य रचनाओं मे भी जिनमे स्फुट लम्बी कविताएँ संकलित है, पाण्डेय जी ने अपने को एक रससिद्ध कवि के रूप मे प्रस्तुत किया है। 'परशुराम' की कुछ विचित्र मुद्राओं का जैसा अंकन मुझे उनकी एक रचना मे देखने को मिला वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यौवन के ढलाव पर पहुँच कर पाण्डेय जी के कवि ने कुछ लोरियाँ लिखी है जिन्हें सुनकर सहृदय रसविभोर हुए बिना नहीं रह सकता—

जागो जागो रे कन्हइया,
मैं बलइया लूँगी ना,

जैसी पंक्तियाँ कानों मे गूँजती रहती हैं और इससे स्पष्ट हो जाता है कि पाण्डेय जी में वीर-रस के अतिरिक्त अन्य रसों मे भी रचना करने की पूर्ण क्षमता है। 'जय हनुमान' की रचना यद्यपि बच्चों को दृष्टिपथ में रखकर हुई है, फिर भी इससे पाण्डेय जी के काव्यक्षितिज का एक और पक्ष सामने आता ही है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' (जन्म ३० सितम्बर सन् १६०८ ई०)

बिहार प्रान्त में मुँगेर जिले के सिमरिया नामक गाँव मे कविवर 'दिनकर' का जन्म एक किसान परिवार मे हुआ था। इन्हे दो वर्ष का ही छोड़कर इनके पिताजी स्वर्गवासी हो गए। प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में ही हुई पर सन् १६३२ ई० में इन्होंने पटना विश्वविद्यालय से बी० ए० आनर्स किया। एक हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक के रूप मे कार्य आरम्भ कर दिनकर जी क्रमशः बिहार सरकार के सब-रजिस्ट्रार, युद्ध-प्रचार-विभाग के उपनिर्देशक, पोस्ट-ग्रेजुएट कालेज मुजफ्फरपुर के हिन्दी-विभागाध्यक्ष, भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति तथा भारत-सरकार के शिक्षा-सलाहकार जैसे सम्मानित पदो तक बढ़ते रहे है। इसके अतिरिक्त राज्यसभा के सदस्य, भारत सरकार की अनेक समितियों के सदस्य तथा कई सद्भावना मण्डलों के सदस्य के रूप

में दिनकर जी ने देश-विदेश में जाकर राष्ट्र की सेवा की है और परिणामस्वरूप भारत सरकार ने इन्हें 'पद्मभूषण' की राष्ट्रीय उपाधि से सम्मानित किया है। इनकी प्रतिभा बहुमुखी है; इतिहास, दर्शन, संस्कृति तथा आलोचना में समान रूप से गतिशील हैं।

रचनाएँ—रेणुका, हुंकार, रसवन्ती, द्वन्द्वगीत, सामधेनी, बापू, इतिहास के आँसू, धूप और धुआँ, दिल्ली, नीम के पत्ते, नील कुसुम, चक्रवाल, सीपी और शंख, नए सुभाषित आदि काव्य-संग्रह हैं। प्रणभंग तथा रश्मिरथी खण्ड-काव्य हैं। इन्होंने कुरुक्षेत्र तथा उर्वशी जैसे महाकाव्यों की रचना भी की है। काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके गद्य-ग्रन्थ—'मिट्टी की ओर', 'अर्धनारीश्वर', 'रेती के फूल' तथा 'संस्कृत के चार अध्याय' भी समादृत हुए हैं। दिनकर का कवित्व उनकी काव्य-रचनाओं में क्रमशः प्रौढ़ होता गया है। इनकी आरम्भिक रचनाओं में 'युग की पुकार' स्पष्ट दिखलायी पड़ती है। दिनकर जी अपनी इन रचनाओं के माध्यम से देश के सुनहले अतीत की गौरव-गाथाओं को चित्रित करते हुए वर्तमान पतनोन्मुख परिस्थितियों के कारण क्षुब्ध भी दिखायी पड़ते हैं। उनकी रेणुका और हुंकार नामक रचनाओं में *मानसिक विक्षोभ का मूल स्वर ही प्रस्फुटित हुआ दिखायी देता है।* विदेशी शासकों की निरंकुश दमननीति की प्रतिक्रिया के कारण इनका दृष्टिकोण निराशावादी न बनकर अमर्ष का उभाड़ लिये हुए राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में हमारे सामने आया। अपनी इन दोनों रचनाओं में इन्होंने रुद्र-भवानी तथा शहीद हुए वीरों के गीत गाने के बहाने अत्याचारियों के विरुद्ध विरोधाग्नि को भड़काया है। ओज इनके काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता है जो राष्ट्रीय-चेतना से युक्त होने के कारण स्तुत्य बन गया है और इसका पर्यवसान गाँधीवादी दर्शन में होता है। बर्फ के नीचे प्रवाहित होनेवाले तरल जल की भाँति 'दिनकर' जी के ओजस्वी व्यक्तित्व में उनका कोमल हृदय भी है। प्रेम और शृंगार की सरस अनुभूतियों का बीज 'रसवन्ती' में अंकुरित होकर पल्लवित हुआ है और वही अपने चरम उत्कर्ष के साथ 'उर्वशी' में पुष्पित और फलित भी हुआ है। *'रसवंती' में यौवन है, सौंदर्य है, साथ ही मानवीय संवेगों* को आन्दोलित करनेवाले विरह के गीत भी हैं। प्रेम और शृंगार की लौकिक अभिव्यक्ति को उन्होंने आध्यात्मिक स्वरूप भी प्रदान किया है—

पहुँच श्रगेय-गेय संगम पर, सुनूँ मधुर वह राग निरामय।
फूट रहा जो सत्य सनातन, कविर्मनीषी के स्वर स्वर से।

'सामधेनी' यदि राष्ट्रीयता की परिधि के बाहर अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदार भावना का स्पर्श करती है तो 'नील कुसुम' में कवि की दृष्टि प्रयोगशील बन गयी है। 'रश्मिरथी' और 'कुरुक्षेत्र' इन दो प्रबन्ध काव्यों का

कथानक महाभारत पर आधृत है। 'रश्मिरथी' में दानवीर कर्ण का चरित्र साकार हो उठा है। कुरुक्षेत्र महाकाव्य है जिसमे युधिष्ठिर और भीष्म के संवाद के बहाने कवि युद्ध और शांति की समस्या का समाधान ढूँढता हुआ दिखाई पड़ता है। कवि की दृष्टि मे धर्म और न्याय की रक्षा के लिए युद्ध अनिवार्य है। इस ग्रन्थ मे कवि का समाजवादी स्वर भी प्रस्फुटित हुआ है। समाज के निम्न वर्ग का शोषण करनेवाली पूँजीवादी व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देने की स्पष्ट ललकार सुनायी पड़ती है। वट वृक्ष की भाँति फैले हुए पूँजीपति अपने नीचे निम्न वर्ग को पनपने का अवसर ही नही देते हैं, उनके जीवन-रस का शोषण करके स्वयं अपना पोषण करते है। अतः विशाल वट वृक्ष की छाया मे उगनेवाले अनेक छोटे पौधो के विकास के लिए यह आवश्यक है कि वट वृक्ष की डालियो को कतर दिया जाय। 'कुरुक्षेत्र' का छठाँ सर्ग प्रबंध के बीच विश्राम स्थल की भाँति स्वतन्त्र सर्ग है। इस सर्ग मे मानव ही कवि का चिन्त्य विषय है। आज मनुष्य ने ऐसी वैज्ञानिक उन्नति कर ली है कि सारा आकाश उसकी मुट्ठी मे है, प्रकृति उसकी दासी बन गयी है तथा ग्रह नक्षत्रों से वह बात करने जा रहा है। मौलिक दृष्टि से इतना अधिक सम्पन्न हो जाने के बाद भी उसकी पाशववृत्ति, बर्बरता एवं क्रूरता आदि उसके आदिम संस्कारो के प्रतीक है। उसने अपनी बुद्धि का विकास तो किया है पर उसका हृदय बहुत पीछे छूटकर रह गया है। इस सृष्टि के शृंगार मानव का इतना अधःपतन !

"यह मनुज, जो सृष्टि का शृंगार,
ज्ञान का, विज्ञान का, आलोक का आगार;
वह अभी पशु है, निरा पशु, हिंस्र, रक्त पिपासु;
बुद्धि उसकी दानवी है स्थूल की जिज्ञासु।"

आज वह अपनी वैज्ञानिक उन्नति के द्वारा अर्जित शक्ति का दुरुपयोग कर रहा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उसने हृदय और बुद्धि का संतुलन खो दिया है, दोनो का समन्वय आवश्यक है। 'उर्वशी' मे पौराणिक आख्यान का आश्रय ग्रहण किया गया है जिसमे 'पुरुरवा' और 'उर्वशी' की प्रणय गाथा वर्णित है। प्रेम और सौन्दर्य की सशक्त अनुभूतियो की दृष्टि से यह ग्रंथ अद्वितीय है। सौन्दर्य के अनेक बिम्ब-ग्राही एवं नयनाभिराम चित्र उरेहे गये है जो कवि की कोमल भावनाओ के परिचायक हैं।

राष्ट्रीय चेतना ही दिनकर के काव्य का मूल स्वर है। भारत के गौरवपूर्ण अतीत और संस्कृत के उन्नायक दिनकर जी के ओजस्वी उद्गार पतनोन्मुख समाज के उद्धार तथा सोयी हुई राष्ट्रीय चेतना को जगाने में अत्यन्त सक्षम हैं। इस दृष्टि से इनकी 'हिमालय' कविता अत्यन्त ओजस्वी है—

"कह दे शंकर से आज करें,
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूँज उठे,
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार।

× × ×

तू मौन त्याग कर सिंहनाद,
रे तपी! आज तप का न काल!
नव-युग शंखध्वनि जगा रही,
तू जाग, जाग, मेरे विशाल।"

'बुद्धदेव', 'कलातीर्थ' तथा 'कलिंगविजय' आदि कविताएँ भी सांस्कृतिक संदेश का उद्घोष करती हैं। गांधी जी के अहिंसावादी संदेश का प्रभाव इन पर उतना नहीं पड़ सका जितना सुभाषचन्द्र बोस के ओजस्वी व्यक्तित्व का। इनका विश्वास है राष्ट्रोद्धार के लिए बल, पौरुष और तलवार की शक्ति आवश्यक है; गांधी जी का अहिंसात्मक दृष्टिकोण इसमें उतना सहायक नहीं हो सकता। यही कारण है कि राष्ट्र की बुझती हुई शिखा को इन्होंने अपनी वीर रस की कविताओं के माध्यम से जीवन प्रदान किया है। 'अंगार की भीख' नामक कविता से कुछ पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

"दाता! पुकार मेरी, संदीप्ति को जिला दे।
बुझती हुई शिखा को संजीवनी पिला दे।
प्यारे स्वदेश के हित अँगार माँगता हूँ।
चढ़ती जवानियों का शृंगार माँगता हूँ॥"

देश के ऊपर जो युद्ध के बादल मँडरा रहे हैं और हमारे पौरुष को चुनौती दे रहे हैं; हमें उसे स्वीकार ही करना है। शान्तिपूर्ण ढंग से फूँक-फूँक कर पैर रखने से उसका समाधान नहीं किया जा सकता। इसका एकमात्र समाधान क्रांति है, शान्ति नहीं। इसीलिए दिनकर जी क्रान्ति के गायक हैं। 'अनलकिरीट' की निम्न पंक्तियाँ इसकी पुष्टि करती हैं—

"धरकर चरण विजित शृंगों पर, झंडा वहीं उड़ाते हैं।
अपनी ही उँगली पर जो, खंजर की जंग छुड़ाते हैं।
पड़ी समय से होड़, खींच मत तलवों से काँटे रुककर।
फूँक-फूँक चलती न जवानी, चोटों से बचकर, झुक कर।

नींद कहीं उनकी आँखों में जो धुन के मतवाले हैं ?
गति की तृषा और बढ़ती, पड़ते पद में जब छाले हैं।
जागरूक की जय निश्चित है, हार चुके सोने वाले,
लेना अनल किरीट भाल पर, ओ आशिक होनेवाले ॥"

'दिनकरजी' की सबसे बड़ी विशेषता रही है वह यह कि वे परिवर्तित राष्ट्रीय चेतना के अनुरूप अपने काव्य को ढालते रहे है। भारत पर हुए चीनी आक्रमण और उससे उत्पन्न परिस्थितियों के मूल में जिन राजनेताओं की भूलें और नीतियाँ सहायक हुई है उनकी उन्होंने अच्छी खबर अपने काव्य 'परशुराम की प्रतीक्षा' में ली है। यदि वे राजनेताओं एवं उनकी नीतियों का समर्थन कर सकते हैं तो त्रुटियों के लिए उनकी भर्त्सना भी। इस प्रकार दिनकर जी ने अपने को युग के अनुरूप बराबर बनाए रखा है। आधुनिक युग के कवियों में प्रबन्धात्मक शक्ति का जितना सुन्दर विकास 'दिनकर' जी में हुआ है उतना कम ही कवियों में हो पाया है। वे राष्ट्रीय चेतना के गायक युग-चारण कवि हैं। इनकी कविताओं में इनकी भाषा का शुद्ध परिमार्जित प्रवाह युक्त ओज एवं माधुर्य पूर्ण स्वरूप देखने को मिलता है। भावों के अनुरूप ओजस्विनी भाषा लिखने में 'दिनकर जी' सिद्ध हस्त है।

छायावाद

पूर्वपीठिका

आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्दर नवीन विचारधाराओं की दिशा में जितने भी विकास हुए हैं उन पर यदि पाश्चात्य साहित्य का पूर्णरूपेण प्रभाव नहीं है तो उनके विकास में उसका महत्वपूर्ण योग अवश्य है। **भारत में अंग्रेजों के राज्य के कारण *देश की राष्ट्रीयता तथा संस्कृति को जितनी क्षति पहुँची है, उससे कम वह उसके* माध्यम से नवीन सभ्यता के वरदान विज्ञान के निकट आकर लाभान्वित नहीं हुआ है।** विदेशी सत्ता यदि एक ओर भारत के लिए अभिशाप रही है तो दूसरी ओर वह अवश्य ही वरदान सिद्ध हुई है। अनजाने अंग्रेजों ने बहुत से ऐसे कार्य कर डाले जिनके कारण पददलित भारतीय जनता में जागरण लाने का महत्त्व कार्य अपने आप हो गया। भारत में शिक्षित मध्य वर्ग के उदय का कारण अंग्रेजी राज्य की सत्ता ही है। अंग्रेजी राज्य को दृढ़ करने एवं आफिसों में कार्य करने वाले बाबुओं को तैयार करने वाले स्कूल और कालेजों ने भारतीयों को पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में लाया जिसमें उनकी आँखों के सामने फ्रांस की राज्य क्रान्ति तथा इंगलैण्ड का नवीन जागरण-युग अत्यन्त स्पष्ट होकर नाचने लगा। लोगों ने स्वतंत्र जाति के साहित्य का अध्ययन किया। वर्ड्स्वर्थ जैसे स्वतन्त्रता-प्रेमी स्वच्छन्दतावादी कवियों की रचनाएँ

पढ़ी जिससे उन्हें अपनी हीनता का ज्ञान धीरे-धीरे होने लगा। भारत का यह मध्य-वर्ग सबसे अधिक चिन्त्य वर्ग है, किन्तु किसी भी देश का कोई भी आन्दोलन चलाने का श्रेय इसी वर्ग को होता है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद देश में जिस नई स्थिति का आगमन हुआ और अंग्रेजी शिक्षा की व्यवस्था के कारण देश में जितने भी शिक्षित निकले उनमें अधिकांश संख्या इसी मध्यवर्ग की थी। उसने एक विचित्र परिस्थिति का अनुभव किया। सबसे पहले इसी वर्ग ने पश्चिम के नवीन प्रकाश को ग्रहण किया और तत्पश्चात् इसके माध्यम से आलोक की यह किरण भारतीय साहित्य के प्रांगण में जागरण की ज्योति जगाने लगी।

हिन्दी साहित्य में स्वतंत्र भावना के विकास का प्रारम्भ सन् १८७० ई० के आस पास हुआ। इस परिवर्तन की प्रक्रिया को क्रमिक विकास की दृष्टि से तीन चरणों में विभाजित किया जा सकता है। (१) इसका प्रारम्भ भारतेन्दु काल में हुआ। (२) इसके विकास में पं० श्रीधर पाठक ने महान् योग दिया। (३) महावीर प्रसाद द्विवेदी तक आते-आते इसका व्यापक प्रसार हो गया।

भारतेंदुकालीन कविता में ही जन-जागरण का क्षीण निःश्वास प्रश्वास सुनाई देने लगा था परन्तु उस युग का कवि समाज की दीन दशा पर केवल क्षुब्ध था। करुणा के आँसू गिराता तथा आर्त्तवाणी में अपनी असमर्थता प्रकट करता था। उसके अन्दर वह स्वर व साहस नहीं आ सका था कि वह अपनी तत्कालीन जकड़ने वाली शृंखलाओं को तोड़कर समाज को मुक्त करने का सन्देश देता।

इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक हिन्दी साहित्य को सर्वप्रथम मार्ग भारतेन्दु जी ने ही दिखाया। **यदि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को नव-जागरण का प्रधान पोषक मान लें, तो भारतेन्दु जी अवश्य ही उसके जन्मदाता थे।** काव्य क्षेत्र में द्विवेदी जी ने ही आधुनिक कविता के स्वरूप को प्रतिष्ठित किया। इन्होंने जिस साहित्य को प्रेरणा प्रदान की है वह उपदेश गर्भित तथा सुधारवादी था। भारतेन्दु जी ने जनता को उसकी दुर्बलताओं एवं विशेषताओं से परिचित कराया; जिससे उसने संगठन के जर्जर बन्धन एवं रूढ़िगत विवशताओं को भलीभाँति पहचाना। इसमें लोक-कल्याण एवं सुधारवादी भावनाओं का स्वर प्रधान होने लग गया था। इसके साथ-साथ राष्ट्रीयता के भाव की प्रबल भूमिका तैयार होती जा रही थी। जनता के अन्दर अन्धरूढ़ियों एवं मिथ्या विश्वासों के प्रति विरोधी उग्र भाव उत्पन्न होने लग गये थे जिससे उसमें अनास्था के भाव जागते जा रहे थे। इस युग में प्राचीन गौरव की दुहाई अवश्य थी किन्तु सबके मूल में वर्तमान की दम घुटा देने वाली प्रस्तुत व्यवस्था का तिरस्कार था। रीतिकालीन शृंगार के विरुद्ध उठी हुई तिरस्कार की भावना ने साहित्यिकों के चेतन मन को इस प्रकार आच्छन्न कर लिया था कि वे [illegible] ध्यान आते ही सहम उठते थे।

इसी समय राष्ट्रीयता एवं समाजसुधार की भावना से प्रेरित होकर देश के अन्दर अनेक समाज-सुधारक संस्थाएँ स्पर्धा के साथ प्रचार-कार्य कर रही थी, जिनमे बंगदेश सबसे आगे था। इसका मुख्य कारण यही था कि देश के अन्य भागो की अपेक्षा वह अग्रेजो और उनकी सभ्यता के सम्पर्क में सबसे पहले आया। अंग्रेजो के सम्पर्क में आने के पश्चात् हिन्दू-समाज के पढे लिखे लोगो ने उन समस्त नाना कुरीतियों और बुराइयों को पहचाना जो दीर्घ काल से समाज की जड़ें काट रही थी। हमे लम्बी निद्रा से जगाने का श्रेय भी अंग्रेजों को ही है। उनके नाना ज्ञान-विज्ञानों से ही हमे विवेक-बुद्धि का ऐसा आलोक मिल सका जिसके द्वारा हम अपनी वास्तविक स्थिति की परीक्षा करते हुए अपनी दुर्बलताओं मे पूर्णतया परिचय प्राप्त कर सके और उनके सुधार मे तत्पर हुए। वस्तुतः पाश्चात्य वैज्ञानिक बुद्धिवाद का ही यह फल था कि हम लोगो का विवेक इतना सजग हो पाया जिसके कारण अज्ञानान्धकार के स्थान पर समाज-सुधार की भावना प्रबल हुई। १९वीं शदी में विज्ञान ने मानव-जीवन मे ही नहीं, बल्कि प्रकृति के नाना क्षेत्रों मे क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया। जितनी भी प्राचीन मान्यताएँ रूढि के बल पर टिकी थी उन पर से लोगो का विश्वास डिगने लगा और मानव समाज ऐसे स्थल पर आकर खड़ा हो गया जहाँ से वह किसी भी वस्तु को केवल इसीलिए मानने को तैयार नही था कि वह उसके लिए मान्य और अनुकरणीय है, क्योकि प्राचीन परम्परा द्वारा उसे मान्यता प्राप्त है। किसी वस्तु को प्राप्त करने के बाद मानव समाज उसकी उपयोगिताओ की ओर देखने लगा। यहाँ आकर जीवन के पुराने नियमो आदर्शों मे आमूल परिवर्तन ही नहीं हुए, बल्कि उसके प्रतिकूल प्रति-क्रियात्मक उग्र भाव भी व्यक्त हुए; जिससे समस्त रूढियो और अन्ध-परम्पराओं का जीवन के सभी क्षेत्र मे तिरस्कार किया गया। वह चाहे साहित्य हो अथवा सामाजिक व्यवस्था।

यह ऐसा काल था जबकि देश के अन्दर राष्ट्रीय लहर एक छोर मे दूसरे छोर तक प्रवाहित हो रही थी। समाज के प्रत्येक क्षेत्र मे सुधारवादी आन्दोलन चलाने की चेष्टा की जा रही थी। सुधार का विरोध होना नितात आवश्यक था; क्योकि रूढिवादी या परम्परावादी किसी नवीनता का, चाहे वह आवश्यक हो या अनावश्यक, स्वागत नही कर सकता। साथ ही उसके लिए वास्तववादी और आदर्शवादी होना भी आवश्यक है। समाज-सुधार के साथ देश के सामने जो सबसे बडी समस्या थी, वह थी स्वतंत्रता की प्राप्ति। जब सारे देश के अन्दर परतंत्रता की बेड़ी को तोडकर स्वतंत्रता के मुक्त आकाश में श्वास लेने की बात चल रही हो ऐसी स्थिति में उस देश का कवि, जो युग और समाज का स्रष्टा एव द्रष्टा है, यदि परिस्थिति से मुख मोड़कर प्रेम और विरह के गान गाये, अथवा नायिका को भाव-भगिमाओ में खोकर

'कला कला के लिए' के सिद्धान्त को अपना कर अश्लील एवं कुरुचिपूर्ण साहित्य की सृष्टि करे तो असंभव ही नहीं, साहित्य और समाज के लिए अभिशाप भी है। कोई भी साहित्य अधिक दिनों तक सामाजिक भावनाओं की उपेक्षा करके जी नहीं सकता, साहित्य से समाज और समाज से साहित्य के प्रभावित होने का शाश्वत क्रम सृष्टि की ऐतिहासिक चिरन्तन प्रवहमान धारा है, इसलिए तत्कालीन कवि के लिए यह आवश्यक था कि समाज के अन्दर जो रूढ़ियों के विरुद्ध आन्दोलन की प्रबल माँग बढ़ रही थी उसके साथ वह अपना कण्ठ स्वर मिलाता।

राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व जब महात्मा गांधी के हाथ में आया उनके पूर्व ही साहित्य का सामाजिक तथा राष्ट्रीय मूल्य तो आंका जा चुका था किन्तु एक व्यवस्थित क्रान्ति का रूप तो वह जन-आन्दोलन गांधी के प्रवेश से ही पा सका। काव्य की यह सामाजिक तथा राष्ट्रीय मूल्य-सापेक्ष धारा अपने स्वाभाविक वेग से आगे प्रवाहित नहीं हो पायी क्योंकि बीच में ही पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से प्रभावित साहित्यिक युग-धारा व्यवधान के रूप में आकर उपस्थित हो गयी। द्विवेदी युगीन काव्यधारा का उदय रीतिकालीन शृंगारिकता के विरुद्ध काव्य को सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने के लिए हुआ था। भारतेन्दु कालीन कवियों ने भी इस आवश्यकता का अनुभव किया था और उन्होंने काव्य की धारा को नये-नये विषयों की ओर मोड़ने की चेष्टा की थी पर उन्हें सफलता इसलिए नहीं मिल सकी थी कि वे प्रेम-प्रसंगों से न तो अपने काव्य को ऊपर उठा सके और न तो प्रचलित ब्रजभाषा का ही वे त्याग कर पाये। काव्य की अपेक्षा गद्य के क्षेत्र में इस दिशा में किए गए भारतेन्दु मण्डल के लेखकों के कार्य अधिक सराहनीय हैं। काव्य के लोकमंगलकारी स्वरूप की पहचान आधुनिक काल में सर्वप्रथम द्विवेदी युग के कवियों ने की। पर वास्तविक युग-चेतना को सही रूप में प्रकट पाना इनके लिए इसलिए कठिन हो गया कि ये परंपरित आदर्शों, सुधारवादी वृत्तियों एवं सहज धार्मिक आदर्शों से अपने को मुक्त नहीं कर पाये। साथ ही महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा काव्य-सिद्धान्त की इतिवृत्तात्मकता जन्य रूढ़ियों के ये स्वयं शिकार हुए। द्विवेदी जी ने अपनी अधिकाधिक शक्ति परिष्कार में ही व्यय की यद्यपि उनके शिष्यों द्वारा जो काव्य की धारा निकली उसके मूल में युगीन परिस्थितियों के संकेत दिखायी पड़ते हैं। पर ये संकेत काव्य की मूल चेतना के रूप में प्रकट नहीं हो पाये। मैथिलीशरण गुप्त तथा रामचरित उपाध्याय आदि कवियों ने धार्मिक तथा सामाजिक परपराओं को पोषित करने के लक्ष्य से जो काव्य-रचना की उन्हें छोड़कर जितनी रचनाएँ राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर की गई हैं उनके अन्दर महत्वाकांक्षा तथा स्वर्णयुग के निर्माण की प्रबल कामना निहित है। यही कामना तथा वर्तमान परिस्थितियों को बदल देने की भावना ही स्वच्छन्दतावादी अथवा छायावादी साहित्य की मूल प्रेरणा है। यह साहित्यिक आन्दोलन मूलतः स्वच्छन्दता-

वादी आन्दोलन ही था जो परंपरित रूढ़ियों के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था, जिसकी शैलीगत विशेषताओं को लक्ष्य करके विद्वानों ने इसे छायावाद के नाम से अभिहित किया।

इस प्रकार हम देखते है कि यह विचारधारा एक शास्त्रीय रूप मे तो नही, किन्तु आंशिक रूप मे द्विवेदी युगीन साहित्यकारो को भी प्रभावित कर रही थी। इसी युग मे प्रसाद जी जैसी प्रतिभाएँ विद्यमान थी जिन्होने एक अलग शैली का निर्माण किया जिसे बाद में छायावाद का नाम दिया गया।

स्वरूप

लोक प्रचलित भावो तथा शब्दों के वैभिन्य के कारण 'रहस्यवाद', 'छायावाद' तथा 'स्वच्छन्दतावाद' का नाम पर्याय रूप मे न लेकर थोड़े अन्तर के साथ दिया जाता है। यद्यपि उन्हें यदि एक धारा के रूप मे देखा जाय तो नितात एक रूपता दिखाई पड़ेगी। इन तीनो शब्दो की यद्यपि साहित्यिक प्रेरणा एक है, फिर भी नाम भेद के कारण आये हुए अन्तर के मूल मे कौन सी वस्तु है, इसको जानने के लिए इसके परिस्थितिजन्य विकास को जानना अति आवश्यक है। अंग्रेजी-साहित्य के पठन-पाठन का परिणाम यह हुआ कि इस युग के कवियो ने पाश्चात्य साहित्य की प्रवृत्तियो का भी प्रभाव अपने ढंग से ग्रहण करना आरम्भ कर दिया। अंग्रेजी-साहित्य मे 'रोमांटीसिज्म' नाम से एक अत्यन्त सशक्त आन्दोलन विशिष्ट काव्यधारा का स्वरूप ग्रहण कर चुका था। सन् १९३० ई० तक जाते-जाते अंग्रेजी-साहित्य के इसी 'रोमटीसिज्म' के लिए हिन्दी मे 'छायावाद' शब्द प्रयुक्त होने लगा। इस प्रसंग को लेकर विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है और उनमे ऐसे लोगो की कमी नही है जो छायावाद के इतिहास को पूर्ववर्ती साहित्य से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। पर अधिकांश विद्वान इसे पाश्चात्य-साहित्य के प्रभाव की देन मानते है जो बंगला साहित्य से छनकर हिन्दी मे आया। जिस 'रोमांटीसिज्म' के लिए हिन्दी मे छायावाद शब्द का प्रयोग हुआ वह नामकरण अत्यन्त भ्रामक है, क्योंकि वह नाम इसके समर्थको का नही बल्कि विरोधियो का दिया हुआ है जो इसे केवल आडम्बर तथा कुछ चुने चुनाए शब्दों का झूठा व्यापार मानते थे। यह प्रवृत्ति बंगला-साहित्य में हिन्दी-साहित्य से पहले आयी। इसकी छाया आगे चलकर हिन्दी साहित्य पर पडी। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की कविताओ मे कुछ कल्पना, रहस्य तथा छाया आदि की ऐसी स्पष्ट अभिव्यक्ति पायी जाती थी कि इसे लोगो ने तदनुकूल नाम से सम्बोधित करना आरम्भ कर दिया और वह छाया-वाद के नाम से एक विशिष्ट साहित्यिक विचारधारा बन गयी। इस शब्द के सम्बन्ध मे सभी विद्वान एक मत नही हो पाये है। कुछ विद्वानो का कथन है कि छायावाद आध्यात्मिक भूमि पर क्रीड़ा करता है जिससे रहस्यवाद के साथ इसका अभेद दिखायी

पड़ता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे चित्रभाषा शैली मानते रहे। छायावाद के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं। जो मत आध्यात्मिक व्याख्या का पक्षपाती है उसने छायावाद को रहस्यवाद का प्रथम सोपान माना है। छायावाद की परिभाषा करते समय डा० रामकुमार वर्मा का कहना है कि छायावाद वास्तव में हृदय की एक अनुभूति है। वह भौतिक संसार की क्रोड़ में प्रवेश कर अनंत जीवन के तत्व ग्रहण करता है और उसे हमारे वास्तविक जीवन से जोड़ कर हृदय में जीवन के प्रति एक गहरी संवेदना और आशावाद प्रदान करता है। कवि को ज्ञात होता है कि संसार में परिव्याप्त एक महान और दैवी सत्ता का प्रतिबिम्ब जीवन के प्रत्येक अंग पर पड़ रहा है और उसी की छाया में जीवन का पोषण हो रहा है। एक अनिर्वचनीय सत्ता कण-कण में समायी हुई है; फूल में उसी की हँसी, लहरों में उसी का बाहु-बंधन, तारों में उसका संकेत, भ्रमरों में उसका गुंजार और मुख में उसकी सौम्य हँसी छिपी हुई है। इस संसार में उस दैवी सत्ता का दिग्दर्शन कराने के कारण ही इस प्रकार की कविता को छायावाद की संज्ञा दी गयी। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार मानवीय दृष्टि से कवि की कल्पना, अनुभूति और चिन्तन के भीतर से निकली हुई, वैयक्तिक अनुभूतियों के आवेग की स्वतः समुच्छित अभिव्यक्ति—बिना किसी प्रयास के व बिना किसी प्रयत्न के स्वयं निकल पड़ा भावलोक—ही छायावादी कविता का प्राण है। इस प्रकार छायावादी साहित्य के अन्दर व्यक्ति के दैनिक जीवन को अत्यधिक महत्व दिया गया है। साहित्य में जग-जीवन की महत्ता एवं इस लोक में ही स्वर्ग प्राप्ति की कामना को बल सर्वप्रथम छायावादी कवियों द्वारा ही मिला, क्योंकि श्रेष्ठतर जीवन की कल्पना तथा परिस्थितियों के प्रति असन्तोष की भावना से प्रेरित होकर समस्त शास्त्रीय एवं सामाजिक बन्धनों के तिरस्कार का उद्घोष करने वाला साहित्य प्रस्तुत करने का कार्य हिन्दी कवियों द्वारा हुआ। यह भाव-धारा कवि की समवय तथा रुचियों के अनुसार रंग बदल कर आगे बढ़ती रही जिसे कहीं रहस्यवाद और कहीं छायावाद के नाम से पुकारा गया, किन्तु सबके मूल में प्राचीनता के ऊपर नवीनता का आरोप तथा वर्तमान के हीनतर बन्धनों से मुक्त होकर श्रेष्ठतर स्वच्छन्दता में विचरण करने के भाव विद्यमान हैं।

प्रसाद जी के स्वर में स्वर मिलाकर यदि हम कहें कि 'कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य-वर्णन से भिन्न वेदना के आधार पर जब स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तो हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया' तो स्पष्ट हो जाता है कि छायावादी काव्य की सृष्टि रीतिकालीन शृंगारिक कविताओं की प्रतिक्रिया स्वरूप हुई थी, किन्तु प्रमुख छायावादी कविताओं को देखने से लगता है कि यह प्रतिक्रिया शृंगारिकता के विरुद्ध नहीं हुई बल्कि रचना प्रक्रिया के विरुद्ध हुई। इस रचना प्रक्रिया के विरोध

करने का श्रेय एकमात्र छायावादी काव्यधारा को ही नहीं है, बल्कि महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से जो समसामयिक भावधारा को लेकर काव्य का आन्दोलन चला था उसको भी है। इन काव्यों में अश्लील शृंगार की उपेक्षा अवश्य की गई है; क्योंकि इन कविताओं में न तो नायिकाओं की शारीरिक नाप-जोख है और न तो वैयक्तिक मानसिक उहापोह ही। इसका मुख्य कारण यही है कि इस खेवे के कवियों ने तत्कालीन सामाजिक वातावरण, राजनीतिक जागरण तथा सुधारवादिता की आवश्यक मांगों से आँखें नहीं मूँदी है; बल्कि अपनी रचनाओं द्वारा समुचित सहयोग प्रदान किया है। किन्तु शृंगारिकता की शाश्वत भावनाओं को अनिश्चित काल तक दबाये रखना भी सम्भव नहीं था और न तो यही सम्भव था कि जब स्वतन्त्रता की वेदी पर बलिदान होने के लिए सपूतों का आह्वान किया जा रहा हो, देश के शीर्षस्थ नेता तथा सुधारक राष्ट्र एवं समाज को एक नवीन रूप प्रदान करने के लिए प्राणों की बाजी लगा रहे हों तथा सारे देश के अन्दर क्रान्ति की लहर व्याप्त हो रही हो, तो ऐसे युग का कवि कोने में बैठकर वैयक्तिक वासना से उद्भूत मानसिक वेदना की कसक और पीर की कहानी कहकर समाज के सामने मुँह दिखाता। किन्तु वह शृंगारी भावना कविताओं में अपना रंगरूप बदल कर नवीन श्रद्धा के साथ प्रकट हुई जिसमें रीतिकालीन नायक-नायिकाओं के स्थान पर कवि स्वयं प्रेमी बनकर मैदान में उतर पड़ा, वह दर्शक-मात्र नहीं रह गया। **ऐसी ही कविताओं को छायावाद का मूलाधार माना गया है जो वास्तव में वैयक्तिकता के आग्रह की अपेक्षा और कुछ नहीं है। इतना अवश्य है कि इनका विद्रोह सर्वोन्मुखी न होकर व्यक्तिवादी हो उठता है।** इस प्रकार यदि काव्य की स्वच्छन्दधारा के अंग विशेष का ही इनसे पोषण होता है तो उन्हें स्वजातीय होने से रोका नहीं जा सकता, बल्कि उन्हें विशेषज्ञ होने का-सा समादार मिलना आवश्यक है। यदि रीतिकाल का कवि नायक के माथे पर लगे हुए सिन्दूर और बिन्दी का वर्णन करके घोर शृंगारी कहा जा सकता है तथा पलकों में पान की पीक तथा होठों में काजल की कालिख का चित्रण करके अश्लील कहा जा सकता है तो क्या श्रम-सीकरों से सफेद चादर भिगो देने वाला कवि अश्लील नहीं है—

> थक जाती थी सुख रजनी
> मुख चन्द्र अंक में होता।
> श्रम सीकर सदृश्य नखत से
> अम्बर पट भींगा होता। —आँसू, जयशंकर प्रसाद

अन्तर केवल इतना ही है कि रीतिकालीन कवि को वह साहस नहीं मिला था जो कि छायावादी कवि को मिला है। रीतिकालीन कवि अपनी भावनाओं को व्यक्त

करने के लिए नायक-नायिकाओं का सहारा लेता था, किन्तु छायावादी कवि अपनी भावनाओं को खुल कर व्यक्त करने में जरा भी नहीं हिचकता। इसका एकमात्र कारण यही है कि छायावादी कवि वैयक्तिकता में आस्था रखता है। 'प्रसाद जी ने यद्यपि अपने काव्य में अनेक स्थलों पर रहस्यात्मकता का आश्रय लिया है परन्तु सिद्धान्ततः छायावाद को उन्होंने न रहस्यवाद से सम्बद्ध किया है, न प्रकृतिवाद से। बल्कि उनमें उनका व्यक्तित्व ही अधिक उभड़ा हुआ दिखाई पड़ता है। छायावाद की प्रारम्भिक कविताओं पर आध्यात्मिकता का पूरा-पूरा आवरण नहीं चढ़ पाया था जिससे उसकी भाव-भूमि को परखने में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को 'भ्रम' नहीं हुआ, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं। इस सन्दर्भ में उनका कहना है 'प्रणय वासना' का यह उद्गार आध्यात्मिकता के पर्दे में नहीं छिपा रह सका, हृदय की सारी कामवासना में इन्द्रियों के सुख-विलास की मधुर और रमणीय सामग्री के बीच एक बँधी हुई रूढ़ि पर व्यक्त होने लगी। इस प्रकार रहस्यवाद से सम्बन्ध न रखने वाली कविताएँ भी छायावाद ही कही जाने लगीं। अतः 'छायावाद' शब्द का प्रयोग रहस्यवाद तक ही न रहकर काव्य-शैली के सम्बन्ध में भी प्रतीकवाद के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा।... रीतिकाल की शृंगारिक कविता की भरमार की तो इतनी निन्दा की गई, पर वही शृंगारिक कविता कभी रहस्य का पर्दा डालकर, कभी खुले मैदान, अपनी कुछ अदा बदल कर फिर सारा काव्य-क्षेत्र छोड़कर चल रही है।" पर शुक्ल जी द्वारा व्यक्त किए गए ये विचार छायावाद की आरम्भिक कविताओं को सामने रखकर व्यक्त किए गए जान पड़ते हैं। इन्होंने भाव-पक्ष को गौण और शैली-पक्ष को प्रधान माना है, परन्तु वास्तव में शैली-पक्ष प्रधान नहीं है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावादी काव्य की तीन अवस्थायें स्वीकार की है (१) सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव, (२) मानसिक अशान्ति की आकुलता का आभास, (३) प्रेम के प्रकाश की प्राप्ति। अतः छायावाद की काव्यधारा एक ओर वर्तमान के प्रति विद्रोह एवं असन्तोष की भावना से मुखर है तो दूसरी ओर स्थूल एवं वासनात्मक प्रेम से हटकर सूक्ष्म और अतीन्द्रिय प्रणय की रागिनी सुनाती है। उसे प्रकृति में भी चेतनसत्ता के सौन्दर्य का आभास मिलता है,

रहस्यवाद का मूलाधार भले ही मान लें, किन्तु इसके मूल में असन्तोष के भाव विद्यमान है। 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे' ऐसी कविताओं को लेकर पलायनवादिता के नाम से संघर्ष-भीरुता का आरोप लगाया जा सकता है तो उसी कविता की पंक्ति 'इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना और पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं' को लेकर उसे उद्बोधन गीत का सम्मान भी दिया जा सकता है। डा० नगेन्द्र ने तो छायावाद को रोमानी कविता से बिल्कुल अभिन्न माना है। उनके अनुसार छायावाद रोमानी कविता को छोड़कर और कुछ नहीं हैं, दोनों के मूल में जागरण और कुंठा के भाव निहित है। उन्होंने पहले छायावाद का आधार स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह माना है, फिर उन्होंने शब्दावली बदल दी और उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह करना अधिक उपयुक्त समझा। जहाँ तक भाव-भूमि का सम्बन्ध है, उन्होंने इसे नितान्त लौकिक भावना माना है और लिखा है कि "छायावाद के कवि की प्रेरणा उसकी कुंठित वासनाओं से ही आयी है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नहीं।" जब छायावादी कविता चुबनविहीन प्यासे अधरों से ही उच्छ्वसित होती है तो उसमें असंतोष के सिवा और हो ही क्या सकता है। शिवदान सिंह चौहान ने छायावादी काव्य के लिए असंतोष की प्रवृत्ति के साथ पलायन की प्रवृत्ति पर ही विशेष बल दिया है। परन्तु पलायन छायावादी भाव-धारा का मूल आधार नहीं है। डा० देवराज ने छायावाद के सम्बन्ध में लिखा है कि "वस्तुतः छायावादी काव्य की प्रेरक-शक्ति प्रकृति के कोमल सूक्ष्म रूपों का आकर्षण है न कि सामाजिक वास्तविकता का विकर्षण, उसके मूल में प्रेम और सौन्दर्य की वासना है न कि आध्यात्मिक पूर्णता की भूख।" इन्होंने छायावाद को आध्यात्मिक नहीं माना है, क्योंकि उनके अनुसार यदि छायावादी काव्य धार्मिक या आध्यात्मिक होता तो इस धर्मप्राण देश में जनता उससे इतनी जल्द न ऊबती।

छायावादी काव्य में व्यक्त भावों को प्रकृत रूप में न देखकर दमित वासनाओं के रूप में देखना फूल में खाद देखना है। वे आकाश-कुसुम नहीं धरती के ही कुसुम हैं। डा० केसरीनारायण शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'काव्यधारा' में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है रूढ़ियों के विरोध में खड़े होने वाले स्वच्छन्दतावाद और छायावाद को एक ही मानना चाहिए। यही कारण है कि उन्होंने छायावादी काव्य की कोई दार्शनिक पृष्ठभूमि नहीं स्वीकार की है। प्रो० क्षेम के अनुसार 'छायावाद भी साहित्यकार का एक अन्तर्वादी दृष्टिकोण है जहाँ से वह समस्त जीवन, उसके यावत् रूप-व्यापार को स्वानुभूतिक अभिव्यंजना प्रदान करता है।'

लौकिक भावों की अभिव्यक्ति प्रतीकों के माध्यम से छायावादी काव्य में होती है, पर जहाँ तक मानवीय भावों का प्रश्न है छायावादी कविताओं में व्यक्तिवादिता

का ही स्वर प्रधान रहा है। अपनी प्रतीकात्मकता, चित्र-भाषा शैली, मानवीकरण अथवा अमूर्त भावों को मूर्त रूप में चित्रित करने के कारण यह काव्यधारा सर्व-साधारण को प्रभावित नहीं कर सकी, बल्कि सहृदय बुद्धिजीवियों की कला-प्रियता को ही तुष्ट कर पाने में समर्थ रही। इसका यह कदापि अर्थ नहीं कि इसकी साहित्यिक उपलब्धि अत्यल्प है। इस काव्य-धारा ने जयशंकर प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी ऐसी विभूतियों को उत्पन्न किया है जिनके कारण आधुनिक हिन्दी-साहित्य गौरवान्वित हुआ है।

हिन्दी में छायावाद का प्रारम्भ कब और किस कविता के माध्यम से हुआ यह कहना अत्यन्त कठिन है। यह युगीन परिस्थितियों की देन है जिसकी भूमिका हिन्दी साहित्य के भीतर स्वतंत्र भावाभिव्यक्ति को महत्व देनेवाले कवियों की रचनाओं में निर्मित हो रही थी। हिन्दी-साहित्य के अन्दर स्वतंत्र भावना के विकास का प्रारम्भ सन् १८७० के आस-पास हुआ, जिसका आरम्भ भारतेन्दु-काल में विकास पं० श्रीधर पाठक के समकालीन कवियों में और व्यापक प्रसार पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के आगमन से हिन्दी-साहित्य में हुआ। वैयक्तिक भावों की अभिव्यक्ति का जहाँ तक सम्बन्ध है हम उसके सूत्र को रीतिकालीन कवि घनआनन्द के इस कथन के साथ जोड़ सकते हैं कि 'लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।' इस प्रकार की भावाभिव्यक्तियाँ विशिष्ट सहृदय कवियों द्वारा समय-समय पर होती हैं, पर प्रतिकूल परिस्थितयों के कारण ये काव्यधारा का रूप ग्रहण न कर सकी। जयशंकर प्रसाद की कृति 'झरना' के प्रकाशन के साथ ही साथ छायावादी काव्य को महत्व मिलना आरम्भ हुआ। मुकुटधर पाण्डेय की कविताओं में भी छायावादी काव्य की विशेषताएँ देखने को मिल जाती हैं, पर काव्य-धारा के रूप में इसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय जयशंकर प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी वर्मा को ही है। शैली की दृष्टि से तो महादेवी वर्मा छायावादी काव्यधारा के अन्तर्गत ही आती हैं, पर विषय और उसकी अभिव्यक्ति की दृष्टि से उन्हें रहस्यवाद के अन्तर्गत रखा जाता है।

रहस्यवाद

हिन्दी साहित्य के लिए 'रहस्यवाद' शब्द, 'छायावाद' से प्राचीन है। यद्यपि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', 'छायावाद' की उत्पत्ति का सूत्र पुराणों से जोड़ते हैं, पर 'छायावाद' नाम से अभिहित की जाने वाली किसी काव्यधारा का नाम प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता, जबकि 'रहस्यवाद' शब्द अपरिचित नहीं था। रहस्यवाद नाम से अभिहित की जाने वाली अनेक धाराएँ हमें पूर्ववर्ती साहित्य में मिल जाती हैं, भले ही उनका यह रूप न रहा हो जो आज हमारे सामने है। हिन्दी साहित्य के पूर्व

मध्यकाल (भक्तिकाल) के कवि कबीर अन्य भक्त या सन्त इसे पराविद्या कहते थे, परन्तु यदि आज के अर्थ में देखा जाय तो वह पराविद्या भक्ति से भिन्न है। वह तो रहस्यवादी कविता में ही मिलती है। भक्तिकालीन रहस्यवादी कवि भक्त पहले थे, कवि बाद में; चाहे वह कबीर हों अथवा मीराबाई। पर आज के रहस्यवादी कवि के लिए कोई ऐसी शर्त नहीं है। वह मूलतः कवि हैं, भक्त तो नहीं हो हैं।

रहस्यवादी काव्य में प्रायः प्रतीक अपनाये जाते हैं, जैसे परमसत्ता को 'पारस' कहा गया है। जायसी ने और आज के कवियों ने भी इस प्रतीक को यथावत् ग्रहण कर लिया है। कबीर ने उस परम-सत्ता के लिए हीरे का रूपक बाँधा है। आज भी रहस्यवादी कवियों में हीरे को परम-सत्ता के रूप में देखा जाता है। असीम को ससीम में सभी बाँधना चाहते हैं, मनुष्य पूर्णता चाहता है, यह भावना पहले भी थी और आज भी है तथा आगे भी रहेगी। जिस रहस्यवाद की चर्चा हम यहाँ कर रहे हैं, वह मूलतः आधुनिक काव्यधारा है, जिसका अस्तित्व सन् १९२० ई० के पूर्व हिन्दी-साहित्य में नहीं था। प० रामचन्द्र शुक्ल ने तो काव्य में रहस्यवाद माना ही नहीं है और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तो कबीर तक में भी रहस्यवाद नहीं माना है। यह शब्द आरम्भ में उन कविताओं के लिए प्रयुक्त हुआ जिनमें अज्ञात सत्ता की झलक मिलती थी, जिनका चित्रण प्रतीकों के द्वारा होता था तथा जिसे कुछ लोगों ने 'छायावाद' की ही संज्ञा दी है। सन् १९३० ई० तक जाते-जाते अँग्रेजी-साहित्य का 'मिस्टिसिज्म' शब्द हिन्दी के रहस्यवाद के लिए रूढ़ि हो गया और 'रोमांटिसिज्म' शब्द के लिए 'छायावाद' शब्द प्रयुक्त होने लगा। 'छायावाद' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में हुआ है वह बहुत बड़ी काव्यधारा है जिसमें 'रहस्यवाद' एक प्रवृत्ति या मनोवृत्ति विशेष है। 'छायावाद' के कलेवर में भी रहस्यात्मक तत्त्व विद्यमान रहते हैं जो यथावसर अपनी झलक मारते रहते हैं। छायावादी कवि प्रकृति के भीतर छाया, अपने हृदगत भावों की छाया देखता है और जब उसका हृदय उस छाया का अनुभव करके भी अपने को सन्तोष नहीं दे पाता और उसमें (प्रकृति) व्याप्त चिरन्तन-सौन्दर्य के साथ भी अपनी संवेदनशीलता के कारण निरन्तर सम्बन्ध जोड़ने लग जाता है तो रहस्यवाद की सृष्टि होती है। प्रकृति उस अमर-सौंदर्य की छाया मात्र है, जिसका उद्घाटन रहस्यवादी कवि प्रतीकों के माध्यम से करते हैं।

छायावाद, रहस्यवाद और स्वच्छन्दतावाद, ये तीनों शब्द, अत्यन्त ही विवाद के विषय रहे हैं। कुछ विद्वानों ने 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' को पर्यायवाची माना है। कवियों की गोपन-प्रवृत्ति ने जब वैयक्तिक प्रणयानुभूति पर अलौकिकता का आवरण चढ़ा दिया तो उसे साहित्य में 'रहस्यवाद' की संज्ञा दी गई है। डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार 'रहस्यवाद आत्मा की अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक-शक्ति के साथ अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और

यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता।' आधुनिक रहस्यवादी कविताओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें किसी भी प्रकार की भक्ति की प्रतिष्ठा नहीं की गई और न तो वे भक्त कवियों द्वारा रची ही गई है। न तो इन कविताओं में 'सूर' का मारल्य ही मिलेगा और न तो 'तुलसी' की सी लघुता का प्रकाशन ही। इसके अतिरिक्त यदि हम सूफी सन्तों की निर्गुण ब्रह्म की उपासना ढूँढ़ें तो भी निराश होना पड़ेगा। इन कविताओं के अन्दर मिलने की प्रबल आकांक्षा तथा निराशा-जन्य चिर-विरह की कामना को ही अभिव्यक्ति मिली है। मजे की बात तो यह है कि यह मिलन और विरह का सारा स्वाँग एक ऐसे प्रियतम से है जिसका न कोई रूप, न रंग और न तो कभी उससे देखा-देखी ही हुई है। यह रहस्यवाद और जो कुछ हो, भक्ति तो नहीं है।

छायावादी कहे जाने वाले सभी कवियों में रहस्यवाद के सूत्र देखे जा सकते हैं। प्रसाद जी की कविताओं में रहस्यवाद देखने का प्रयत्न किया जाता है, पर इतना तो निश्चित है कि उनकी प्रमुख रचना 'कामायनी' पर शैवागम-सिद्धान्तों का प्रभाव है। 'निराला' पर स्वामी विवेकानन्द का भी प्रभाव पड़ा है, और उनकी रहस्यवादी कविताओं पर वेदान्त का प्रभाव है। 'पंत जी' ने भी अनेक रहस्यवादी कविताएँ लिखी हैं पर मुख्य रूप से महादेवी की ही रचनाएँ रहस्यवाद के भीतर आती हैं। इनके अतिरिक्त डा० रामकुमार वर्मा की भी कुछ प्रतिनिधि रचनाएँ रहस्यवाद के अन्तर्गत आती हैं।

प्रमुख कवि

जयशंकर प्रसाद (सं० १९३६–१९९४)

प्रसाद जी का जन्म काशी के प्रसिद्ध मुहल्ले सराय गोवर्द्धन में विख्यात सुर्ती व्यापारी सुँघनी साहु के घराने में हुआ था। इनके पिता श्री देवी प्रसाद सम्पन्न व्यापारी थे। इनका घराना काशी का सम्भ्रान्त घराना था जो अपनी दान वीरता के लिए प्रसिद्ध था। आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न घर में उत्पन्न होने पर भी प्रसाद जी को आरम्भिक दिनों में कुछ कष्ट रहा जिसे इन्होंने स्वयं सँभाला। वे स्वयं दालमण्डी स्थित अपनी सुर्ती की दूकान पर बैठते थे जो अब साहित्यिक तीर्थ हो गया है। क्वींस कालेज में सातवीं कक्षा तक इन्हें नियमित शिक्षा मिली थी, इसके अतिरिक्त अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, फारसी आदि का व्यापक अध्ययन इन्होंने घर पर ही किया था। इन्होंने जिस समय हिन्दी-साहित्य में पदार्पण किया, आधुनिक-हिन्दी साहित्य निर्माण के पथ पर था। अपने समय के प्रचलित सभी साहित्य-रूपों में प्रसाद ने रचनाएँ की और सभी साहित्य रूपों को इन्होंने अपनी प्रतिभा के द्वारा

एक मौलिक दिशा प्रदान की है। प्रसाद जी हमारे सामने कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार, निबन्धकार और कवि के रूप मे आते हैं, पर इसका निर्णय कर पाना कठिन है कि उन्हे किस विधा मे विशेष सिद्धहस्तता प्राप्त थी। उपर्युक्त सभी साहित्य-रूपो द्वारा उन्होने अपनी मौलिकता की छाप हिन्दी जगत पर छोडी है। फिर भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि प्रसाद जी मूलतः कवि थे, क्योंकि उनका कवित्व उनकी समस्त गद्य रचनाओं में भी झलक मारता रहता है।

प्रसाद जी की आरम्भिक कविताएँ ब्रजभाषा मे है, जिनका संकलन 'चित्रधारा' मे हुआ है। खड़ी बोली मे उनका आगमन संवत् १६०७ मे हुआ और 'कानन कुसुम' 'महाराणा का महत्व' 'करुणालय' तथा 'प्रेम-पथिक' नामक उनके काव्य-ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ। इनकी आरम्भिक काव्य-रचनाओ को देखकर यह नहीं जान पड़ता कि आगे चलकर इसी कवि द्वारा 'कामायनी' जैसे महाकाव्य की सृष्टि होगी, पर उत्तरोत्तर उनकी कविताओं मे प्रौढ़ता आती गई और अपने काव्य 'झरना' के द्वारा 'प्रसाद जी' ने छायावाद का बीजारोपण किया। 'झरना' के बाद 'आँसू' का प्रकाशन हिन्दी-साहित्य में एक ऐतिहासिक घटना है, जिसने वैयक्तिक घनीभूत अनुभूतियो के लिए काव्य-जगत मे मार्ग प्रशस्त किया। नाटको मे यथास्थान आए उनके सरस-मधुर गीत छायावादी शैली की अन्यतम उपलब्धि है, जिनमे प्रेम और सौन्दर्य की अद्भुत रागिनी गूँजी है। 'लहर' मे उनकी अनेक प्रकार की रचनाएँ सग्रहीत हैं, जिनमें सरस-सुन्दर छायावादी गीतो के अतिरिक्त निर्बन्ध छन्दो में रची हुई अत्यन्त उत्कृष्ट रचनाएँ भी हैं। प्रसाद जी ने काव्य की जिस शैली को प्राथमिकता प्रदान की उसके लिए तत्कालीन भाव-भूमि उपयुक्त नही थी, क्योकि उस समय राष्ट्रीयता की धारा प्रवाहित हो रही थी। राष्ट्रीयता का भाव प्रसाद जी ने अपनी रचनाओ में अन्य प्रकार से ग्रहण किया। उनका मत था कि देश की जागरूक जनता उपदेश और व्याख्यान नही बल्कि एक ऐसा नेता चाहती है, जिसके आदर्श को सामने रखकर वह जय-युद्ध के लिए चल सके और यह महद् कार्य नाटको द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। यही कारण है कि यदि हम राष्ट्रीय साहित्यकार के रूप में प्रसाद को देखना चाहते हैं तो हमे उन्हें उनके नाटकों मे देखना होगा। नाटकों मे लिखे गये उनके गीत राष्ट्रीयता के महामन्त्र हैं—

> "हिमाद्रि-तुंग-शृंग से प्रबुद्ध-शुद्ध भारती,
> स्वयं-प्रभा समुज्वला स्वतंत्रता पुकारती;
> अमर्त्य वीर-पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
> प्रशस्त पुण्य-पंथ है, बढे चलो, बढे चलो।"

देश-प्रेम पर लिखी प्रसाद जी की कविताएँ द्विवेदी युगीन देश-प्रेम की कविताओं से भिन्न हैं। जहाँ पर द्विवेदी-युग में विशेषणों की संख्या गिनाई जाती थी, वहाँ 'प्रसाद' जी ने उसके प्रभावकारी गुणों की चर्चा की है। इनका देश-प्रेम भावात्मक और व्यापक है—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस-गर्भ विभा-पर, नाच रही तरु-शिखा मनोहर।

× × ×

लघु सुरधनु से पंख पसारे, शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये समझ नीड़ निज प्यारा।
बरसाती आँखों के बादल, बनते जहाँ भरे करुणा-जल।
लहरें टकरातीं अनंत की पाकर जहाँ किनारा।"

× × ×

इसमें कवि का दृष्टि की व्यापकता इतनी विशाल है कि वह क्षितिज के किनारे तक की कल्पना कर लेता है। इनकी रचनाओं में प्रकृति-चित्रण पर प्राचीनता का निर्मोक नहीं लक्षित होता उसमें उन्होंने पुरातन प्रबन्ध-परम्परा का पूर्ण बहिष्कार किया है। इन्होंने सर्वप्रथम प्रकृति-चित्रण द्वारा माधुर्य का चार चाँद लगाया। प्रसाद जी ने 'प्रेम पथिक' काव्य में 'रोमान्टिक' काव्य की सृष्टि की है, जिसमें स्वयं प्रकृति वातावरण प्रस्तुत करती है। 'आँसू' जिसको हम गीत-काव्य का हिन्दी-साहित्य को देन कह सकते हैं और जिसकी गणना हिन्दी की कुछ ही उत्कृष्ट रचनाओं में की जा सकती है, कवि की अनुपम भावनाओं की उड़ान का ही परिणाम है। 'आँसू' अपने थोड़े विरह-गीतों के द्वारा ही सर्वोत्तम काव्यों की श्रेणी में रखी जाने की अधिकारिणी है इसमें कवि ने बिना किसी भय के मानव के विलासी जीवन का चित्रण किया है और उसके अभाव में आँसू बहाया है, जिसमें वह आगे चल कर जीवन से समझौता कर लेता है। यह सब प्रकार से मानवीय काव्य है और प्रसाद जी मानवीय भावनाओं के कवि हैं। अपनी 'लहर' नामक रचना में उन्होंने मनुष्यों के मन में उठने वाली स्वाभाविक स्वच्छन्द भावनाओं की लहरों का चित्रण किया है। इस प्रकार की कविताओं में 'प्रसाद जी' का व्यक्तित्व ही बोलता हुआ दिखाई पड़ता है। हिन्दी आधुनिक-काल मुख्यतः मुक्तकों और प्रगीतों का काल है, किन्तु 'कामायनी' लिखकर प्रसाद जी ने प्रामाणिक कर दिया कि महाकाव्य भी लिखे जा सकते हैं।

छायावादी रचनाओं पर बराबर यह आगे आरोप लगाया जाता रहा कि उनमें लोक-मंगलकारी भावों का अभाव है, पर प्रसाद जी ने कामायनी लिखकर इस आरोप को निरर्थक सिद्ध कर दिया। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे पौराणिक कथा का आधार लेकर प्रतीको के सहारे 'कामायनी' की रचना हुई है, जिसमें पात्रो की पौराणिकता और ऐतिहासिकता भी झलकती रहती है और वे मानवीय मनोभावों का प्रतिनिधित्व भी करते हैं; जैसे मनु मन का, श्रद्धा हृदय का, इडा बुद्धि का प्रतिनिधित्व करती है। मानवीकरण का सफल निर्वाह इस काव्य मे हुआ है और इसमें प्रसाद जी ने मानवीय भावो को पात्रों के रूप मे स्वीकार करके उनके नाम से शीर्षकों तक का नामकरण किया है; जैसे 'लज्जा' तथा 'काम' आदि। इसी प्रकार के चिंता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनन्द नामक पन्द्रह सर्गो मे कामायनी पूर्ण हुई है। कामायनी मे वस्तु-जगत के अनेकमुखी दृश्यो और परिस्थितियों का चित्रण मिलता है तथा प्रकृति-सौन्दर्य वर्णन वस्तु रूप मे मिलता है, इसलिए कुछ लोग 'कामायनी' को महाकाव्य कहने मे हिचकते है। **'कामायनी' प्रसाद के व्याकुल मन की समाधान युक्त वाणी का अनुपम कोष** है। प्रसाद जी के काव्य मे निरन्तर विकास-क्रम लक्षित होता रहता है, जिसकी चरम परिणति 'कामायनी' के आनन्दवाद मे हुई है। इसके प्राय: सभी प्रमुख स्थलों पर समरसता का आग्रह पाया जाता है। प्रसाद जी द्वैत की सत्ता को मानते है तथा इस पर विश्वास करते है कि यही द्वैत की सत्ता संघर्षों के मूल मे विद्यमान है—

> **"द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव,**
> **शाश्वत रहता वह एक मन्त्र।"** (इडा सर्ग)

यह द्वन्द्व ही संघर्ष और सृष्टि का मूल है, जिसके समाधान का प्रयत्न बराबर होता रहता है। भगवान बुद्ध के पूर्व लोग एक छोर पर ही थे। ज्ञान-पथी ज्ञान को और भक्त भक्ति को ही सर्व-श्रेष्ठ मान बैठे थे। भगवान् बुद्ध ने मध्यमा प्रतिपदा का मार्ग दिखाया, जिसे 'अरस्तू' ने 'गोल्डेन मीन' कहा है। 'प्रसाद जी' ने इसी बीच के मार्ग यानी कामायनी मे चित्रित देवताओं की विलासिता और तपस्या के बीच प्रेम का सन्देश दिया।

प्रसाद जी के सम्पूर्ण काव्यो की भूमिका प्रेम-परक है। रीतिकालीन शृंगारिक भावनाओं के स्थान पर काव्यों मे प्रेम की प्रतिष्ठा आधुनिक युग की देन है। प्रसाद जी के प्रेम की मुख्य तीन कोटियाँ हैं, जिसमे वे क्रम से विरह-वेदना को मुखरित करते है, आत्म-तुष्टि के लिए पूर्व-मिलन को महत्व प्रदान करते हैं और उसके अभाव मे आंसू बहाते हैं तथा अन्त मे प्रिय-मिलन के कारण 'आनन्द' की स्थिति का अनुभव करने लग जाते है।

'प्रसाद जी' की रचनाओं में प्रकृति-चित्रण प्रभूत मात्रा में हुआ है, जिसमें प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूप पाये जाते हैं। प्रकृति-चित्रण के लिये परम्परित रूढ़ियों को न अपनाना 'प्रसाद' जी की अपनी विशेषता है। प्राकृतिक दृश्यों की अनुभूति का भाव उनके अन्तर में इतना अधिक है कि वे लुभावनी छटाओं को देखकर चमत्कृत हो उठते हैं। प्रकृति को उपमा और रूपक के रूप में प्रस्तुत करने का सफल कार्य कालिदास के पश्चात् 'प्रसाद' जी द्वारा ही हुआ। इनके काव्यों में प्रकृति-चित्रण की जो सबसे बड़ी सफलता रही है, वह प्राकृतिक पदार्थों के मानवीयकरण में है। 'कामायनी' का सारा का सारा प्रकृति-चित्रण मानवीयकरण के उदाहरणों से भरा पड़ा है।

'प्रसाद' का स्थान उन कवियों में सर्वप्रथम है जिन्होंने नारी जाति के अधिकारों की वकालत की है। इन्होंने अपने काव्य में नारी के पत्नी, प्रेयसी, गृहिणी आदि रूपों का चित्रण तो किया ही है; उसके साथ ही साथ उसके सौन्दर्य की जो कल्पना की है, वह निश्चित ही हिन्दी काव्य-शैली को एक अपूर्व देन है। उन्होंने नारी-रूप का जो दृष्टिकोण अपनाया है, उसमें उन रीतिकालीन सभी उपमानों का बहिष्कार है जिसके लिए कदली खम्भों, श्रीफलों तथा विषैली नागिनों की आवश्यकता होती थी। अछूती उपमाओं के साथ नारी के रूप और विशेषताओं का चित्र देखते ही बनता है—

"उषा की पहली लेखा कान्त
माधुरी से भीगी भर मोद,
मद भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद।
कुसुम-कानन अंचल में मन्द
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।"

(कामायनी, श्रद्धा सर्ग)

रीतिकाल के कवियों ने नारी के जिस सौन्दर्य को ज्वालामय चित्रित किया था, 'प्रसाद जी' ने उसी सौन्दर्य को शान्ति और शीतलता प्रदान करनेवाला चित्रित किया।

'प्रसाद' जी मानवतावादी कवि थे। यही कारण है कि उन्होंने उन सभी थोथी मर्यादाओं तथा बन्धनों का तिरस्कार किया है जो मानवता के विकास में विघ्न

उपस्थित करते है। कवि 'प्रसाद' मूलभावों के कवि तो है ही, साथ ही साथ वे इतिहास के ध्वंसावशेषों मे भी मस्ती के साथ रमने वाले है। उनकी काव्य-साधना का सम्पूर्ण आधार जीवन की एक श्रेष्ठ बौद्धिक धारणा पर आधारित है।

कामायनी मे 'प्रसाद जी' का कवि, दार्शनिक, चिन्तक और कलाकार सब पक्ष साकार हो गया है। इस काव्य मे मानवता को कला का रूप दिया गया है। कवि जीवन के रहस्यात्मक तत्वो तक प्रविष्ट हो जाता है। 'प्रसाद' के इस काव्य मे दर्शन, चिन्तन, जीवन और कलाका अद्भुत समन्वय मिलता है। 'लहर' मे तो कवि ने चिर 'आनन्द' का सन्देश ही दिया है।

भाषा-माधुर्य, भावो की बहुलता एवं सुन्दर उपमाओं तथा कल्पना की कोमलता से पूर्ण 'आंसू' की कतिपय पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—

"छिल-छिल कर छाले फोडे, मल-मल कर मृदुल चरण से।
धुल-धुल कर वह रह जाते, आँसू करुणा के कण से॥
शशि-मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आये॥
काली आँखों में कितनी, यौवन के मद की लाली।
मानिक-मदिरा से भर दी, किसने नीलम की प्याली॥
मुख-कमल समीप सजे थे, दो किसलय से पुरइन के।
जल-बिन्दु सदृश्य ठहरे कब, उन कानों में दुख किनके॥

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (सं० १६५६–२०१८)

निराला जी का जन्म वसंत पंचमी के दिन मेदिनीपुर (बंगाल) के महिषादल राज्य में हुआ था, जहाँ जिला उन्नाव (उत्तरप्रदेश) के गढ़कोला ग्राम-निवासी इनके पिता प० रामसहाय त्रिपाठी नौकरी करते थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा आरम्भ में बंगला में हुई। संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान उन्होंने स्वाध्याय द्वारा प्राप्त किया। इनके पास उच्च-शिक्षा की कोई उपाधि नही थी। तीन वर्ष की अवस्था मे निराला जी मातृविहीन हुए। विवाह के सात वर्ष बाद पत्नी नही रही, जब कि ये केवल बाइस वर्ष के थे। इनके पहले ही पिता स्वर्गवासी हुए। इस प्रकार निराला का समस्त जीवन जूझते बीता। बाद मे दर-दर घूमने के बाद निराला प्रयाग मे आकर रहने लगे और वही इनकी मृत्यु हुई। इनका समस्त जीवन एक पौराणिक व्यक्तित्व है।

निराला जी इस युग के उन कवियो मे प्रमुख है जिन्होंने प्राचीन रूढ़ियो पर कठोर प्रहार किया है। काव्य को संगीतमय बनाने का श्रेय 'निराला' को है। बंगाल मे अधिक दिन रहने और बंगला-भाषा जानने के कारण इन पर बंगला-साहित्य का

जो प्रभाव पड़ा उसे उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा का संस्पर्श प्रदान कर अनुपम स्वरूप दे दिया है। निराला जी वास्तव में हिन्दी के क्रान्तिकारी कवि हैं। उनकी कविताओं मे उनकी परिस्थिति और उनका जीवन अपने आप उतर कर चला आया है, क्योंकि समाज मे उनका कोई था नही जिनके लिए वे अपनी अनुभूतियों तथा भावों को छुपा कर रखते। जिसे जीवन भर समाज से तिरस्कार ही मिला हो, वह विद्रोही नहीं होगा तो और क्या होगा। जीवन के आरम्भ से ही उन्हें जूझना पड़ा, उन्होंने युग के विषय को नीलकण्ठ की भांति पी लिया और अपना सर्वस्व युग की रक्षा के लिए लगा दिया। आदि से अन्त तक उनकी कविताओं में प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह बना हुआ है, चाहे वे सामाजिक रूढ़ियाँ हों अथवा साहित्यिक। इनका विद्रोही व्यक्तित्व इनकी रचनाओं में सर्वत्र अत्यन्त पुरुष-रूप में अभिव्यक्त हुआ है। ये हिन्दी के पुरुष कवि हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि 'निराला' जी के विकास के मूल में भावना की अपेक्षा बुद्धि-तत्व की अधिक प्रमुखता है और उनके गम्भीर दार्शनिक अध्ययन के कारण ही उनकी कविताओं मे बौद्धिक उत्कर्ष अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गया है, पर ऐसी बात नही है। निराला जी अपने भावावेगों पर अंकुश नहीं रख पाये हैं, जिससे उनके भावों की अविरल धारा बड़े वेग से बहती है और इसी बहाव के कारण उनकी कविताओं मे कहीं-कहीं ऐसे प्रसंग छूट जाते हैं जिनके बिना ही वह दुर्बोध हो जाती है और साधारण पाठक की समझ से दूर की वस्तु बन जाती है।

इनके प्रगीतों मे किसी न किसी प्रकार की कथा का आश्रय पाया जाता है। 'निराला जी' का यह कथा-प्रेम केवल प्राचीन मान्यताओं को नया रूप देने की अभिलाषा ही है। इन्होंने 'तुलसीदास' नामक कविता के द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि नारी-सौन्दर्य केवल उसकी शारीरिक मांसलता मे ही नहीं है जो पुरुषों की वासना तृप्ति के लिए बनी है, बल्कि उसके अन्दर वह शक्ति भी है जो पुरुष की वासना को धक्का देकर उसमें किसी अतीन्द्रिय-सौन्दर्य के अनुभव की अनुभूति भी उत्पन्न कर सकती है, वह दिखला सकती है कि नारी तेजवान प्रतिमा नहीं, बल्कि दिव्य रमणी-मूर्ति भी है और वह दिखला सकती है कि वह इतनी सीमित और संकुचित नहीं है, जितना कि पुरुष उसे समझता आया है। 'तुलसी' ने 'रत्नावली' का जब यह स्वरूप देखा तो उनकी आँखें सहसा खुल गई और जिसे उन्होंने अब तक बन्धन समझ रखा था, वह ही मुक्त होने का एकमात्र साधन जान पड़ने लगी—

"जिस कलिका में कवि रहा बन्द !
वह आज उसी में खुली मन्द,
भारती रूप में सुरभि छंद निष्प्रश्रय।

नारी सौन्दर्य को आंकने के लिए जितनी कसौटियाँ रीतिकालीन कवियो ने बना रखी थी, निराला की प्रतिभा ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। उन्होने नारी की कुटिल भौंहो को कमान, चितवन को बेधक तीर तथा मुस्कान को प्राणान्त करने वाले विष के रूप मे न देखकर उसे भिन्न रूप मे देखा—

"सरल भौहों में था आकाश।
हास में शैशव का संसार॥"

उसकी कल्याणमयी आँखों मे ही निवास कर प्रेम के सुन्दर स्वरूप का निर्माण होता है—

"तुम्हारी आँखों में कर वास।
प्रेमने पाया था आकार॥"

इस प्रकार हम देखते हे कि रीतिकाल के कवियो की वे छुरी से भी तेज़ आँखें संहारक न रहकर पालक हो गई।

'राम की शक्ति-पूजा' नामक अपनी रचना में 'निराला जी' लौकिकता की भूमि पर इसलिए उतर आए है कि वे उसे जन-साधारण के लिए सुलभ और विश्वस्त बना सकें। 'निराला' के 'राम' आदर्श मानव हैं, जिससे उनके कार्य हमें अधिक आकर्षित करते हे। प्रेम का जैसा सुन्दर प्रस्फुटन सायंकाल युद्ध से लौटे हुए राम के हृदय में 'निराला' जी दिखा सके हे वैसा महाकवि तुलसीदास भी अपने 'राम चरित मानस' में नहीं दिखला सके।

'सरोज स्मृति' तो कवि के जीवन की करुण कहानी ही है। उन्होने इस कविता के माध्यम से अपने जीवन की सच्ची घटनाएँ कह डाली हैं। समाज की प्राचीन परम्पराएँ उन्हे स्वयं अमान्य थी, उन्होने उनकी परवाह नही की। अपनी बात को सचाई से कहने वाला 'निराला जी' जैसा दूसरा कवि नहीं हुआ। उन्होने गँवार दामाद का जो यथार्थ चित्र उरेहा है, वह सच्चा और स्वाभाविक ही नही बल्कि उनकी घृणा और उपेक्षा का भी द्योतक है—

वे जो जमुना के से कछार
तट फटे बिवाई के, उधार
खाये के मुख ज्यों, पिये तेल
चमरौधे जूते से, सकेल
निकले, जो लेते, घोर-गन्ध,
उन चरणों को मैं यथा अन्ध
कल घ्राण-प्राण से रहित व्यक्ति
हो पूजूँ, ऐसी नहीं शक्ति।'

'निराला' जी के विकास की चार रेखायें हैं। इनके विकास की प्रथम रेखा अनामिका में मिलती है जो बुद्धि से अत्यधिक प्रभावित है। वे शक्ति के उपासक थे जिससे पौरुष के प्रति उनमें सहज आसक्ति थी। इसीलिए 'राम की शक्ति-पूजा' में कहते हैं 'हनुमत्-केवल-प्रबोध'। एक वाक्य में कहा जा सकता है कि *'निराला' की* **कविताओं में दर्शन और भक्ति का समन्वय है।**

'निराला' जी के साहित्यिक व्यक्तित्व में विचित्रताओं का अद्भुत संयोग मिलता है। उनके मुक्त छन्दों में यदि एक ओर 'जुही की कली' जैसी कोमल शृंगारपूर्ण रचना है तो दूसरी ओर 'जागो फिर एक बार' जैसी ओजपूर्ण उद्बोधक रचना भी है। इनकी 'जुही की कली' प्रकृति के मानवीयकरण की दृष्टि से हिन्दी की श्रेष्ठ रचना है। प्रायः निराला ने प्रकृति में अपने भावों की छाप देखी है, उन्हें प्रकृति से भी संकेत मिलता है जो उनके मस्तिष्क में गूँज रहा है। कृष्ण काव्य का सम्पूर्ण साहित्य यमुना के कछारों, लता कुंजों तथा किनारे पर पाये जाने वाले कदम्ब आदि वृक्षों की डालों को लेकर लिखा गया है, किन्तु इतने अपार साहित्य में एक भी ऐसा विशाल जीवन्त चित्र नहीं आ सका है जो कि 'निराला' जी ने अपनी रचना 'यमुना के प्रति' में ला दिया है। इसी प्रकार 'दिल्ली' नामक कविता में दिल्ली की भूमि पर दृष्टि डालते हुए 'क्या यह वही देश है' कहकर कवि अतीत की कुछ इतिहास प्रसिद्ध बातों और व्यक्तियों को बड़ी सजीवता के साथ मन में लाता है।

> 'निस्तब्ध मीनार
> मौन मकबरे
> भय में आशा को जहाँ मिलते थे समाचार।
> टपक पड़ता था जहाँ आँसुओं में सच्चा प्यार।'

'निराला' जी को जिस प्रकार सामाजिक बन्धन अरुचिकर रहे हैं उसी प्रकार काव्य के छन्द बन्धन भी। **'निराला' जी की विद्रोही प्रकृति ने हिन्दी साहित्य में मुक्त छन्दों की परम्परा चलाई।** इनके मुक्त छन्द दो प्रकार के हैं, तुकान्त और अतुकान्त। इन छन्दों में लय है, गीत है, किन्तु कहीं-कहीं अधिक स्वच्छन्द होने के कारण वह गद्य-सा हो गया है और उसकी शृंखला भी ऐसी अस्त व्यस्त हो जाती है कि वह सांकेतिक भाषा-सी जान पड़ने लगती है—

> 'राघव-लाघव-रावण-वारण-गत-युग्म-प्रहर,
> उद्धत लंकापति-मर्दित-कपि-दल-बल विस्तर,
> अनिमेष-राम-विश्वजिद्दिव्य-शर-भंग-भाव
> विद्धांग-बद्ध-कोदंड-मुष्टि-खर-रुधिर-स्राव।'

पद्यों मे चरणो के स्वच्छन्द प्रयोग को देखकर ही लोगो ने इनके ऐसे के छन्दो को रबर छन्द तथा केचुआ छन्द आदि कहा है।

इनकी कविता में सामासिक पदावली का बाहुल्य और क्रिया-पदो का लोप पाया जाता है। उनके एक-एक शब्द मे एक-एक वाक्य का अर्थ विस्तार रहता है। लाक्षणिक प्रयोग कम हैं, जितने भी स्वच्छन्द छन्द हैं उनमे अभिधा-शैली का ही अधिकतर प्रयोग किया गया है। संगीतात्मकता, ओज, नाटकीयता, अनुप्रास योजना और नवीन उपमाओं का प्रयोग उनकी शैलीगत कुछ अन्य विशेषताएँ हैं। 'निराला' की शैली मे श्रृंगार की मधुरिमा, और वीर रस का ओज दोनो साथ-साथ पाये जाते हैं। इनके जैसा संयत श्रृंगार का वर्णन करने वाला आधुनिक हिन्दी साहित्य मे विरला ही मिलेगा। इनके श्रृगारिक काव्यो मे भी एक दार्शनिक तटस्थता है। नंगे से नंगे चित्र भी संयत और पवित्र है—

> 'पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफाली के।
> मूक-आह्वान भरे लालस सी कपोलों के व्याकुल विकास पर
> झरते है शिशिर से चुम्बन गगन के॥"

'निराला' को खडी बोली की क्रान्ति का सबसे बड़ा नेता माना जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। उनके काव्य में दार्शनिक रूढ़ियाँ अधिक मुखर हुई है, फिर भी विभिन्न वर्गों के जीवन की स्पष्ट झाकी उनके काव्य में देखी जा सकती है। समाज की जर्जर और विकृत रूढियाँ अवश्य परिहार्य है, लेकिन परिष्कृत रूप मे उन्हे ग्रहण भी किया जा सकता है, प्रगतिशीलता के सम्बन्ध मे कवि की मान्यता का यह दूसरा पहलू है जिसे 'कुकुरमुत्ता' नामक उनके काव्य मे सरलतापूर्वक देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'अणिमा', 'बेला', 'नये पत्ते' आदि कविताएं वास्तव में विचार और भावनाओ के नये पत्ते और पुष्प लेकर सामने आती है। अभाव, शोषण, दुःख-दमन और सामाजिक उत्पीड़न जैसे प्रसंग पर भी 'निराला' की प्रभावशालिनी कविताएँ है।

'निराला' ने अपनी कविताओं मे बहुधा शुद्ध संस्कृत-गर्भित हिन्दी का व्यवहार किया है, पर बीच-बीच मे उर्दू-बंगला आदि भाषाओ के शब्द भी आ गये हैं। 'निराला' की मौलिक प्रतिभा ने आधुनिक गीतो का जो स्वरूप निर्मित किया, वह आगे आने वाली कवि पीढी के लिए, भाषा, भाव एवं छन्द, सभी दृष्टियो से कीर्ति-स्तंभ बन गया। निराला आधुनिक हिन्दी साहित्य के क्रान्तिकारी एवं पुरुष कवि है।

सुमित्रानन्दन पंत (जन्म सं० १९५८)

पंत जी के पिता पं० गयादत्त जी अल्मोड़े के निकट कौसानी में ही—गडिन्स के मैनेजर थे और इसी स्थान पर पंत जी का जन्म हुआ था। कौसानी में ही चौथी

'सुन्दर है विहग सुमन सुन्दर ।
मानव तुम सबसे सुन्दर तम ॥'

'पंत' जी मानवीय भावों के कवि है और अनुभूतियों ने उन्हे लिखने के लिए विवश कर दिया है। उनका अपना मत है कि—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान !
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
वही होगी कविता अनजान ।

'पंत जी' चिर-वियोगी हैं, पर उनका सम्पूर्ण काव्य उसी अभाव जन्य पीड़ा की अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि उनके गहन दार्शनिक अध्ययन और जीवन के कठोर अनुभवों ने उसे अनेक बार मोड़ा है। 'वीणा' ग्रन्थि मे आगे बढ़ते हुए 'पल्लव' तक पहुँच कर 'पंत' जी भावुकता को बौद्धिक चेतना से जकड़ते लगे है और 'गुंजन' तक आते-आते उन पर बौद्धिकता की स्पष्ट छाप दिखलाई पड़ने लग जाती है। ज्यों-ज्यों जीवन की कठोरता का पंत जी अनुभव करते गये हैं उनकी काव्य-भूमि बदलती गई है। 'युगांत' मे जीवन के यथार्थ को वे वाणी देते जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए 'ताजमहल' नामक कविता मे उनकी प्रतिक्रिया का दर्शन किया जा सकता है। 'ग्राम्या' मे ग्राम्य जीवन के सुन्दर चित्र है, पर वे ही स्थल अच्छे बन पड़े हैं जिनमे उनकी बौद्धिकता बाधक नहीं है। रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी तथा अरविन्द के चिन्तनों ने भी पंत जी को प्रभावित किया है। 'स्वर्ण किरण', स्वर्णधूलि, तथा 'महाकाव्य लोकायतन' पर अरविन्द दर्शन का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

'पंत जी' नारी को एक बहुत सुकुमार एवं कोमल भावना की दृष्टि से देखते है। उसके बालापन रूप से वे अत्यधिक प्रभावित है। कवि की नारी विषयक कोमल भावना एक छाया-सी उसके समस्त काव्य पर मँडराया करती है। 'पंत' जी चित्रात्मक प्रतिभा के धनी कवि हैं। अंग्रेज कवि कीट्स इस कला में बहुत निपुण था। जब पंत जी कल्पना की अधिक उड़ान पर पहुँच जाते है, तो उनका अनुभूति-पक्ष कम होने लगता है।

'स्याही की बूँद' और 'नक्षत्र' आदि कविताएँ इसके उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं। कल्पना के द्वारा अमूर्त को मूर्त रूप दे देना 'पंत' जी के बायें हाथ का खेल है। चांदनी का वर्णन करते हुए वे कहते है—

'नीले नभ के शत दल पर
वह बैठी शारद हासिनि ॥

मृदु करतल पर शशि मुखधर ।
नीरव अनिमिष एकाकिनी ॥'

इसी प्रकार 'नौका विहार' में 'गंगा' को एक तापस बाला के रूप मे चित्रित किया है। वे सन्ध्या को एक सुन्दरी के रूप में देख सकते हैं। समस्त मानवीकरण इसी कल्पना की उपज है।

रंगो के विश्लेपण मे 'पंत' जी को कमाल हासिल है। एक ही रंग मे वे कई प्रकार के रंग बना सकते हैं। काला, श्याम और श्यामल उनके लिए तीन रंग हैं।

इसी प्रकार ध्वनि चित्रण में भी 'पन्त' जी बड़ी कुशलता से काम लेते हैं। व्यंग्यर्थ व्यंजना के अच्छे उदाहरण इनकी कविताओं में मिल जाते हैं। 'परिवर्तन' नाम की कविता मे जब समय की तुलना शेषनाग से करते हैं तो शब्द-योजना से उत्पन्न ध्वनि एकदम सर्प की ध्वनि से मिलती हुई ज्ञात होती है। जब 'पंत' जी 'गरज गगन के गान गरज गम्भीर स्वरो' मे कहते हैं तो वास्तव मे बादलों की गरज-सी आवाज प्रतिध्वनित होती जान पड़ती है।

वास्तव में पंत जी सौन्दर्य द्रष्टा कवि रहे हैं, पर 'युगान्त' तक जाते-जाते उनका सौन्दर्य युग समाप्त हो गया है और 'युगवाणी' में वे एकदम प्रगतिवादी हो गये हैं। यह है भारतीय साम्यवाद का प्रभाव। पंत जी ने अनुभव किया कि अब गीत-युग समाप्त हो गया और गद्य का कठोर युग आ गया। 'युगवाणी' जीवन की समझ और 'ग्राम्या' उसका एकदम व्यावहारिक रूप। इसके बाद ही पंत जी में दार्शनिक परिवर्तन हुआ।

धरती पर ही दिव्य जीवन व्यतीत करने का मंत्र अरविन्द ने दिया और उससे जिस विचारधारा का उदय हुआ उस अरविन्दवाद को साहित्य में नव-चेतनवाद कहते हैं। इसमें मनुष्यके अन्त.करण के विकास पर बल दिया जाता है। इनके काव्य 'लोकायतन' पर इस दर्शन का सर्वाधिक प्रभाव है।

विषय और भाव जगत् में 'पंत' जी पर अंग्रेज कवि शैली और गुरुदेव रवीन्द्र का भी प्रभाव है। मानवीकरण, प्रतीक, विधान तथा अप्रस्तुतों के अतिशय आयोजन में 'पंत' जी कुशल शिल्पी हैं। अंग्रेजी के विशेषण-विपर्यय अलंकार का भी यथास्थान प्रयोग 'पंत' जी की कविताओं मे हुआ है। सुन्दर, सत्य और शिव से 'पंत' जी का काव्य-जगत् समृद्ध हुआ है और उन्होंने काव्य की अपनी लम्बी उमर में आधुनिक हिन्दी कविता को कई नवीन मोड़ दिए हैं।

महादेवी वर्मा (जन्म सं० १९६४)

इनका जन्म उत्तरप्रदेश के फर्रुखाबाद जनपद मे हुआ। इनके पिता का नाम श्री गोविन्दप्रसाद और माता का नाम श्रीमती हेमरानी देवी था। इनकी आरम्भिक

शिक्षा इन्दौर मे हुई और बाद मे उच्च शिक्षा इन्होने प्रयाग विश्वविद्यालय मे प्राप्त की। संस्कृत में एम० ए० पास कर सम्प्रति प्रयाग महिला विद्यापीठ की आचार्या है।

महादेवी जी ने आरम्भ मे राष्ट्रीय गीत लिखे पर बाद में उन्होंने छायावादी शैली अपना ली। पं० रामचन्द्र जी शुक्ल छायावादी कहे जाने वाले कवियो में महादेवी जी को ही एकमात्र 'रहस्यवाद' के अतर्गत मानते हैं। किन्तु इनकी कविताओ मे बौद्धिक तत्व इतना अधिक उमड आया है कि उनकी रचनाओ मे सरल हृदय की वह सरस अभिव्यक्ति नही रह पाई है जो एक रहस्यवादी रचना के लिए आवश्यक है।

महादेवी जी की रचनाओं में विरह की असह्य पीड़ा तो है, वेदना की विह्वल विवृत्ति तो है किन्तु स्वीकार करने का उतना साहस नहीं है, जितना कि संकोच और झिझक। इनकी कविताओ में से यदि संकोच और झिझक निकाल दिया जाय तो निःसन्देह ही ये कविताए" अभाव जन्य-प्रणयी हृदय के स्वाभाविक स्वच्छन्द लौकिक उद्गार है। उनका काव्य व्यक्तिगत मानसिक संघर्ष, अभाव और बौद्धिकता के दु:खवाद से ओत-प्रोत है। पांडित्य और बौद्धिकता के कारण इनकी कविताओ मे साहित्यिकता भले आ गई हो—

> **"अब असीम से हो जावेगा**
> **मेरी लघु सीमा का मेल।"**

जैसे गीतो मे एक कही कुछ दूर की पुकार, पवन का एक झोंका, लहरो की एक करवट तथा तारो का कुछ मौन सगीत भले लक्षित हो किन्तु निःसन्देह कवियित्री के मन मे एक हूक उठी है जिससे वे गाने लगी है। **महादेवी जी अपने गीतों में दैवी के रूप में नहीं, एक 'मानवी' के रूप में दर्शन देती हैं।** उनके प्राण पागल है तो हठी लोभी भी हैं। आध्यात्मवादी महादेवी का अभिमान देखने योग्य है, जो निजत्व खो देने मे असमर्थ होकर प्रिय से मिलने नही देता।

> **"मिलन मन्दिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुंठन**
> **मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल कण**
> **सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं।"**

इनकी कविताओ में आधुनिकयुगीन नारी की इच्छा और माग निहित है। महादेवी जी के काव्य का प्रधान तत्व प्रेम तो अवश्य है, पर वह सूफियो के अन्दर जो आध्यात्मिक श्रेणियाँ हैं, इनमे वे नही, जिनमे यह भी नही कहा जा सकता कि इनके काव्य पर सूफियो का प्रभाव है। यद्यपि दोनों ने ही अपनी साधना विरह से ही आरम्भ की है। किन्तु दोनो के प्रियतम मे महान् अन्तर है। वह 'मीरा' का 'गिरधर' नागर भी नही है, क्योंकि महादेवी का ब्रह्म साकार ब्रह्म नही है। महादेवी जी के अन्दर भक्ति भी नहीं है क्योंकि उनमें दैन्य का अभाव है। इनका पुरावाद, विरहवाद, वेदनावाद,

सब एक ही है जो बुद्धिगत होने के कारण भाषा और कला में उलझ कर मानसिक व्यायाम बनकर रह गया है।

'महादेवी' जी प्रकृति के अन्दर विराट् और अपनी दोनों की छाया देखती हैं, जिसे हम प्रकृति से तादात्म्य की संज्ञा भी दे सकते हैं। वे सन्ध्या से अपनी तुलना करती हैं।

"प्रिय सांध्य गगन मेरा जीवन।
नव अरुण-अरुण मेरा सुहाग॥
छाया सी काया वीतराग।
सुधि भीने स्वप्न रंगीले घन॥"

अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से जो प्रकृति के मानवीकरण की परम्परा चली उसका भी प्रचुर प्रयोग इनकी कविताओं में पाया जाता है। पर वे इसका सम्बन्ध वेद की ऋचाओं से जोड़ती हैं। इन्होंने अपनी रचना 'धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी' में वसन्त रजनी को नारी-रूप में चित्रित किया है। 'महादेवी' जी प्रकृति के एक-एक रूप को स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करती हुई, उनके चेतन व्यापारों की कल्पना करती जान पड़ती हैं।

वेदना के क्षेत्र में व्यक्तिगत भावुकता से आरम्भ कर महादेवी जी क्रमशः भावना के क्षेत्र में विचरती गई हैं जिसे उनकी एक उड़ान में देखा जा सकता है—

चाहता यह पागल प्यार, अनोखा एक नया संसार,
कलियों के उच्छ्वास शून्य में ताने एक वितान,
तुहिन कणों पर मृदु कंपन से सेज बिछा दे गान,
जहाँ सपने हों पहरेदार अनोखा एक नया संसार॥

भावना-जगत् में विचरण करने वाली महादेवी संयम की अधिकता के कारण जागरूक कलाकार के रूप में ही पाठकों के सम्मुख आती हैं। उनके काव्य में प्रकृति घुली मिली है, उसका प्रयोग भाव और कला दोनों पक्षों में हुआ है किन्तु ऋतु आदि वर्णनों को उन्होंने कहीं आधार नहीं बनाया है।

नव्य स्वच्छन्दतावाद

छायावादी सर्जना के अन्तिम छोर पर दो साहित्यिक धाराएँ स्पष्टतः देखी जा सकती हैं। पहला छायावादोत्तर 'नव्य स्वच्छन्दतावादी गीति काव्य' और दूसरा 'प्रगतिवाद'। नव्य स्वच्छन्दतावादी गीति-परम्परा छायावादी कविता की ही एक विशेष प्रकार की विकास-यात्रा है जो अपने समस्त शिल्पगत चारुत्व एवं शाब्दिक मार्दव के बावजूद, अपने 'कथ्य' में लगभग अमौलिक तथा अपनी पूर्ववर्ती परम्परा की

अनुकृति-मात्र है। यह धारा किसी-न-किसी रूप में आज तक प्रवाहित है और इसमें इधर के दिनों में कुछेक अच्छी रचनाएँ भी सामने आयी हैं। इस दिशा में रामकुमार वर्मा, हरिवंश राय बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, रमानाथ अवस्थी, शम्भुनाथ सिंह, गिरधर गोपाल, प्रो० क्षेम के अतिरिक्त उमाकान्त मालवीय शिशुपाल सिंह 'शिशु', गोपाल सिंह नेपाली, नीरज, विद्यावती 'कोकिल', रामेश्वरी देवी 'चकोरी' और सुभद्राकुमारी चौहान आदि के योगदान विशेष महत्व रखते हैं। स्वच्छन्द या छायावादी कविता से यह धारा कुछ अर्थों में भिन्न है।

छायावाद अथवा स्वच्छन्दतावाद का अपना एक लक्ष्य था—'विराट मानव का अन्वेष।' इस काव्यधारा में प्रस्तुत विराट मानव का स्वरूप उपनिषदों के 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्वमसि', पौराणिक आदर्शवाद, बुद्धदेव की करुणा, प्लेटो के सत्य-शिव-सुन्दर तथा प्रभाव-रूप में अंशतः पश्चिमी स्वच्छन्दतावादी कवियों की काव्य-चेतना से रचित था, जिसे कल्पना के नेत्रों से देखने, छाया की तूलिका से चित्रित करने की चेष्टा की गयी थी। साथ ही समकालीन दासता-जन्य विषम स्थितियों की चुनौती देने के भाव भी उस 'मानव' में विद्यमान थे पर बन्धन न तोड़ पाने की विवशता-जन्य यंत्रण-पीड़ा के स्वर भी बार-बार सुने जाते थे। नवता की इस प्रवृत्ति ने बंगाल को सर्वप्रथम आन्दोलित किया था और वहाँ से यह प्रवृत्ति हिन्दी-काव्य में आई थी। इस वेदे के कवियों के संकल्प में तो समानता रही पर दृष्टि में पर्याप्त भेद देखने को मिलता है। जयशंकर प्रसाद ने उस विराट् मानव की खोज सुदूर अतीत के इतिहास में की जिसे 'मनु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' आदि चरित्रों में अभिव्यक्ति मिली है। 'सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का अन्वेषण' 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' में पूर्ण हुआ। महादेवी ने प्राचीन भारतीय अध्यात्मवाद तथा दर्शन ग्रन्थों में उस व्यक्तित्व के दर्शन किये। 'नीरजा', 'दीपशिखा' जैसी उनकी रचनाओं को प्रमाणस्वरूप देखा जा सकता है। सुमित्रानन्दन पंत ने निसर्ग से उस 'विराट' का परिचय प्राप्त किया। छायावादी काव्यधारा की समाप्ति तक यह स्थिति बदलती जान पड़ती है। 'नव्य स्वच्छन्दतावाद' में 'विराट् मानव' के स्थान पर 'अहं ग्रस्त मानव' के सीमाबद्ध संवेदनों की अभिव्यक्ति हुई और किसी-किसी गीतकार में वह 'निरंकुश' होकर भी उभरा। 'विराट' की यात्रा अधोमुखी होने पर सम्भवतः 'निरंकुशता' की ओर ही अग्रसर होती है। हाला, प्याला, मधुशाला में इसका साक्ष्य मिल सकता है।

रामकुमार वर्मा (जन्म सन् १६०५ ई०)

इनका जन्म मध्यप्रदेश के सागर जिले में हुआ था। पिता का नाम श्री लक्ष्मी-प्रसाद वर्मा और माता का नाम श्रीमती राजरानी देवी था। प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष रहे और अवकाश प्राप्त करने पर सम्प्रति सीलोन (लंका)

विश्वविद्यालय में हिन्दी के विभागाध्यक्ष हैं। वर्मा जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार हैं उनमें कवि-नाटककार का अद्भुत समन्वय हुआ है। गद्य गीतों की भी इन्होंने रचना की है। वीर हम्मीर, कुल ललना अंजलि अभिशाप, रूपराशि निशीथ, चितवन, चित्ररेखा तथा चन्द्रकिरण और आकाश गंगा नामक इनके प्रमुख काव्य ग्रन्थ हैं, जिनमें चित्ररेखा का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रबन्ध काव्यों की ओर भी वर्मा जी की रुचि रही है और परिणामस्वरूप उनका विशिष्ट प्रबन्ध काव्य 'एकलव्य' सन् १९५८ में सामने आया। इसमें 'महाभारत' की कथा को आधार बनाया गया है। इसके पूर्व लिखा 'चित्तौड़ की चिता' एक ऐतिहासिक कथानक वाला प्रबन्ध है।

हिन्दी के रहस्यवादी कवियों में भी वर्मा जी को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है, जिसका श्रेय इनके काव्य संग्रह 'चित्ररेखा' को है। इस पर इन्हें २००० रु० का देव-पुरस्कार भी मिल चुका है।

'वर्मा जी' के गीतों का कथ्य चिन्तन के आलोक में प्रोद्भासित है। लगता है, कवि ने मनन और अनुशीलन के साथ अपनी अनुभूतियों पर निरन्तर आस्था रखी है। यही कारण है कि उनके चित्रों में क्लिष्ट चित्र संकुलता न होकर स्पष्ट बिम्बता होती है। जैसे—

> "मैं तुम्हारे नूपुरों का हास।
> चरण में लिपटा हुआ करता रहूँ चिरवास।"

इस चिन्तन ने संसार की सुख-दुःखमयी नश्वरता की ओर भी उन्हें प्रेरित किया है। हिन्दी खड़ी बोली के रहस्यवादी कवियों में डा० राम कुमार वर्मा उच्च स्थान के अधिकारी हैं। इनके गीतों पर कबीर के रहस्यवाद और अद्वैतवाद का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। ये अपने गीतों में छोटे-छोटे चित्रों के सजाने में बड़े निपुण हैं। इनके गीतों में अभिव्यक्ति के क्षेत्र में उर्दू की विरोधात्मक एवं समतुल्य युक्ति विन्यास शैली का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। यत्र-तत्र कवीन्द्र रवीन्द्र की भी छाप दिखलाई पड़ती है। गीतकार के साथ ही डॉ० वर्मा प्रबन्धकार भी हैं। यह प्रबन्धात्मक रुचि आरम्भिक ऐतिहासिक कथाओं के आधार पर नहीं, बल्कि उनमें राजपूती, इतिहास तथा मुगल इतिहास प्रमुख हैं पर उनके 'एकलव्य' नामक महाकाव्य में यह प्रवृत्ति प्रस्फुटित हुई है। भाषा की दृष्टि से वर्मा जी विशुद्धतावादी दिखलाई पड़ते हैं। प्रकृति के उपकरणों को उन्होंने उपादान रूप में सुन्दरता से ग्रहण किया है। स्वतंत्र प्रकृति पर उनकी उक्तियाँ बहुत कम अथवा नहीं के बराबर हैं।

हरिवंश राय 'बच्चन' (जन्म सन् १९०७ ई०)

इनका जन्म प्रयाग के एक मोहल्ले में एक कायस्थ परिवार में हुआ। जीवन के आरम्भिक दिनों में 'बच्चन' जी को बहुत संघर्ष करना पड़ा। आर्थिक विपन्नता,

प्रथम पत्नी का वियोग आदि सब कुछ उन्हें सहना पड़ा। सन् १९४२ ई० में दूसरे विवाह के साथ इनका भाग्योदय हुआ और प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में नियुक्त हुए। बाद में देश विदेश की यात्रा की और राज्यसभा के सदस्य मनोनीत किए गए।

काव्य के क्षेत्र मे 'मधुशाला' के प्रकाशन के बाद इन्हे ख्याति मिली। उस समय (सन् १९३५ ई० के आस पास) कवि सम्मेलनों की धूम थी और उनमें 'बच्चन' की धूम थी। कोई भी बड़ा कवि सम्मेलन बच्चन और उनकी मधुशाला के अभाव मे अधूरा था। अपनी मौलिक और अनूदित रचनाओं के माध्यम से 'बच्चन' ने हिन्दी खड़ी बोली बड़ी समृद्धि प्रदान की है।

कविवर 'बच्चन' ने युवकोचित अनुभूतियों को जो कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है उसने एक विशेष प्रकार के पाठकों का तो निर्माण किया ही, साथ ही साथ उसने आधुनिक 'नव्य स्वच्छन्दतावाद की गीतिधारा' को भी सर्वाधिक प्रभावित किया है। प्रेम की जिस मस्ती का शंखनाद 'बच्चन' जी ने किया और सौन्दर्य की जो आकर्षक मधुमय धारा उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से बहाई उसमे युवक कवि एवं सहृदय जिन्दा दिल पाठक डूब गये। स्वच्छन्दतावाद के नाम पर परम्पराओं के प्रति जो जेहाद हिन्दी कविताओं मे बोला गया 'बच्चन' का स्तर उसमे सबसे ऊँचा रहा।

फारसी के प्रसिद्ध हालावादी कवि उमर खैय्याम की रुबाइयो की ओर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए आकर्षणों के कारण हिन्दी कविता मे भी एक नये जीवन का अंकुर फूटा। देश की परिस्थितियाँ भी कुछ ऐसी रही कि इस मस्तीवाद को प्रसार पाने की अनुकूल भूमि भी प्राप्त हो गई। हालावादी कवियो मे 'बच्चन' अत्यधिक लोकप्रिय रहे। उन्होने उमर खैय्याम की कविता का रूपान्तर किया, उसकी समता पर मधुशाला, मधुबाला, और मधु कलश आदि संग्रहो मे संग्रहीत कविताओ की सफल रचनाएँ कीं। इसके अतिरिक्त 'बच्चन' के अन्य संग्रहो मे प्राप्त कविताओ का आधार नारी आकर्षण है, जिसमे वायवीय उड़ान की अपेक्षा मांसलता अधिक है और उससे वासना की तीव्र गंध आती है। नारी 'बच्चन' के लिए अमृत तत्व है, प्रतिदान के रूप मे वे उसका रसपान करना चाहते हैं—

> 'तब तक समझूं कैसे प्यार
> अधरों से जब तक न कराए
> प्यारी उस मधु रस का पान, (आकुल अंतर)

कुछ मिलाकर 'बच्चन' का काव्य मिलन काल मे बिछुड़न की आशंका और नारी के स्थूल एवं मांसल सौन्दर्य की अतृप्ति से ओतप्रोत है। विषय एवं स्वरूप को लेकर

कविता के क्षेत्र में इधर जो नये-नये प्रयोग किए जा रहे हैं, उनका प्रभाव 'बच्चन' की बाद की लिखी जाने वाली कविताओं पर भी पड़ा है।

भगवतीचरण वर्मा (जन्म ३० अगस्त सन् १९०३ ई०)

वर्मा जी का जन्म उन्नाव जिले के शफीपुर ग्राम में एक कायस्थ परिवार में हुआ था। सम्प्रति लखनऊ में अपना निजी मकान बनवाकर स्थायी रूप से रहते हैं। अपने प्रसिद्ध उपन्यास के नाम पर इन्होंने अपने मकान का नाम 'चित्रलेखा' रखा है।

मधुकण प्रेम संगीत, 'मानव' विपथगा और रंगों से मोह वर्मा जी की प्रसिद्ध काव्य कृतियाँ हैं। भगवतीचरण वर्मा की वे कविताएँ जिनमें उन्होंने वियोगावस्था का वर्णन किया है, मानवीयता की भूमि पर अत्यन्त मार्मिक और विषादमय हैं। ऐन्द्रियता और अश्लीलता के भी दर्शन इनकी कविताओं में कहीं-कहीं हो जाते हैं। वर्मा जी मानवतावादी और नियतिवादी साहित्यकार हैं। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को प्रश्रय देने के कारण वर्मा जी की कविताओं का मूल स्वर मस्तीवादी' है।

नरेन्द्र शर्मा (जन्म २८ फरवरी सन् १९१३ ई०)

'शर्माजी' का जन्म जिला बुलन्दशहर के जहाँगीर पुर नामक ग्राम में हुआ था। शूल-फूल, कर्णफूल, प्रभात फेरी, प्रवासी के गीत, पलाशवन, मिट्टी और फूल, कामिनी, हंस माला, रक्त चंदन, अग्निशस्य, कदली वन, द्रौपदी और प्यासा निर्झर नामक प्रसिद्ध काव्य-कृतियाँ हैं।

नरेन्द्र शर्मा भाषा के क्षेत्र में सुमित्रानन्दन पंत के अनुयायी होते हुए भी भावों के क्षेत्र में 'पंत' से अधिक स्पष्ट मानवीय और मांसल हैं। नारी सौंदर्य की स्थूलता के प्रति आग्रह तो नरेन्द्र शर्मा की कविताओं में मिलता ही है पर उनमें उद्दाम वासना से उद्भूत पौरुष की उतनी छटपटाहट नहीं जितनी की निराशा, हाहाकार और परवशता है। भावों के माध्यम से विराट चित्रों के निर्माण में इस क्षेत्र के कवियों में नरेन्द्र शर्मा को अपेक्षाकृत सफलता अधिक मिली है।

शम्भुनाथ सिंह (जन्म सन् १९१७ ई०)

शम्भुनाथ सिंह का जन्म मध्यवर्गीय क्षत्रिय परिवार में हुआ था। आप सम्प्रति वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक हैं। शम्भुनाथ सिंह की प्रथम गीत कृति 'रूप-रश्मि' है। इसके गीतों में कवि के तरुण हृदय ने छायावादी अनुभूति कुहासा से बाहर आकर मुक्त दृष्टि के सहज रश्मि-आलोक में जीवन और मानव को देखने-परखने का नूतन प्रयास किया है। शम्भूनाथ सिंह के गीतों की विशेषताओं में कल्पना की रंगिम सचित्रता, अनुभूति ऐन्द्रियता एवं भाषा की सहजता प्रमुख है।

काव्य-शिल्प को लेकर जो इधर नवीन प्रयोग किए गए हैं, शम्भूनाथ सिंह जी भी उसकी चपेट में आए हैं।

श्रीपाल सिंह 'क्षेम' (जन्म २ सितम्बर सन् १९२२ ई०)

जौनपुर जिले के बशारतपुर ग्राम में 'क्षेम' जी का जन्म एक सम्भ्रान्त मध्यवित्तीय क्षत्रिय परिवार में हुआ था। सम्प्रति तिलकधारी डिग्री कालेज में हिन्दी के विभागाध्यक्ष हैं।

'जीवन-तरी' तथा 'नीलम ज्योति और संघर्ष' अब तक के प्रकाशित क्षेम जी के दो प्रमुख गीति संग्रह हैं। अनुभूतियों के परिशुद्धीकरण, प्रेम के विशदीकरण एवं कल्पना के आदर्शीकरण के साथ-साथ पद संगुफन के भावानुकरण की दृष्टि से क्षेम जी अपने समकालीन गीतकारों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनकी गीत साधना निरन्तर प्रवहमान है। उनमें रूप एवं वस्तु दोनों ही दृष्टियों में विस्तार-विकास होता गया है। 'क्षेम' जी एक ऐसे गीतकार रहे हैं जो काव्य रूपों में उत्तरोत्तर होने वाले नवीन प्रयोगों से अपेक्षाकृत अपने को बचा सके हैं। इससे गीतों के प्रति इनकी अटूट आस्था व्यक्त होती है।

अन्य कवि

इस नव्य स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा को समृद्ध बनाने में गोपाल सिंह नेपाली, शिशुपाल सिंह शिशु, नीरज, विद्यावती कोकिल, रामेश्वरी देवी चकोरी, गिरधर गोपाल, रमानाथ अवस्थी, उमाकांत मालवीय तथा जानकीवल्लभ शास्त्री आदि हैं। शास्त्री जी में 'रवीन्द्र' एवं निराला का सूक्ष्म संगुम्फन अपेक्षाकृत अधिक है और गिरधर गोपाल रमानाथ अवस्थी एवं गोपाल दास नीरज में 'बच्चन' के काव्य के क्रमशः ज्वलनवादी, सुख-वादी एवं मरणवादी तत्वों का प्राधान्य है।

प्रगतिवाद

द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका के साथ सन् १९४२ की राष्ट्रीय जनक्रान्ति ने मिलकर सम्मिलित रूप से देश का नक्शा ही बदल डाला। राजनैतिक संगठन शिथिल पड़ गए, सामाजिक नैतिक मान्यताओं में ह्रास के चिह्न लक्षित हुए। सत्रस्त मानव के पारिवारिक जीवन की समृद्धि घटकर सर्वथा कम हो गई और विघटन की स्थिति ने एकाकी-असहाय व्यक्ति—मन को विक्षुब्ध कर दिया। ऐसी दशा में कतिपय नवीन, सशक्त मूल्यों से नियमित समूहबद्ध जीवन में स्थापित होने की मानवीय आकांक्षा को 'मार्क्सवादी अर्थ-समाज दर्शन का आश्रय मिलता दीख पड़ा। मध्यवर्गीय जन सर्वप्रथम इस चेतना का मार्मिक पक्ष जानने-पहचानने को तत्पर हुए। कविता में यह दार्शनिक चेतना (भौतिक दर्शन) साहित्यिक मूल्य के रूप में गृहीत हुई। इस प्रगति काव्य

अथवा प्रगतिवादी काव्य में 'सामान्य मानव' को उसके आर्थिक सामाजिक बिन्दुओं में उपस्थित करने का संकल्प था। इस प्रगतिवाद को साम्यवाद का ही साहित्यिक रूप मानना चाहिए जो शोषितों का पक्षपाती और पूँजीपतियों का विरोधी है। **स्वच्छन्दतावाद के अन्तर्गत छायावाद यदि स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है तो प्रगतिवाद सूक्ष्म के प्रति स्थूल का विद्रोह है।** प्रगतिवादी कविताओं के साथ एक निश्चित भावधारा सन्निहित हो चली है। पूँजीवाद के नाश और समाजवाद की विजय में योग मिल सके, यही प्रगतिवादी कवियों का मुख्य उद्देश्य है।

काल क्रम में यह काव्य अपना मूल मन्तव्य खो बैठा और साम्यवादी राजनीतिक दलों के लिए 'नारों' की रचना में संलग्न हो गया। छायावाद के जिस 'अवास्तव' को प्रगतिवाद ने निषेधने की प्रतिज्ञा की थी, वह उद्देश्य सम्पन्न न हो सकी। सूर्यकान्त त्रिपाठी, निराला, शिवमंगल सिंह सुमन, रामेश्वर शुक्ल अंचल, नरेन्द्र शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, रामधारी सिंह दिनकर तथा नागार्जुन आदि कवियों का उल्लेख इस सन्दर्भ में किया जा सकता है।

शिवमंगल सिंह सुमन (जन्म सन् १९१६ ई०)

'सुमन जी' का जन्म एक सम्भ्रान्त क्षत्रिय परिवार में हुआ है। आप एम० ए० (हिन्दी) तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्र रहे हैं और वहीं से हिन्दी में पी० एच० डी० की उपाधि भी प्राप्त की। कुछ दिनों तक नेपाल में भारतीय दूतावास के 'कल्चरल अटैची' रहे। सम्प्रति माधव कालेज उज्जैन के प्रधानाचार्य हैं।

प्रगतिवाद को काव्य की सहज भूमि प्रदान करने वालों में 'सुमन' जी का विशिष्ट स्थान है। इनके कण्ठ में भले ही संगीत न हो, किन्तु इनके कवि में एक सहज भावुक हृदय है। 'हिल्लोले जीवन के गान', 'प्रलय सृजन', 'विश्वास बढ़ता ही गया' और 'पर आँखें नहीं भरीं' नामक 'सुमन' जी के प्रकाशित काव्य संग्रह हैं। इनकी रचनाओं को देखने से ऐसा लगता है कि वे काव्य साधना के क्षेत्र में निरंतर गतिशील रहे हैं। प्रकृति से लेकर आर्त मानव तक को 'सुमन' जी ने अपनी काव्य प्रतिभा की परिधि में समेटा है।

रामेश्वर शुक्ल अंचल (जन्म सन् १९१५ ई०)

'अंचल जी' का जन्म उत्तर प्रदेश जिला फतेहपुर के किशनपुर नामक गाँव में हुआ था। जबलपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष भी रह चुके हैं। सम्प्रति गवर्नमेंट कालेज रायगढ़ के प्रधानाचार्य हैं। गद्य और पद्य लेखन में 'अंचल' जी की समान गति है। वे अच्छे उपन्यासकार भी हैं। 'मधूलिका', 'अपराजिता', 'किरण वेला' 'करील', 'लाल चूनर', 'वर्षान्त के बादल', 'विराम चिह्न' तथा प्रत्यूष की भटकी किरण यायावरी अंचल जी के प्रकाशित काव्य संग्रह हैं।

अंचल जी ने सहज मानवीय मांसल भावों की अभिव्यक्ति के साथ अपना कवि जीवन आरम्भ किया था, पर समयानुसार जीवन की यथार्थता की ओर उनका कवि खिंचता आया। उनका भावावेग बड़ा ही तीव्र और मांसल है। नारी का सहज मांसल सौन्दर्य कवि की भावनाओं को बराबर कुरेदता रहा है और वह सदैव उसके प्रति निष्ठावान बना रहा है। सामाजिक जीवन के प्रति मंगलमयी कवि की दृष्टि 'मार्क्सवाद' है जिसके परिणाम स्वरूप प्रगतिवादी काव्य की सृष्टि हुई। अंचल की काव्य चेतना का स्वर शोषित सर्वहारा वर्ग के प्रति सदैव करुणापूर्ण रहा है।

अन्य कवि

हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद का आरम्भ एक ऐसी घटना है जिसने साहित्यकारों को काव्यगत मूल्यों के सम्बन्ध में नए ढंग से सोचने के लिए विवश कर दिया। परिणाम स्वरूप काव्य में विविध वादों के विकास के निमित्त अनुकूल भूमि प्रस्तुत हुई। कुछ ऐसे भी कवि हैं जिन्होंने काव्य की लम्बी उमर पाई है और वे उसके बदलते हुए मूल्यों के साथ स्वयं भी बदलते गए हैं। उदाहरण स्वरूप श्री सुमित्रानन्दन पंत का नाम लिया जा सकता है। इस प्रकार साहित्यिक वादों का ऐसा घालमेल मचा कि सहसा कवियों का वर्गीकरण वादों के आधार पर कर पाना कठिन है। अनेक कवि ऐसे मिल जायेंगे जिन्होंने प्रबन्ध पटुता, गीतात्मकता तथा अन्य काव्य रूपों के निर्माण में अच्छा यश अर्जित किया है पर कुछ रचनाएँ ऐसी की हैं जो प्रगतिवाद के अन्तर्गत स्वीकार की जा सकती हैं। उदाहरण स्वरूप 'निराला' नरेन्द्र शर्मा तथा रामधारी सिंह दिनकर का नाम लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन की साहित्यिक उपलब्धियाँ प्रगतिवादी काव्य के सन्दर्भ में विशेष महत्व रखती हैं।

नकेन वाद

'नकेन' शब्द (अपने संक्षेपीकृत रूप में) नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार और नरेश-तीन प्रपद्यकारों की स्थिति सूचित करता है। 'नकेन' के प्रपद्य नामक संग्रह में प्रोक्त तीनों कवियों की रचनाएँ 'प्रयोगवाद' का आरम्भिक स्वर निरूपित करती हैं। इन कवियों ने अपनी रचना को 'कविता' न कह कर, उसे प्रपद्य की संज्ञा से अभिहित किया है। (इसीलिए कभी-कभी 'नकेनवाद' को 'प्रपद्यवाद' भी कहते हैं।) संग्रह में दी गई 'भूमिका' नहीं, वरन् 'पत्पना' है। 'पत्पना' में क्रम से बारह सूत्र दिए गए हैं, जो अपने-आप में अलग-अलग घोषणा पत्र हैं। धारणा अनुचित नहीं है कि 'प्रयोगवाद' के जनक हैं नलिन विलोचन शर्मा-विशेषतः अपनी सन् १६३६ से ३८ तक की रचनाओं के मध्य। उनकी यह हिन्दी साहित्य को विशेष देन है, जिसे आज तक सचमुच उपेक्षा से देखा गया है या देख कर टाल दिया

स्वच्छन्दतावाद प्रौढ़ता की ओर बढ ही रहा था कि प्रगतिवाद ने उसे धर-दबाया क्योंकि छायावाद काल में ही उसके अंकुर कठोर हो चुके थे और वह भी पूर्ण जवान नही होने पाया था कि प्रयोगवाद आ धमका। प्रयोगवाद कूड़ा-करकट इकट्ठा करके हरियाली का स्वप्न देखने का उपक्रम ही कर रहा था कि अनुकूल भूमि पाकर नयी कविता का एक स्रोत फूठ निकला है।

प्रयोगवाद का आरम्भ जिस परिस्थिति मे हुआ उसे देखते हुए इसे उदार मानवतावाद (प्रयोगशील कविता) कहना अधिक समीचीन जान पड़ता है। इस काव्यधारा का उदय 'प्रगतिवाद' की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। प्रगतिवादी काव्य रूढिग्रस्त होकर जब मार्क्सवादी विचारधारा का पर्याय हो गया और उसमे अन्य विचारधारा के पोषक मानव-मात्र के लिए महानुभूति पूर्ण स्वर का अभाव हो गया, तो प्रयोगवाद के रूप मे उदार मानवतावादी विचारधारा का उदय हुआ। यद्यपि आगे चलकर यह विचारधारा भी 'प्रगतिवाद' की भाँति रूढ़ि की चपेट मे आ गई। प्रगतिवाद की रूढिग्रस्तता का सम्बन्ध 'कथ्य' से था और प्रयोगवाद की रूढिग्रस्तता का सम्बन्ध 'शिल्प' से।

प्रगतिवाद के जड़ी भवन ने तत्कालीन संवेदनशील, आत्मचेतस् व्यक्तित्वो को (तीव्रतम ढंग से) वैषम्य और अभावग्रस्त सामाजिक पर्यावरण मे शनैः शनैः व्यतीत होते हुए व्यक्ति-मानव की मानसिक सच्चाइयो—कुंठित आकांक्षा, आन्तरिक सन्त्रास, मर्म-पीड़ा या अवसाद के प्रति उदार होकर निकट से देखने, पहचानने और विश्लेषित करने के लिए प्रेरित किया। 'अज्ञेय' के नेतृत्व मे निजी पृथक् सत्ता का उद्‌घोष करने वाली साहित्य-धारा उदार-मानवतावादी-धारा के नाम से विज्ञापित हुई। प्रगतिवादी भौतिक दर्शन मे वस्तु दृष्टि से देखा जाने वाला 'मानववाद' पर्याप्त संकीर्ण प्रतीत हुआ, अतः उसे निवेदना अनिवार्य हो उठा। उदार मानवतावादी धारा का परिपार्श्व प्रगतिवाद से बिल्कुल भिन्न रहा हो, ऐसी बात नही थी। 'सामान्य मानव' को ही स्थापित करने का प्रयास इस धारा ने भी किया, पर मूलभूत (और व्यापक) अन्तर केवल एक था—व्यक्ति-मानव को बाहर से जितना देखा-पढा गया, उससे अधिक महत्वपूर्ण था व्यक्ति-मानव के आभ्यान्तरिक जगत् का दर्शन! मनोवैज्ञानिक दृष्टि (व्यापक और तटस्थ) पल्लवित करने की अपेक्षा थी, और वह हुई।

'अज्ञेय' के सम्पादकत्व मे (सन् १९४३ ई०) मे प्रकाशित 'तार सप्तक' नामक संग्रह से इस काव्य-धारा का आरम्भ मानना चाहिए। इसके प्रकाशन ने अपनी अपूर्व प्राणवत्ता के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि मानव के भीतर एक ऐसा स्फूर्त-स्पन्दन है जिसे किसी स्थिर 'सिद्धान्त' या 'वाद-विशेष' के निकष पर कदापि नही

आंका जा सकता। प्रयोग की यह परम्परा वेगपूर्वक दूसरे 'सप्तक' के प्रकाशन (सन् १९५१ ई०) तक चलती रही।

भाषा-शिल्पगत चमत्कारिक प्रयोगों के द्वारा प्रगतिवादी काव्य की लोकप्रियता को खण्डित करना इस काव्य-धारा का प्रमुख उद्देश्य बन गया था। "जिस प्रकार 'प्रगतिवाद शब्द' सामान्य प्रगति का परिचायक न रहकर मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित साहित्य का परिचायक बन गया, उसी प्रकार 'प्रयोगवाद' भी प्रगतिशील तथा स्वस्थ लोक मंगलकारी साहित्यिक प्रयोगों का परिचायक न रहकर एक प्रतिक्रियावादी संकीर्ण और मरणशील विचारधारा का पर्याय बन गया। छायावाद की जिस अस्पष्टता के विरोध में प्रगतिवाद की लोकप्रियता बढ़ी थी, प्रयोगशीलता के नाम पर यह काव्य-धारा भी अस्पष्टता का शिकार हो गई। नई बात कहने का दुराग्रह प्रतिभावान कवियों को भी अस्पष्टता, विलक्षणता और दुरूहता की ओर बढ़ा ले गया और वे बराबर ऐसी उक्तियों के चक्कर में पड़े रहे जिन्हें पढ़कर पाठक आश्चर्यचकित हो जाय, चाहे उनका कुछ अर्थ हो या नहीं। उदाहरण के लिए—

> "अगर कहीं मैं तोता होता!
> तो क्या होता?
> तो क्या होता,
> तोता होता!
> (आह्लाद से झूम कर)
> तो तो तो तो ता ता ता ता
> (निश्चय के स्वर में)
> हो ता हो ता हो ता!" —(रचना : सत्यप्रिय सिंह)

प्रथम बार 'तार सप्तक' में श्री गजानन मुक्त बोध, नेमिचन्द्र, भारत भूषण, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, डॉ० रामविलास शर्मा और 'अज्ञेय', सात कवियों की कविताएँ प्रकाश में आईं जिन्हें इस काव्यधारा को प्रवर्तित करने का श्रेय दिया जा सकता है।

इन कवियों की धारणा है कि व्यावहारिक जीवन की सफल अभिव्यक्ति काव्य-वस्तु एवं शैली-शिल्प के नवीन प्रयोगों द्वारा ही हो सकती है क्योंकि विज्ञान की प्रगति के कारण मानव के विश्वासों में इतने परिवर्तन उपस्थित हो गए हैं कि उन्हें अब पुराने उपमान भुलावा नहीं दे सकते। इन लोगों ने कविता के लिए नये विषय, नये छन्द, नये रूप, नये स्वर, नयी शैलियाँ, नयी ध्वनियाँ तथा अभिव्यक्ति के नये ढंग अपनाये। सुन्दर, मधुर एवं कोमल के स्थान पर प्रयोगवादी कवियों ने नदेन, अनगढ़ और परुष शब्दों को महत्त्व प्रदान किया। छायावाद की अतीन्द्रियता, अमूर्त भावना, रहस्य भावना और कल्पना दृष्टि के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप प्रयोगवाद आया। यहाँ पहुँचकर

काव्य के सभी रीतिकालीन उपमान पुराने पड़ गए। इसके मूल मे थे आधुनिक आविष्कार। निश्चित ही इस पर भी प्रगतिवाद की भाँति मार्क्सवाद का प्रभाव पड़ा है। प्रयोगवादी कवि की दृष्टि मे आज चन्द्र, वसंत, कमल, सरिता, उद्यान आदि को उतना ही महत्व बल्कि उससे कम ही मिल सकता है जितना कि तीन टाँगों पर खड़े नतग्रीव गदहे, भैसे गाड़ी, हरीघास, नदी के द्वीप, चप्पल, चाय और सीला बीनने वाली को। यह कवि संसार की प्रत्येक वस्तु पर लिखना चाहता है।

बौद्धिक तत्व के कारण उनमे इतनी बोझिलता आ गई है कि छायावाद की भाँति वे अपनी स्पष्ट अनुभूति भी नही कर पाये, यद्यपि उन लोगों ने भावो की सफल अभिव्यक्ति देने के लिए भाषा प्रयोग की स्वतन्त्रता ली और कामा, टेढ़ी लकीरों तथा बिन्दुओ आदि का भी प्रयोग किया।

सामाजिक उत्तरदायित्वहीनता के कारण ही इन कवियों को असफलता मिली। एक दृष्टि से देखा जाय तो प्रगतिवादी कविताओं की अपेक्षा इनमे स्वच्छन्दता की भावना अधिक थी क्योंकि वे सर्वथा स्वतन्त्र होना चाहते थे।

'अज्ञेय' (सन् १६११ ई०)

'अज्ञेय' जी का वास्तविक नाम सच्चिदानन्द वात्स्यायन है। इनके पिता पण्डित हीरानन्द शास्त्री पुरातत्व वेत्ता थे। पिता के नाम को मिला 'अज्ञेय जी' अपना नाम 'सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन' लिखते है, पर काव्य-साहित्य जगत् मे 'अज्ञेय' नाम से विख्यात हैं। इनकी आरम्भिक शिक्षा संस्कृत, फारसी तथा अंग्रेजी में हुई। बी० एस-सी० करने के बाद अंग्रेजी मे एम० ए० करना चाहते थे पर क्रान्तिकारी दल मे सक्रिय भाग लेने के कारण बन्दी जीवन की यातनाएँ चार वर्ष तक सहनी पड़ी जिससे अध्ययन छूट गया। सैनिक सेवा, सम्पादन तथा विदेश यात्रा आदि के प्रत्यक्ष अनुभवों ने 'अज्ञेय' के साहित्यिक जीवन का निर्माण किया है। उपन्यास, कहानी, निबन्ध तथा कविता आदि सभी क्षेत्रों मे इन्होंने साहित्य को नयी दिशा दी है।

अज्ञेय जी की अब तक प्रकाशित रचनाएँ 'अग्रदूत', 'चिंता', 'इत्यलम्', 'हरी घास पर क्षण भर', 'बावरा अहेरी', 'इन्द्रधनुष रौंदे हुए ये', 'अरी ओ करुणा प्रभामय' और 'आँगन के पार द्वार' हैं। विषय और शिल्प की दृष्टि से अज्ञेय जी की काव्य प्रतिभा मे उत्तरोत्तर विकास होता गया है। 'हरी घास पर क्षण भर' नामक काव्य-संग्रह मे 'अज्ञेय' का कवि अपनी प्रौढ़ता की पराकाष्ठा पर है। सभी दृष्टियों से यह काव्य संग्रह ताजगी लिए हुए कवि की मौलिक प्रतिभा का साक्षी है। समय क्रम में अज्ञेय जी आध्यात्मिकता की ओर मुड़ते जान पड़ते है। 'आँगन के पार द्वार' नामक अपने नवीनतम काव्य-सग्रह मे उन्होंने इसका परिचय दिया है। भौतिकवादी संस्कृति

की निस्सारता का अब उन्हें आभास-सा होने लगा है, और उनका 'व्यक्ति' आत्मदर्शन—उपासना की ओर मुड़ चला है।

अपनी कुछ कविताओं में 'अज्ञेय' जी प्रतीकों के माध्यम से अपनी बातों को स्पष्ट करते हैं। जैसे 'दीप' और 'नदी के द्वीप'। उन्होंने 'दीप' को व्यक्तित्व की विशिष्टता को व्यक्त करने और 'नदी के द्वीप' को *व्यक्तित्व को व्यंजित करने का माध्यम बनाया* है। प्रणय, प्रकृति, दैनिक जीवन और युग-जीवन आदि अज्ञेय की रचनाओं के प्रिय विषय रहे हैं। इनकी काव्यगत उपलब्धियाँ, इन्हें युगांतकारी कवि सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इन्होंने कविता के विकास को अनेक मोड़ों पर अपनी प्रतिभा से प्रभावित किया है।

शमशेर बहादुर सिंह (जन्म सन् १६११ ई०)

'शमशेर' जी सम्प्रति प्रयाग में रहकर स्वतन्त्र रूप से *साहित्य साधना* करते हैं। इसके पूर्व वे प्रयाग विश्वविद्यालय की पेंटिंग कक्षाओं के सहायक शिक्षक रह चुके हैं और उन्हें पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन का भी अनुभव है। साहित्य साधना के साथ-ही-साथ इन्होंने चित्रकला की भी साधना की है जिसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर देखा जा सकता है। इसी आग्रह के कारण उनकी कविताओं में शिल्पगत दुरूहता *आ गयी है और वह सहज सम्वेद्य नहीं रह पाई है। 'तारसप्तक'* के प्रकाशन क्रम में शमशेर जी 'दूसरा सप्तक' (सन् १६५१ ई०) के कवि हैं। इसके अतिरिक्त 'उदिता' और 'बात बोलेगी—हम नहीं' नामक इनके दो काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। समसामयिक पत्रिकाओं में अपने नवीन प्रयोगों के कारण 'शमशेर' जी काफी लोकप्रिय रहे हैं। इनकी कविताओं पर संगीत, नृत्य, चित्र और मूर्तिकला का व्यापक प्रभाव पड़ा है। उर्दू के कवियों का भी प्रभाव उनपर देखा जा सकता है।

भवानी प्रसाद मिश्र (जन्म सन् १६१४ ई०), नेमिचन्द्र जैन (जन्म सन् १६१८ ई०) गिरिजाकुमार माथुर (जन्म सन् १६१६ ई०) भारतभूषण अग्रवाल (जन्म सन् १६१६ ई०) आदि कवियों की रचनाएँ प्रयोगवाद के अन्तर्गत आती हैं। इसके अतिरिक्त शेष बहुत से ऐसे प्रयोगवादी कवि भी हैं जो नयी कविता के नाम से चल रहे काव्यगत आन्दोलन के अंग बन गए हैं।

नयी कविता (सन् १६५२–६० ई०)

प्रयोगशील कविता को नई अभिधा ('नयी कविता') की आवश्यकता इसलिए नहीं आ पड़ी कि 'प्रयोग' की सार्थकता नहीं रह गयी थी—या कि कवियों ने अपना वांछित लक्ष्य—अभिव्यक्ति के स्तर पर—प्राप्त कर लिया था। बल्कि जैसा कि अज्ञेय ने स्वयं उद्घाटित किया है, प्रयोग का कोई वाद नहीं होता; अतः इसे 'वाद' अथवा

किसी साहित्यिक प्रवृत्ति-विशेष के बोधक शब्द के रूप मे ग्रहण करना अनुचित ही था। प्रयोगो के चक्कर मे उलझे रहने के कारण कवियो की दृष्टि जब भावानुभूतियों की ओर नही जा सकी तो फलस्वरूप 'नयी कविता' का आन्दोलन उठ खडा हुआ। इसमे अपेक्षाकृत वातावरण चित्रण, भावुकता तथा स्वच्छन्दतावादी विचारो के दर्शन अधिक मिल जाते हैं। छन्दो के सम्बन्ध मे इन कवियों की दृष्टि अत्यन्त उदार है और ये गद्यात्मकता के निकट चले आए है अन्यथा स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति प्रदान करने में इन कवियो की रचनाएँ पूर्ण सक्षम है। काव्य-रूप को सामने रखकर प्रयोगवादी और नयी कविता मे कोई एक निश्चित रेखा नही खीची जा सकती। निश्चित ही नयी कविता स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के एक अग का विकसित रूप है। स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा का अविछिन्न प्रवाह नयी कविता मे वर्तमान है, पर नयी कविता के लेखको का आग्रह परम्परा पालन की दिशा मे नही है। जिस प्रकार 'प्रगतिवाद' और 'प्रयोगवाद' का उदय प्रतिक्रियास्वरूप हुआ था, उसी प्रकार की प्रतिक्रिया ने नयी कविता को भी जन्म दिया है। नये कवियो के मूल में जो धारणा कार्य कर रही है वह यह कि कविता के छन्द और उपमान इतने पुराने पड़ गए हैं कि आधुनिक विकसित समाज की अनुभूतियो को अभिव्यक्ति उनके माध्यम से नही दी जा सकती। इन कवियो मे विषय की नवीनता के प्रति उतना आग्रह नही है जितना कि विषय की व्यापकता के प्रति और यही कारण है कि स्वच्छन्दतावादी तथा प्रयोगवादी काव्यधारा के न जाने कितने श्रेष्ठ कवि नयी कविता की ओर खिंचे चले आ रहे हैं।

'नयी कविता' को कुछ नवीन अभिप्राय 'तीसरा सप्तक' के सम्पादकीय वक्तव्य से प्राप्त हुए। सम्पादक (अज्ञेय) ने वहाँ जिस ढंग से अपना आत्मतोष व्यक्त किया है, उसमे नयी कविता का उत्साह दुगुना तो अवश्य ही हो गया। पिछले दिनो इस बात पर काफी चर्चा उठी कि नयी कविता का 'नया मानव' ('जगदीश गुप्त') क्या है। विजयदेव नारायण साही की बात रख ली जाय, तो मानना पड़ेगा कि वह मानव 'लघु मानव' है। जगदीश गुप्त के सम्पादकत्व मे निकलने वाली (सन् १९५४ से १९६४ ई० तक) 'नयी कविता' नामक पत्रिका ने इस आन्दोलन को पर्याप्त सुदृढ बनाया है। गजानन माधव मुक्तिबोध (जन्म सन् १९१७ और मृत्यु सन् १९६४ ई०), जगदीश गुप्त (जन्म, सन् १९२४ ई०) धर्मवीर भारती (जन्म सन् १९२६ ई०), कुँवरनारायण (जन्म सन् १९२७ ई०) सर्वेश्वर दयाल सक्सेना (जन्म सन् १९२७ ई०) रमासिंह (जन्म सन् १९२७ ई०) केदारनाथ सिंह (जन्म सन् १९३२ ई०) दुष्यन्त कुमार (जन्म सन् १९३३ ई०) अजितकुमार (जन्म सन् १९३३ ई०) और कीर्ति चौधरी, इस विधा के प्रमुख कवि है।

गजानन माधव मुक्तिबोध

मुक्तिबोध की कविता एक स्थापत्य है जिसकी नींव गहरे—बहुत गहरे में छुड़ी हुई है। वहाँ सुरंगें हैं और सुरंगों में घनान्धकार ! या कि कवि का वह गहन अन्तर्मन है, जिसमें एक अनुत, अपार, अवचेतन का रहस्यमय मौन तरंगायित है। अज्ञात, अन्तहीन सुरंगों में पैठना ही, मानो कवि का अभीष्ट है। या कि, अपने ही मनोजगत् के किसी अनजान बिन्दु को स्पर्श करने के लिए वह आकुल है, 'अनभिव्यक्त' को 'आत्मसम्भवा अभिव्यक्ति' देने के लिए आतुर। मुक्तिबोध के काव्य-संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' ऐसी कविताओं का अद्भुत संग्रह है। 'फैंटेसी' मुक्तिबोध की कविता का प्राण है! 'फैंटेसी' रचना और उसमें स्वयं खो जाना मुक्तिबोध के कवि की पहचान है। यह 'फैंटेसी' उस रहस्य-लोक में परिणत हो जाती है, जिसमें एक-ही माथ, एक ही क्षण में 'देश-देश के मर्दों' को वाणी मिलती है। जिस प्रकार मुक्तिबोध अपने जीवन-काल में एकाकी थे, उसी प्रकार अपनी सर्जना में भी वे अकेले है, बेजोड़ हैं।

इसके अतिरिक्त जगदीश गुप्त की कविताओं में 'यथार्थ परिवेश का प्रतिफलन', धर्मवीर भारती में 'रस-रोमांच अथवा युग के यथार्थ से द्रवित अनुभूतियों का अंकन', 'कुँवरनारायण में वस्तुवाद और अध्यात्मवाद का सामंजस्य' सर्वेश्वर दयाल सक्सेना में 'जीवन के प्रति बौद्धिक दृष्टिकोण का अंकन', रामसिंह में 'जीवन की यथार्थता से उत्पन्न आत्म-मंथन', केदारनाथ सिंह में 'मानववादी विश्वासों के प्रति आस्था के भाव', दुष्यन्त कुमार में 'भविष्य के प्रति आस्था और वर्तमान के प्रति संघर्ष की भावना' और कीर्ति चौधरी की कविताओं में 'रोमानी भाव बोध' की झाँकी मिलती है।

कविता : सन् '६० के बाद

गत सात वर्षों में नवलेखन की दिशा कितनी दूर तक नूतन, परिवर्तित अभिप्रायों का ग्रहण या निरूपण कर सकी है, इसका कोई गणितीय आकलन भले ही न प्रस्तुत किया जा सके, पर इतना तो निश्चित है कि लेखकों में आत्मविश्लेषण तथा निजी परिप्रेक्ष्य (पर्सपेक्टिव) को देखने-भालने की दृष्टि और चेतना दोनों में पर्याप्त अन्तर आया है। यान्त्रिक विश्व में जहाँ एक ओर अति-सभ्य मानव-वर्ग गठित हुए हैं, वहीं दूसरी ओर समग्र पिछड़ेपन के साथ एक अति असभ्य समुदाय भी साँस ले रहा है। सचेत और क्रियाशील व्यक्तित्व भी आज संक्रान्त है—विष्णुचन्द्र शर्मा की उक्ति :

> हम निरे आकार हैं
> आँधी नहीं हैं
> ढुह रहे हैं
> विवश खुद को —'क्रिया और मैं'

आज का व्यक्ति दुहरा व्यक्तित्व जी रहा है—भीतर से कुछ, बाहर से कुछ ! ऐसी स्थिति में, कभी-कभी वह स्वयं भ्रमित हो जाता है कि उसका वास्तविक स्वरूप (इन दोनों में से) कौन-सा है ! साठोत्तर कविता-धारा में 'संक्रान्त मानव' के अन्तर्बाह्य पक्षों का अंकन प्रधान है। लेखकों में श्रीकान्त वर्मा, कैलाश वाजपेयी, दुष्यन्त कुमार, विष्णुचन्द्र, राजकमल चौधरी आदि उल्लेख्य हैं।

स्वर्गीय राजकमल चौधरी की रचनाओं पर अलग से चिन्तन अपेक्षित है। मद्यः दिवंगत राजकमल चौधरी का जन्म दिसम्बर १३, १६२६ में हुआ था। मूलस्थान— माहिष्मती। बर्मा, मलाया तथा पूर्वी द्वीपों की यात्रायें लगभग उन्नीस वर्ष की ही अवस्था में सम्पन्न की। अनेक मासिक-साप्ताहिक पत्रों एवं बंगाली फिल्मों में सम्पादन-कार्य।

रचनाएँ

१—आदि-कथा (उपन्यास)
२—स्वरगन्धा (कविता)
३—मुनो व्रजनारी (उपन्यास)
४—कथा-पराग (कथा-संग्रह)
५—जलतरंग (फिल्म स्क्रिप्ट)
६—नदी बहती थी (उपन्यास)
७—कंकावती (कविता)
८—मुक्तिप्रसंग (कविता)
६—सौ अनार एक बीमार (उपन्यास)

अन्तर्जगत् के आदिम सत्यों (स्वीकृत या वर्जित सभी कुछ) का (निर्बन्ध) प्रकाशन राजकमल की रचनाओं का 'सत्य' है :

देह का ताप मर जाये
तो धर्म आएगा।
आएगा वैराग्य।
आ ही जायेगी शांति अखण्डित।
देह का ताप मर जाये
तो मैं मर जाऊँगा। —'क्रम'

बीते हुए 'युगों' में भी जब कभी वह भटकता है, तो वहाँ भी 'स्व' को ही तलाशने का भाव रहता है—

इस सागरमुखी पर
तुम अकेले हो!
ईश्वर नहीं है।
सदियों पहले कुन्ती तुम्हें कर चुकी है जल-प्रवाह।
केवल,
तुम्हारी चट्टान मे
टकराती रहती हैं किरनें सूरज की। —'कर्ण महारथी'

राजकमल का 'संक्रान्त मानव' आधुनिकता के सन्दर्भ में 'विमूढ़' होकर खड़ा है:

रामलीला देखकर
वापस लौटा हुआ
अबोध बालक अब तक अपना घर ढूँढ़ रहा है।
मैं उसका पिता हूँ।

अस्वीकृत, सहज और गीत कविता

साठोत्तरी पीढ़ी 'कविता-अकविता' की बहस तक ही सीमित न रहकर भिन्न-भिन्न दिशाओं में नये-नये 'बोध' जुटाने का प्रयास करती दिखाई पड़ती है। नवीन हस्ताक्षरों के साथ न केवल 'अ-अकविता' की चर्चा हुई है, बल्कि 'युयुत्सावादी कविता', 'द्वीपान्तर कविता', 'अस्वीकृत कविता', 'सहज कविता' आदि अनेक नाम अब सुने जाने लगे हैं। नयी कविता : अंक ८ में डॉ० जगदीशगुप्त ने इन नामों (लगभग अँड़तालीस नाम) की रोचक सूची दी है (दे० पृ० २४६-४७)। विशेष विस्तार न देकर प्रमुख रूप से 'अस्वीकृत' और 'सहज' कविता पर यहाँ विचार कर लेना चाहिये। अस्वीकृत कविता का अभिप्राय स्थूलतः पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों से लेखक के पास वापिस लौटी हुई कविता नहीं है। यों इसको परिमापित करने के अलग-अलग ढंग हैं, लेकिन यह अधिक समीचीन जान पड़ता है कि समूह-जीवन में भीतर-भीतर व्याप्त उन अपरिहार्य सचाइयों को यह उद्घाटित करती है, जिन्हें बाहरी आभिजात्य के रक्षार्थ इनकारा या अमान्य किया जाता है, परन्तु मूलतः उनसे असम्पृक्त नहीं हुआ जा सकता। अतएव अस्वीकृत कविता बाह्य सतह पर अस्वीकार की जाने पर भी, भीतरी सतह पर दृढ़ स्वीकृति प्राप्त करती है। इस धारा के लेखकों में श्रीरामशुक्ल बहुचर्चित हैं। उदयशंकर माधव की एक लम्बी कविता ('धन्य उर्वीवर') का एक अंश द्रष्टव्य है:

(मैंने में और मैं को मिलाकर 'हम' कहना शुरू किया है......)
हमारे देखते-देखते
पुजारिन विधवा के गर्भ से उत्पन्न 'प्रेम'
के ऊपर से मेल ट्रेन के पहिये रौंद गये हैं
लेकिन हमें रहना है अवश्य
मरना है, पर लाश नहीं होना है। × × × ×
इस कभी न पूर्ण होने वाले नागयज्ञ में
पुरोहित अनामंत्रित ही रहेगा
स्वयं करना है मंत्रोच्चार, स्वयं देनी है आहुति......
'स्वाहा' जीवन की सार्थक परिभाषा है

× × ×

हमें क्लीव नहीं होना है—
हव्य, जो पिंड के भीतर रखा-रखा, स्वच्छ हवा, रोशनी के अभाव में
मवाद बन चुका है, निर्धूम अग्नि से धधकती मांस-कंदरा में स्थित
शीश-रहित मसीहा को शंकुहस्त से देना और देना। हम व्रती हैं।

'सहज कविता' का नाम मार्च, सन्'६७ में सुनाई पड़ा और सन्'६८ में (डॉ० रवीन्द्र भ्रमर के सम्पादन में) 'सहज कविता—१' प्रकाशित हुई। इस संग्रह में कुल ७१ कवि और ६२ कविताएँ हैं। 'सहज कविता', सम्पादक के अनुसार, 'आज की विषम काव्य-परिस्थितियों में 'कविता' की खोज मात्र है'—सहज कविता—१, पृ० ८। अजय कुमार से एक उद्धरण पर्याप्त होगा—

धूप तेज होती है
धूप तेज होती है
और छोटी सी झाड़ी में एक नन्हीं चिड़िया
गाने लगती है
टूट जाती है दोपहरी की तन्द्रा
याद हठी बच्चे सी
सूने दीवारों के साये पर
दरपन चमकाने लगती है।   —(याद)

'गीत कविता' के अन्तर्गत नवयुवक कवि प्रभातरंजन के 'सूनी घाटी का गीत' नामक संग्रह-ग्रन्थ की कतिपय रचनाएँ आती हैं।

अन्य कविगण

विभिन्न काव्यधाराओं के प्रभाव में जो काव्य रचनाएँ हुईं उनके अतिरिक्त भी काव्य रचनाएँ होती रही हैं। उनमेंसे कुछ कवि तो ऐसे हैं जिनका कि ऐतिहासिक महत्व है और उनकी काव्य-कृतियाँ अत्यन्त समादर की दृष्टि से देखी जाती हैं। बहुत से ऐसे भी कवि हैं जिनकी अधिकांश कविताओं को काव्य संग्रहों में आने का अभी सौभाग्य नहीं मिल सका है, पर वे पत्रिकाओं एवं कवि-सम्मेलनों के माध्यम से सहृदयों को अपनी ओर आकर्षित करती रही हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी युग के आरम्भिक दिनों में ही स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा का उदय हो चुका था जिसका अनेक रूपों में आगे विकास होता रहा। शैलीगत विशिष्टताओं के कारण छायावादी काव्य की जो एक विशिष्ट धारा का विकास हुआ उसके मूल में भी स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा ही थी। इस प्रसंग की चर्चा मैंने अपनी दूसरी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा' में की है।

मुकुटधर पाण्डेय (जन्म सन् १८९५ ई० में बालापुर, बिलासपुर, मध्यप्रदेश) ऐसे ही कवियों में थे जिन्होंने छायावादी काव्य की पृष्ठ भूमि निर्मित की थी। इनकी रचनाएँ द्विवेदी युगीन और छायावादी कविताओं के मध्य में आती हैं। एक प्रकार से ये सन्धि काल के कवि हैं। 'नक्षत्र' 'कानन कुसुम' और 'पूजा-फूल' इनकी उल्लेखनीय काव्य कृतियाँ हैं। 'काव्य-संग्रह' नाम से इनकी कविताओं का एक संकलन भी प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त 'शैलबाला', 'लच्छमा', 'परिश्रम', 'समाज-कण्टक', 'हृदय दान', 'कार्तिक-माहात्म्य' तथा 'इटालीय युवक' इनकी लिखी अन्य पुस्तकें हैं।

इस काल में कुछ ऐसे कवियों के दर्शन हुए थे जिनमें स्वच्छन्दतावादी काव्य की विशेषताएँ विद्यमान थीं पर वे प्रबन्धात्मकता की ओर झुके रहने के कारण इस काव्य प्रवाह के किनारे-किनारे ही चलते रहे और औसर मिलने पर अपनी रोमानी भावनाओं की अभिव्यक्ति भी करते रहे। ऐसे कवियों में श्रीगुरुभक्तसिंह 'भक्त' का नाम प्रमुख है।

गुरु भक्तसिंह 'भक्त' का जन्म (सन् १८९३ ई०) गाजीपुर जनपद के जमानिया नामक स्थान में हुआ। सम्प्रति वे अपना निजी मकान बनवाकर आजमगढ़ में ही बस गए हैं जहाँ वे अवकाश प्राप्त करने के पूर्व तक म्युनिसिपल बोर्ड में एक्जीक्यूटिव आफिसर रहे।

'सरस सुमन', 'कुसुम-कुंज', 'वंशी-ध्वनि' 'वन श्री' 'नूरजहाँ' तथा 'विक्रमादित्य' 'भक्त जी' की काव्य कृतियाँ हैं। साहित्य जगत में इनका प्रवेश 'निराला' और 'पन्त' के साथ ही हुआ था, किन्तु उनकी प्रथम कविता पुस्तक 'पन्त' की 'पल्लव' के बाद प्रकाशित हुई। 'भक्त' जी का दृष्टिकोण आध्यात्मिक पृष्ठभूमि और रहस्यात्मक अनुभूतियों से दूर मानववादी ही है। 'पन्त' और 'निराला' जिस समय अपनी

आध्यात्मिक और प्रकृति-परक रचनाएँ कर रहे थे, 'भक्त जी' उस समय शुद्ध रूप से प्रकृति और मानव अनुभूतियों को अपने काव्य का विषय बनाकर रचनाएँ कर रहे थे। 'सरस सुमन', 'कुसुम-कुंज' 'वंशीध्वनि' और 'वन श्री' नामक अपने स्फुट काव्य संकलनों में उन्होंने प्रकृति के सामान्य रूप पर 'वर्ड्सवर्थ' की भाँति रीझ कर प्रकृति वर्णन की एक नवीन परम्परा ही काव्य में चला दी। एक प्रकृति प्रेमी कवि की प्रकृति के प्रति जितनी सहज रागात्मक एवं मानवीय सम्वेदना हो सकती है, भक्तजी का प्रकृति प्रेम उसी भूमिपर पल्लवित् और प्रसरित हुआ है।

प्रबन्ध काव्यों में भी 'भक्त जी' की अपनी विशेषताएँ सर्वत्र देखने को मिल जाती है। 'नूरजहाँ' का कवि हठीली-सलोनी भोली बालिका के रूप पर ऐसा रीझा कि अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों की गहराई में उतर कर भी उसे न भूल सका। बिम्बग्रहण की अद्भुत क्षमता 'भक्त जी' को मिली है जिसके लिए न तो उन्होंने काव्य के सिद्धान्तों का अनुसरण किया है और न तो शब्द जाल के निर्माण का द्रविड़ प्राणायाम ही। 'भक्त जी' मूलतः प्रकृति के कवि है। इनकी भावधारा में एक अँगूरी मादकता है। स्वच्छन्द आवेग अपनी सहज ऊष्मा के साथ उनकी कविताओं में अभिव्यक्त हुए हैं। इस सहज भाव विस्तार में कहीं भी दर्शन और विचार रूढ़ियों की गाँठ नहीं है। समस्त भाव विस्तार के पीछे कवि का एक फड़कता हुआ स्वच्छन्द व्यक्तित्व विद्यमान है।

जयशंकर प्रसाद के काव्य 'आँसू' के मूल स्वर से प्रभावित होकर अनेक कवि मैदान में आये। कुछ कवि तो ऐसे भी रहे जिन्होंने रचनायें 'आँसू' से भी पहले अथवा कुछ ही बाद में की थी पर प्रकाश में न आने के कारण ही वे उपेक्षित रहे। इस सन्दर्भ में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र का नाम लिया जा सकता है।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र का जन्म (सन् १९०३ ई) आजमगढ़ जनपद में एक सामन्ती मनोवृत्ति के कुलीन ब्राह्मण परिवार में हुआ है। गाँव में पैत्रिक निवास के अतिरिक्त आजमगढ़ शहर में भी उन्होंने अपना एक भव्य भवन बनवा रखा है। सम्प्रति काशी में अपना एक अत्यन्त सुरुचिसम्पन्न भवन बनवा कर कई अधूरी कृतियों को पूर्णता प्रदान करने के लिए, स्थायी रूपसे रह रहे हैं। हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में मिश्र जी को अत्यधिक यश प्राप्त हुआ, इससे उनके कवि जीवन को लोग भूल से गए। 'प्रसाद' कृत 'आँसू' से पहले मिश्र जी का 'अन्तर्जगत' लिखा जा चुका था। मिश्र जी की अभिव्यक्ति निश्चित ही 'आँसू' से टक्कर लेती है, यह दूसरी बात है कि वे अपनी इस प्रतिभा को विकसित नहीं कर पाये—

नीचे सिन्धु भर रहा आह, हँसते नखत गगन में,
सबसे दूर जल रहा दीपक तेरे भव्य भवन में। (अन्तर्जगत)

मिश्रजी का एक अधूरा महाकाव्य 'सेनापति कर्ण' पूर्णता की प्रतीक्षा कर रहा है। इस महाकाव्य का जितना अंश प्रकाशित हुआ है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूर्ण हो जाने पर यह इस युग का अत्यन्त महत्वपूर्ण महाकाव्य सिद्ध होगा।

इसी प्रकार विश्वनाथ लाल 'शैदा' के 'मर्म' की पंक्तियाँ भी काफी पहले लिखी गईं पर वे समय से पहले प्रकाश में न आ सकीं।

नतमस्तक सहमी सकुची-सी भू पर आँख गड़ाये।
मूक वेदना के आँचल में मन के भाव छिपाये॥
भीगी पलकों में रोके अव्यक्त अश्रु का पानी।
लिखती और मिटाती-सी पर नभ से मर्म कहानी॥
परछाईं से सिहर-सिहर आहट से कँप-कँप जाती।
अकस्मात घबराई-सी घूँघट में बदन छिपाती॥
नवयौवन के नवविकास में रंग-रूप मदमाती।
मंद-मंद सम्मोहक गति से लज्जारानी आती॥"

(मर्म)

'शैदा शतक' के छन्दों में मार्मिकता एवं अनुभव का निखार और भी देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त 'शैदा जी' ने 'मदालसा' और 'सागर मंथन' नामक प्रबन्ध काव्यों की भी रचनाएँ की है।

गिरधर गोपाल, विजयदेवनारायण शाही, रमानाथ अवस्थी, वीरेन्द्र मिश्र 'नीरज', बिहार के अरुण और किशोर का नाम भी बड़े महत्व का है। इन कवियों की काव्य-धारा स्वच्छन्दतावादी है। गिरधर के गीतों की मधुर विषादछाया और रमानाथ अवस्थी के गीतों की सहज, सरल भावुकता के साथ 'शाही जी' के गीतों की कल्पनात्मक रंगीनी भी लक्षणीय है—

लहरा रहा है मुझ पर किस जिन्दगी का आँचल !
जो उठ रहे दृगों में छवि के हजार बादल !!
कुछ इस तरह डुबा दो कि फिर न मिटे खुमारी !
चलता रहूँ जहाँ तक बजती रही ये पायल !!

(रूप का सागर)

...गीतों ने इधर लोगों को काफी अपनी ओर आकर्षित किया ... मारों में अपेक्षाकृत नीरज में स्थूल ऐहिक नग्नता अधिक है

पर भावो में इतनी स्पष्टता है कि श्रोता अथवा पाठक तत्काल कवि के अभिप्रेत भावों तक पहुँच जाता है।

समय चक्र मे परिवर्तन कितनी तेजी के साथ हो रहा है कवि को इसका अन्दाज है और वह परिवर्तित समय के साथ ही पथिक को चलने की सलाह देता है क्योंकि वर्तमान में खोये हुए को बाद मे हाथ ही मलना पड़ता है—

स्वप्न भरे फूल से,
मीत चुभे शूल से,
लुट गये सिंगार सभी बाग़ के बबूल से,
और हम खड़े-खड़े बहार देखते रहे,
कारवाँ गुज़र गया गुबार देखते रहे !

× × ×

और हम डरे डरे,
नीर नैन में भरे,
ओढ़ कर कफ़न पड़े मज़ार देखते रहे,
चाह थी न, किन्तु बार बार देखते रहे,
कारवाँ गुज़र गया गुबार देखते रहे !

(आसावरी)

रवीन्द्र **'भ्रमर'** के स्वच्छन्दतावादी गीत, गेयता और भावप्रवणता सभी दृष्टियो से अपना एक स्थान रखते है।

रूप और 'वंशी' के गायक 'भ्रमर' की सुरीली तान जड-चेतन को आन्दोलित करती हुई 'सारे गाँव के जग जाने' का अन्देशा पैदा करती है। चित्र भाषा शैली का निर्वाह 'भ्रमर' के गीतो की अपनी विशेषता है जिसमें अनुप्रासों की छटा भी देखने को मिल जायगी। जब उनके गीतों में 'हरि सिंगार के फूल' झरने लगते है तो केवल बयार के ही अंग नही सिहरते बल्कि औरों के भी सिहरने लग जाते है। जब वे यह कहने लग जाते है—

मेरे संमुख पथ इतने हैं
किस पर चलूँ सो चलने दो।

तो केवल उससे समाज मे व्याप्त विषमता का ही अर्थ नही लेना चाहिये बल्कि उसका अर्थ काव्य-विधा से भी है क्योंकि हम देखते हैं कि उनके गीतो का स्वर स्थिर भी नही हो पाया था कि वे प्रयोगो की चपेट में आ गये। पर जहाँ तक

रोमानी भावनाओं का प्रश्न है 'अमर' में वह मूल रूप में विद्यमान है जिससे हमें *उसके दर्शन उसकी नवीनतम रचनाओं में भी हो जाते हैं—*

रूठो मत—
मन मेरे
मुझसे मत रूठो !
लदे हुए फूलों के स्वप्न बिखर जायेंगे
अमलतास के पीले गुच्छे झर जायेंगे
लौट नहीं आयेंगे
फिर ये पहर वसन्ती,
रूठो मत,
प्राण मेरे,
मुझसे मत रूठो !

इस प्रकार **'अमर'** जी को गीतों की परम्परा को भी न तो छोड़ना चाहिये था और न तो तोड़ना ही !

प्रबन्ध काव्य की क्षमता रखने वाले कवि भी युग-धारा के प्रभाव से अपने को बचा नहीं सके हैं। 'छत्रसाल' महाकाव्य के प्रणेता **लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'** इसी श्रेणी के कवि हैं। उनके 'बादल' नामक कविता संग्रह में मुक्तक काव्य के सुन्दर उदाहरण भरे पड़े हैं। 'प्रवासी' जी जब रूढ़िग्रस्त समाज से निराश होते हैं तो उस पर एक उपेक्षा भरी दृष्टि डालते हुए अपने निश्चय एवं आत्मविश्वास को तो व्यक्त करते ही हैं साथ ही साथ विराट् प्रकृति को भी समेटने चलते हैं—

अम्बर तल के हे तारो !
पल भर को पलक गिराना,
मैं रहूँ न रहूँ जगत में
मत मेरी बात चलाना !

(निवेदन)

'अमर अभिलाषा' शीर्षक में लिखी हुई कविता में 'प्रवासी जी' ने जीवन की व्याख्या की है और 'अन्तर्वेदना' में वे कविवर 'पंत' की रहस्यात्मकता का अनुगमन करते जान पड़ते हैं पर लौकिकता के भाव उनमें स्पष्ट है। इसी प्रकार 'समाधि की धाम' से भी 'प्रवासी जी' के हृदय की कोई छिपी हुई विषम वेदना प्रकट होने के लिये मार्ग ढूँढती जान पड़ती है।

त्रिलोचन शास्त्री की रचनाओं मे एक स्वच्छन्द और अक्खड़ व्यक्तित्व की छाप मिलती है, उनकी प्रेम विषयक अनुभूति और दृष्टि अपना एक महत्व रखती है—

दर्शन हुए, पुनः दर्शन, फिर मिलकर बोले,
खोला मन का मौन, गान प्राणों का गाया,
एक दूसरे की स्वतन्त्र लहरों में पाया
अपनी-अपनी सत्ता में, जैसे पर तोले
दो कपोत - दायें-बायें स्थित, उड़ते-उड़ते
चले जा रहे दूर क्षितिज के पार हवा पर,
उसी तरह हम प्राणों के प्रवाह पर स्वर भर
लिख देते अपनी कांक्षाएँ, मुड़ते मुड़ते
पथ के मोड़ों पर संतुलित पदों से चलते
और प्राणियों के प्रवेग की मौन परीक्षा
करते हैं, उपलब्ध योग की सहज समीक्षा
शक्ति बढ़ा देती है, नए स्वप्न हैं पलते
विपुला पृथ्वी और सौर मंडल यह सारा
आप्लावित है, दो लहरों की जीवन-धारा

(त्रिलोचन शास्त्री)

भवानीप्रसाद मिश्र मे अभिव्यक्ति की अनुपम सरलता है, यद्यपि तुकों का मोह कहीं-कहीं खटकता है। **'महामानव'** के लेखक **ठाकुरप्रसाद सिंह 'अग्रदूत'** एवं **रामदरश मिश्र** की रचनाओं में लोक गीतों के स्पर्श, सरलता और भावुकता को बढ़ाने वाले हे। **श्री रूपनारायण जी त्रिपाठी** के **'धरती के स्वर'**, **'माटी की मुस्कान'** मे तो बदले किन्तु कवि की सरल भावुकता गीतों मे मौलिक चिन्तन के साथ उतरी है। इनकी रचनाओं में अधिकतर जन-जीवन की आन्तरिक मनोव्यथा मुखरित हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार इन्होंने परिपाटी के निर्वाह में मौलिक मोड़ प्रस्तुत किया है। कवि को यदि विश्वास का सहारा मिल जाय तो वह असम्भव को सम्भव कर दिखाने का दम भर सकता है—

मैं नया मीत लाया तुम्हारे लिये
हाँ, नया गीत लाया तुम्हारे लिये।
साथियो चीर कर रात की कालिमा
मैं सुबह जीत लाया तुम्हारे लिये।

—रूपनारायण त्रिपाठी (माटी की मुस्कान)

त्रिपाठी जी कल्पना की उड़ान तो लेते हैं पर उनका कवि धरती की शक्ति पहचान कर उपदेश देने लग जाता है—

भरना चाहा चाँद न समझा अपनी बाहों की मजबूरी
सागर की लहरों, मत भूलो धरती और गगन की दूरी।
बिखरेगी असफल अभिलाषा।
लहरों आज बदलनी होगी
तुम्हें जिन्दगी की परिभाषा।

× × ×

इसे मान लेता मैं, कहले जो कहता है अम्बर लेकिन
धरती पर आकर ही उसकी बात हुआ करती है पूरी।
(माटी की मुस्कान)

बिहार के केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', मोहनलाल महतो 'वियोगी' की आधुनिकतम रचनायें जहाँ स्वच्छन्दतावाद के द्वितीय उत्थान में पली हैं वहीं उन पर नवीन वातावरण की चेतना भी स्पष्टतः प्रतिफलित हुई है।

श्री महेन्द्र शंकर जो पहले 'अधीर बी० ए०' के नाम से लिखते थे एक सुलझे भावों के गीतकार हैं, जिनमें ताज़गी और नवीनता एक साथ मिल जायगी। इनके गीतों में बिम्बचित्रों की स्वस्थता और स्पष्टता, लोकगीतों की धुनों और भावभूमियों के संस्पर्श मिल जायेंगे जिससे उनमें सरसता, लयात्मकता और भावसंप्रेषण शीलता का सुन्दर संयोग हुआ है। ग्रामीण अथवा पर्वतीय मौसम की प्रतिक्रियात्मक अनुभूतियों का रूपांकन 'अधीर जी' की कविताओं में बड़े ही सजीव रूप में हुआ है।

श्री चन्द्रदेव सिंह रोमानी धरातल के एक सक्षम कवि हैं। पिछले दस वर्षों में इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनमें 'स्नेह-सुरभि' 'साँसों के फूल' की भाषा छायावादी प्रभावकारिता से मंडित तो हैं लेकिन इनकी भाव-भूमि सर्वथा यथार्थवादी है। इनकी कविताओं में विरह-मिलन के मार्मिक प्रसंगों की अनुभूतियों का सहज चित्रण सुन्दर बन पड़ा है।

जहाँ उन्होंने नयी कविता के विशिष्ट गुणों को ग्रहण करने के प्रति जागरूकता दिखाई है वहीं उनका गीतकार भी कम सजग नहीं है और नयी कविता के अपेक्षित तत्वों से आवृत उसके गीत भी ताजगी और निखार से दीप्त हैं और लोक तत्वों को गीतों में ढालकर वह नई गीति परम्परा के स्थापन में सक्रियता दिखा रहा है।

सम्प्रति काव्य के क्षेत्र में यह निर्णय कर पाना अत्यन्त कठिन है कि शिल्प और विषय की दृष्टि से कौन-कौन सी काव्यधारायें प्रगतिके पथ पर आगे बढ़ रही है और

कौन-कौन से उनके प्रणेता हैं। एक ही कवि मे एकाधिक प्रवृत्तियो के दर्शन हो सकते हैं। बहुत से कवि ऐसे मिल जायेंगे जिनकी रचनाओं में प्रवृत्तिगत अन्तर आया है और वे आज भी लिखते जा रहे हैं। डॉ० **महेन्द्र भटनागर** का नाम इस सन्दर्भ में लिया जा सकता है। डॉ० **वचनदेव कुमार** के दो कविता संग्रह 'ईहामृग' और 'ओ अजन्मा सुनो' निश्चित रूप से आधुनिक काव्य को समृद्ध बनाने वाले हैं।

इसके अतिरिक्त और भी बहुत से कवि है जो काव्य साधना मे लगे हैं। **श्री दिवाकर** 'उद्गार' के प्रकाशन के साथ सामने आये। इनकी प्रारम्भिक रचनाओ में विद्रोही स्वर की प्रमुखता है। **रामबहादुर सिंह भदौरिया** ने गँवई चित्रों का यथार्थ वर्णन प्रस्तुत किया है। **शिवसहाय पाठक** ने **'अर्चना के गीत'** नामक काव्य संग्रह में व्यक्तिगत अनुभूतियों को ही वाणी दी है। उर्दू के कुछ शायर भी इधर हिन्दी मे आये है जिनमे **'नज़ीर बनारसी'** का नाम लिया जा सकता है। **'नज़ीर बनारसी'** ने हिन्दी-उर्दू की गंगा-यमुनी प्रवाहित की है और हिन्दी भाषा को एक नई ताजगी प्रदान की है। उर्दू और हिन्दी के कवियो के नैकट्य का जो संयोग कवि सम्मेलनों के माध्यम से हुआ है, उसके परिणाम स्वरूप हिन्दी मे भी सुन्दर ग़ज़लें लिखी गई है। **जियाराम शुक्ल 'विकल साकेती'** की गज़लों को उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है।

इस युग मे अनेक कवियों ने हास्य की प्राचीन प्रणाली को नया स्वरूप प्रदान किया है। इसके पूर्व काव्य मे हास्य की योजना बीच-बीच मे कथा प्रसंगो के साथ कर दी जाती थी किन्तु इस युग के अनेक कवियो ने अपनी अपनी रचनाओ में हास्य को स्वतंत्ररूप से स्थान दिया है जिसमे 'बेढब जी' तथा 'बेधड़क' का नाम आदर के साथ लिया जाता है। इन कविताओ के मूल्यांकन मे जो सबसे बड़ी कठिनाई है वह यह कि ये रचनायें समसामयिक परिस्थितियों को लेकर ही की जा रही हैं। जिससे इनका कोई एक सुनिश्चित रूप नहीं बन पा रहा है पर इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि हास्यरस के आधुनिक कवि सम-सामयिक परिस्थितियों मे प्रभावित हुये है।

कुर्सी की पूजा हर युग में हुई है पर प्रजातन्त्रीय शासन मे इस पूजनवृत्ति से समाज का कितना अकल्याण हो सकता है 'सूँड' फैजाबादी ने इसका अनुभव किया है। उनकी **'कुर्सी'** शीर्षक कविता यद्यपि समसामयिक महत्व ही रखती है पर कवि ने जितने तत्वों का समावेश इसमें कर डाला है उनका महत्व इसलिये स्थायी है कि जब तक तथाकथित सरकार रहेगी इसका स्वर बासी न होगा।

इधर हिन्दी के कवियो का आकर्षण क्षेत्रीय बोलियो की ओर भी बढा है। भोजपुरी गीतो का तो एक आन्दोलन सा ही खड़ा हो गया है और इसमें सन्देह नहीं

कि उसमें से सोंधी मिट्टी की गमक आती जान पड़ती है। इन कवियों को प्रकृति का स्वच्छन्द आँचल विशेष प्रियकर रहा है और प्रकृति अपने पूर्ण यौवन में खुलकर इन गीतों में आई है जिनमें रामविचार पाण्डेय, चन्द्रशेखर मिश्र, दिवाकर लाल अंकुर, प्रभुनाथ मिश्र तथा राहगीर तथा हरिराम द्विवेदी आदि प्रमुख हैं।

नाटक

भारतेन्दु के आकस्मिक एवं असमय देहावसान के कारण हिन्दी नाट्य क्षेत्र में मौलिक कृतियों की शून्यता का अनुभव होने लगा। इस शून्यता के कारणों पर सविस्तार विचार करने की अपेक्षा यहाँ इतना ही कहना उचित होगा कि भारतेन्दु-युग में राष्ट्रीय चेतना के अतुल बलवेग से प्रवाहित नाट्यधारा आगे चलकर सस्ते अनुवादों एवं सामान्य स्तर के अभिनेय आकर्षक नाटकों के सिकता समूह में सिमट कर रह गयी। इस युग में भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों जैसी प्रतिभा के अभाव में सामान्य स्तर के ही नाटकों की रचना होती रही। भारतेन्दु ने अपने कौशल से जनता में नाटक लिखने पढ़ने तथा देखने की अभिरुचि उत्पन्न कर दी थी जिससे नाटकों की रचना तो होती रही किन्तु उल्लेखनीय कृतियों का अभाव खटकता रहा। यह अभाव लम्बे अरसे तक सहृदय पाठकों में क्षोभ उत्पन्न करता रहा जिसे **जयशंकर प्रसाद** जी ने दूर किया।

प्रसाद ने नाट्य-क्षेत्र में अपनी युगान्तरकारी कृतियों द्वारा नाटक सम्बन्धी नूतन स्थापनाओं की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक चरितार्थता सिद्ध की। इनके नाटकों को स्वच्छन्दतावादी नाटक कहते हैं। यहाँ विचारणीय यह है कि प्रसाद ने अपने नाटकों में किस वैशिष्ट्य का समावेश किया और किस प्रकार किया जिससे उन्हें नाट्य जगत में यह गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। यहाँ नाटक के प्रत्येक तत्व को दृष्टि में रखकर प्रसाद की विशेषताओं पर विचार करना अधिक समीचीन ज्ञात होता है।

कथानक—नाटक के तत्वों पर पृथक-पृथक **विचार** करते समय हमारा ध्यान कथानक पर सबसे पहले जाता है क्योंकि यही तत्व नाट्य कलेवर की रीढ़ है।

प्रसाद के नाटकों के कथानक पर विचार करते समय सबसे पहले ध्यान इस बात पर जाता है कि प्रसाद के दो-एक (कामना और एक घूँट) नाटकों को छोड़कर शेष सभी नाटकों के कथानक इतिहास के ख्यात वृत्त से लिये गए हैं और इन कथानकों के लिए प्रायः भारत का वह पुराकालीन वृत्तांत उपस्थित किया गया है जिसमें भारतीय समाज एवं संस्कृति का बहुमुखी विकास प्रदर्शित किया जा सके। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि 'प्रसाद' के नाटकों के कथानक अतीत के गौरवपूर्ण गर्भ से उद्भूत हुए हैं।

प्रश्न यह है कि जिस युग में सामयिकता, आधुनिकता तथा युग चेतना का सर्वाधिक महत्व घोषित हो चुका था, उस युग मे 'प्रसाद' जैसे युगद्रष्टा साहित्यकार ने अतीत को इतना महत्व क्यो दिया ? और यह प्रश्न तब और भी गम्भीर बन जाता है जब हम सोचते हैं कि नाटकों की ही बात नही बल्कि बहुतेरी कहानियो, एकाध उपन्यासो तथा अपने सर्वश्रेष्ठ काव्य 'कामायनी' के कथानक का आधार भी प्रसाद ने इतिहास के प्राचीन आख्यान से ही लिया है। 'प्रसाद' के पूर्व भारतेन्दु नाट्य क्षेत्र में युगचेतना का महत्व प्रमाणित कर चुके थे और 'प्रसाद' के समकालीन लेखक भी युग-चेतना से अनुप्राणित हो रचना-रत रहे, ऐसे समय 'प्रसाद' जी द्वारा इतिहास के आख्यानो से रचनाओ के कथानक ग्रहण करना क्या विशिष्ट मनोवृत्ति का परिचायक नही है ?—वस्तुतः नाटकों के लिए अतीत से कथानक ग्रहण करना उनकी सुचिन्तित विचार पद्धति का परिणाम है।

कथानकों के सन्दर्भ मे स्मरणीय है कि प्रसाद पुनर्जागरण काव्य के साहित्यकार थे। उनका रचनाकाल मुख्यतः १९१९–१९३६–३७ भारतीय राष्ट्रीय संग्राम का सबसे महत्वपूर्ण काल माना जाता है। इस युग मे राष्ट्र का चतुर्दिक अभ्युत्थान साध्य था जिसके लिए राजनेता, समाजचेता, साहित्यकार, विचारक अपने-अपने ढंग से प्रयत्नशील रहे। साहित्य मे राष्ट्रीय उत्कर्ष की भावना की अभिव्यक्ति के लिए ऐतिहासिक कथानको का ग्रहण आवश्यक प्रतीत हुआ। इन कथानको द्वारा राष्ट्र के अतीत गौरव का परिचय कराकर उसकी तुलना मे राष्ट्र की वर्त्तमान दुर्दशा दयनीय स्थिति, दीनता, हीनता आदि का परिचय कराना और इस वर्त्तमान अवनति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए उनका निवारण कर राष्ट्र के भविष्य को मंगलमय बनाने की कामना प्रकट करना साहित्यकारो का लक्ष्य बन चुका था। लोगों का विश्वास था कि भविष्य के निर्माण का संकल्प लेने के पहले वर्त्तमान को ठीक-ठीक समझना आवश्यक है और वर्त्तमान का समुचित मूल्यांकन तभी सम्भव है जब हम अतीत को भलीभाँति समझ लें। दूसरा तथ्य यह भी है कि विदेशी शासक हमारी राष्ट्रीय चेतना को लुप्त करने की चेष्टा से हमारे इतिहास तथा संस्कृति को नष्ट भ्रष्ट एवं कलंकित करना चाहते थे। अपने शासकीय साधनों तथा अन्य भौतिक प्रलोभनों के द्वारा उन्हे ऐसा करने मे सुविधा भी मिलती रही। भारतीय इतिहासकारो को ही वर्गलाकर वे हमारे शिवाजी तथा राणा प्रताप जैसे पूर्व पुरुषों को लुटेरा एवं कायर सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे थे। 'प्रसाद' उन थोड़े साहित्यकारो मे थे जिन्होंने इस विकट राष्ट्रीय संकट का अनुमान किया और विदेशी शासकों के इन सांस्कृतिक प्रहार का प्रतिरोध करने के लिए उन्होंने अपने ऐतिहासिक ज्ञान के आलोक मे इतिहास के तिमिराच्छन्न अंश को सही रूप में उल्लिखित करने का प्रयास किया और अपनी रचनाओं के कथानको के रूप मे ऐतिहासिक आख्यानों को ग्रहण कर इतिहास के वृत्त

को ग्रहण कर यथा तथ्य एवं निभ्रांत रूप में ग्रहण किया। एक और बात है जिस पर ध्यान जाता है कि 'प्रसाद' जैसे स्वच्छन्दतावादी कलाकार के लिए यह स्वाभाविक था कि उनकी कल्पना सुदूर अतीत में लयवती उड़ान भरती रही और अतीत के क्रोड में उसे आनन्द प्राप्त होता रहा। कुल मिलाकर इस अतीत ग्रहण के पीछे पुनर्जागरण-कालीन सांस्कृतिक चेतना की प्रेरणा ही निर्विवाद रूप से स्वीकार्य है।

प्रसाद के नाटकों के कथानक की विशेषता केवल ऐतिहासिक आख्यानों द्वारा उत्पन्न नहीं होती क्योंकि ऐतिहासिक आख्यान ही 'प्रसाद' के पूर्व भी ग्रहण किये जाते रहे और परवर्ती लेखकों ने भी इतिहास को आधार बनाकर पर्याप्त नाटकों की रचना की किन्तु उनमें 'प्रसाद' के नाटकों की विशिष्टता क्यों न आ सकी? स्पष्ट है कि इन कथानकों की विशेषता कुछ और है वह है इन कथानकों में अतीत एवं वर्त्तमान का समन्वित रूप। स्मरण रहे कि अतीत को आधार मानकर भी इन कथानकों में वर्त्तमान की कहीं भी उपेक्षा नहीं हुई। अतीत को केन्द्र मानने पर भी वर्त्तमान जीवन के यथार्थ चित्र इन नाटकों में भरे पड़े हैं। मालव एवं मागध की भावना त्याग कर सम्पूर्ण आर्यावर्त्त की शुभेच्छा प्रकट करना, ब्राह्मण, बौद्ध तथा अन्य धर्मों की भेद-बुद्धि मिटाकर देशभक्ति की एकनिष्ठ प्रवृत्ति पर बल देना आदि शीर्ष सामयिक समस्याएँ थी जिनका समाधान इन नाटकों में अत्यन्त दायित्वपूर्ण ढंग से हुआ है। 'अलका' तथा 'ध्रुव स्वामिनी' जैसे नारी पात्र बीसवीं शदी के नारी जागरण के परिचायक हैं।

कथानक के अतिरिक्त नाटकों के अन्य तत्व भी वर्त्तमान के सजग प्रहरी हैं। इनके नाटकों के गीतों में उद्दाम राष्ट्रीय-भावना, निश्छल देशभक्ति तथा सांप्रतिक समाज के प्रति मंगलमयी कामनाएँ उद्घोषित हुई हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि 'प्रसाद' के नाटकों के कथानक में अतीत एवं वर्त्तमान का संगम हुआ है और यही समन्वय उनके नाटकों के कथानक की मूलभूत विशेषता है।

प्रश्न यह उठता है कि अतीत और वर्त्तमान का यह समन्वय उनके नाटकों में ही कैसे सम्भव हुआ और अन्यत्र क्यों न हो सका? जहाँ अन्य नाटककार अतीत की विशेषताओं का उद्घाटन करते समय वर्त्तमान को छोड़ जाते हैं वहीं स्वच्छन्दतावादी नाटककार प्रसाद ने अतीत को प्रकाशित करते समय वर्त्तमान से ज्योति ग्रहण की अर्थात अतीत और वर्त्तमान को सफलतापूर्वक युगबद्ध किया और ऐसा करने में अभूत पूर्व कौशल का परिचय दिया जिससे अतीत एवं वर्त्तमान एक मेक दिखाई पड़े। समन्वय का यह कौशल उनकी कला का प्राण है। समन्वय की यह शक्ति उन्हें यथार्थ बोध अथवा जीवन बोध से प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि वर्त्तमान के प्रति उनकी सहज जागृति ने उनमें ऐसा जीवन बोध उत्पन्न कर दिया था जिससे अतीत एवं वर्त्तमान को युगबद्ध करने में अस्वाभाविकता का दोष उत्पन्न नहीं होता। इस सम्बन्ध में कह सकते है कि 'प्रसाद' ने अतीत को आधार मानकर भी ऐसी घटनाओं और

चरित्रों का आकलन किया है जो अतीत की भूमिका में अपनी स्वाभाविकता को अक्षुण्ण रखते हुए भी युग जीवन की सर्वांगीण स्थितियों का दिग्दर्शन करा सकते हैं। वस्तुतः उनकी दृष्टि वर्तमान की थी और आकर्षण अतीत की ओर था। इसलिए अपने युग को आँखों से अपने हृदय के अनुरूप उन्होंने स्वर्णिम अतीत को देखा। इसका परिणाम यह हुआ कि सामयिक रुचि और समस्याओं के समाधान के लिए वे अतीत से गृहीत कथानकों में वर्तमान के आकर्ष का आख्यानों के यथार्थ परक पुट देते गये हैं। यही कारण है कि उनके अतीत प्रेमी भावुक तथा व्यक्तिवादी पात्र भी जीवन सत्य से वंचित नहीं दिखायी पड़ते।

चरित्र—'**प्रसाद**' ने स्वच्छन्दतावादी तत्वों के चरम उत्कर्ष के द्वारा अपने नाटकों में प्रत्येक नाट्य-तत्व में विशेष प्रकार का सौन्दर्य अथवा चमत्कार उत्पन्न किया जिसे महत्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में स्वीकार करना चाहिए। कथानक की ही भाँति चरित्र तत्व ने स्वच्छन्दतावादी नाटकों को हिन्दी नाटक की परम्परा से पृथक् कर दिया।

इन चरित्रों की मूलभूत विशेषता वैयक्तिक उत्कर्ष की भावना है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के प्राधान्य के कारण यह चारित्रिक वैशिष्ट्य उद्भूत हुआ। 'प्रसाद' के नाटकों के पात्र निःसंकोच अपनी अनुभूतियों एवं संवेदनों की निर्व्याज अभिव्यक्ति करते चलते हैं तथा व्यक्तिजीवन के सुख-दुःख की सारी कहानी सुनाते चलते हैं, यह सब वैयक्तिक उत्थान की भावना का ही परिणाम है। 'मातृगुप्त' जैसा बुद्धिजीवी पात्र तथा 'चाणक्य' जैसा सचेत एवं समाज-नियामक भी इन स्वच्छन्द प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं दीख पड़ते। 'प्रसाद' के नाटकों के अधिकांश गीत स्वच्छन्दता प्रवण भावुक पात्रों की वैयक्तिक अनुभूतियों की ही आख्यान हैं। इसके अतिरिक्त 'प्रसाद' ने अपनी इसी विशेषता के बल पर स्वतन्त्र चरित्रों की अवतारणा की। स्कंदगुप्त, चन्द्रगुप्त, बन्धुवर्मा एवं सिंहहरण जैसे पात्र स्वच्छन्दतावादी तत्वों के संघटनात्मक उत्कर्ष के प्रतीक हैं। पुरुष पात्रों की अपेक्षा नारी पात्रों में इन स्वच्छन्द प्रवृत्तियों का समावेश अधिक मात्रा में हो सका है। देवसेना, अलका, कोमा, सुवासिनी आदि पात्र स्वच्छन्दतावादी तत्वों की निर्मिति हैं जो अद्यावधि हिन्दी नाट्य-साहित्य में अपना प्रतिद्वन्दी नहीं रखते। *इन पात्रों में अतीत एवं वर्तमान, कल्पना एवं यथार्थ, प्राचीन तथा नवीन,* व्यक्ति एवं समाज सबका सन्तुलित समन्वय हो सका है और इसका श्रेय 'प्रसाद' की स्वच्छन्दतावादी दृष्टि को ही है।

गीत—प्रसाद के नाटकों में पाए जाने वाले गीतों की गणना हिन्दी साहित्य के उत्कृष्टतम प्रगीतों में होती है, और सच कहें तो 'प्रसाद' के सर्वोत्तम गीत (कुछ को छोड़कर) उनके नाटकों में ही स्थान पा सके हैं। ये गीत अपने बाह्य एवं अंतस्

को लेकर हिन्दी के नाट्य-गीतों से सर्वथा भिन्न हैं और इन गीतों की प्रमुख विशेषता स्वच्छन्दतावादी तत्वों से ही संबद्ध है। यद्यपि कुछ गीत राष्ट्रीयतापरक भी हैं किन्तु अधिकांश व्यक्तिगत अनुभूतियों के अभिव्यंजक ही। इन गीतों में प्रायः सुकुमार भावनाओं की विवृत्ति हुई है। प्रेम एवं सौन्दर्य का सूक्ष्म; पर स्वाभाविक चित्रण हुआ है। प्रायः ये गीत प्रेमी पात्रों के कण्ठ से फूट पड़े हैं जो उनकी चिरसेवित भावनाओं एवं अदम्य लालसाओं के परिचायक हैं। इन गीतों में प्रभाव-प्रवणता की अद्भुत शक्ति है और वह शक्ति इस कारण उत्पन्न हो सकी है कि गीतों के गायक पात्रों तथा रचयिता कवि ने गीतों में निहित भावों में अपने को लय कर भावों की प्रगाढ़ता तथा परिणति दिखा दी है। यद्यपि कोमल एवं सूक्ष्म भावनाओं की विवृत्ति करने वाले ये गीत इतने गूढ़ एवं गम्भीर हो गए हैं कि सामान्य पाठक सहज भावों को हृदयंगम नहीं कर पाता, फिर भी गीतों में निहित भावों की मधुरिमा कोमलता तथा गीतों की भाषा तथा पदावली-सम्बन्धी समस्त विशेषताएँ गीतों के संश्लिष्ट प्रभाव की अभिवृद्धि करती हैं। यद्यपि स्वच्छन्दत वृत्तियों के अतिशय परिपाक के कारण इन गीतों के भाव दुरूह एवं अस्पष्ट हो गए हैं, तथापि इन गीतों की विशेषता का सबसे बड़ा प्रमाण इनकी लोकप्रियता है। निःसंकोच कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' के नाट्य-गीत पाठकों के अधरों पर जितना गूँजते हैं उतना अन्य किसी के गीत अथवा प्रगीत नहीं। निःसन्देह इन गीतों में भाव-वैशिष्ट्य का प्रादुर्भाव स्वच्छन्दता तत्वों के ही द्वारा हुआ है।

संवाद—गीतों के अतिरिक्त संवादों की ओजस्विता इन नाटकों की महत्वपूर्ण विशेषता है। सम्पूर्ण वातावरण को साक्षात् उपस्थित कर देने की क्षमता इन संवादों में ही है। संवाद विविध प्रकार के हैं और उनकी विशेषताएँ भी वैविध्य समन्वित। उदाहरणस्वरूप चन्द्रगुप्त नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य के संवाद—"आर्यावर्त की सुख-रजनी की शान्ति निद्रा में उत्तरापथ की अर्गला धीरे से खोल देने" के रहस्य का उद्घाटन करते हैं जिससे राजनीतिक अस्थिरता, दुरभिसंधि एवं छलछद्म के चित्र उपस्थित हो जाते हैं। 'प्रसाद' के नाटकों में कुछ पात्र ऐसे हैं जिनकी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने वाले संवाद युग-जीवन की चिन्तनमरणि एवं सार्वजनीन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हैं। स्कंदगुप्त, चाणक्य, मातृगुप्त आदि पात्र ऐसे ही हैं। संवादों में सूक्तियाँ एवं सामाजिक हास्य का गुंफन कलात्मकता के साथ हुआ है। संवादों की भाषा ऐसी है जिसे पढ़ या सुनकर पात्रों के क्रिया-कलाप तथा उनके बाह्य-अभ्यन्तर स्वभाव का संकेत प्राप्त हो जाता है। यद्यपि कुछ विशिष्ट पात्रों के संवादों में दर्शन समन्वित एवं अध्यात्म-प्रवण गम्भीर विचारों का गुंफन हुआ है, पर ऐसा कम ही स्थलों पर है और ये स्थल भी अपनी उपयुक्तता एवं अनिवार्यता सिद्ध करते हुए कृत्रिम नहीं जान पड़ते। कुल मिलाकर संवादों में एक विशिष्ट आकर्षण बना रहता है जिससे चाणक्य

जैसे नियामक पात्रों के व्याख्यान सदृश लम्बे संवाद भी अरुचिकर नहीं प्रतीत होते। स्वाभिमानी तथा भावुक पात्रों की अनुभूतियों तथा व्यावहारिक अनुभवों को व्यक्त करने वाले लघु संवाद तो अपना प्रतिद्वन्दी ही नहीं रखते। जैसे—"महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में पलता है। अथवा "सम्मान के लिए मर मिटना जीवन है।" आदि।

युगीन प्रवृत्तियाँ—इन नाट्य-तत्वों के अतिरिक्त प्रसाद के नाटकों में युगीन प्रवृत्तियों का समावेश भी सफलतापूर्वक हुआ है। युगीन प्रवृत्तियों के अन्तर्गत दो विशेषताओं का उल्लेख हो सकता है। सर्वप्रथम 'प्रसाद' ने युग-धर्म से प्रेरित हो इन नाटकों में राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त अवकाश रखा है। गीतों में भी तथा संवादों में भी। "अरुण यह मधुमय देश हमारा" तथा "हिमालय के आँगन में उसे प्रथम दे किरणों का उपहार" जैसे नाट्य-गीत अपनी उत्कृष्ट राष्ट्रीय भावनाओं को लेकर तथाकथित राष्ट्रीय कवियों की श्रेष्ठतम राष्ट्रीयता-प्रवण कविताओं को भी चुनौती देते हैं। गीतों के अतिरिक्त संवादों में भी चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण, स्कंदगुप्त, केवल पुरुष पात्र ही नहीं अलका, देवसेना जैसी नारी पात्रों की उक्तियाँ प्रसाद की उद्दीप्त राष्ट्रीयता के ज्वलन्त प्रमाण है। स्वदेशोद्धार एवं सांस्कृतिक गौरव के लिए कृतसंकल्प ये पात्र राष्ट्रीय आन्दोलनों के उन्नायकों में कंधे से कन्धा मिलाकर खड़े दीख पड़ते हैं। सचमुच "हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती" का जो भास्वर स्वर इन नाटकों में उद्घोषित हुआ है वह अश्रुतपूर्व था।

युग प्रवृत्तियों का दूसरा पहलू इन नाटकों में प्राप्त यथार्थ चित्रण है। 'प्रसाद' के नाटकों में ऐसे पात्र तथा घटनाएँ नियोजित हैं जो युग-जीवन की अभिव्यक्ति में पूर्ण सक्षम हैं। वर्तमान समाज में सभ्यता, संस्कृति, वर्ण, जाति, सम्प्रदाय तथा अन्य साम्प्रदायिक एवं आर्थिक वैमत्य एवं वैषम्य के कारण जो विघटनकारी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी उसका चित्रण इन नाटकों में बड़ी सफलतापूर्वक हुआ है। राष्ट्रीय एकता एवं सांस्कृतिक गौरव को दृष्टि में रखकर प्रसाद ने उन समस्त सामाजिक विकृतियों एवं दुर्बलताओं को इन नाटकों में किसी-न-किसी रूप में उपस्थित करने का यत्न किया है जिनसे वर्तमान समाज के दीनताग्रस्त एवं अधोमुख होने की आशंका बनी रहती है। एक ओर इन सामाजिक दुर्बलताओं को दूर कर परिष्कार एवं सुसंस्कार की आवश्यकताओं पर बल दिया गया है तो दूसरी ओर राष्ट्रीय एकता एवं सांस्कृतिक उच्चता को सर्वसम्मत स्वीकृति प्रदान की गयी है। तथा इन्हीं महनीय गुणों के माध्यम से राष्ट्रीय उत्थान की मंगलमयी कामनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं।

नूतन शिल्प-निर्माण—जिस प्रकार 'प्रसाद' ने अपनी स्वच्छन्दतावादी दृष्टि से नाटक के विभिन्न तत्वों में नूतन उत्कर्ष का समावेश किया उसी प्रकार नए नाट्य-तत्व

की स्थापना भी किया। प्रायः इस विषय पर विचार होता रहा है कि प्रसाद के नाटकों में पाश्चात्य नाट्य-तत्वों की प्रधानता है अथवा भारतीय। सच कहें तो 'प्रसाद' इन नाटकों में न भारतीय मान्यताओं से जकड़े हैं और न पाश्चात्य नाट्य-साहित्य के चमत्कार से अभिभूत ही दिखाई पड़ते हैं। 'प्रसाद' ने भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र की मान्यताओं का विवेक सम्मत समन्वय अपने नाटकों में किया है। स्कन्दगुप्त का नाट्य-शिल्प इसका प्रतिनिधि है। वस्तुतः स्वच्छन्दतावादी दृष्टि के प्रकाश में 'प्रसाद' ने अनेक नवीन एवं प्राचीन शास्त्रीय एवं स्वच्छन्द, शाश्वत एवं सामयिक, पाश्चात्य एवं भारतीय मान्यताओं का समन्वय विभिन्न साहित्यिक क्षेत्रों में किया है और अपनी रचनाओं में इस सैद्धान्तिक समन्वय का व्यावहारिक स्वरूप भी उपस्थित किया है। इसी प्रकार नाटकों में भी विविध मान्यताओं की समंजस योजना द्वारा 'प्रसाद' ने स्वतन्त्र मान्यताओं की अवतारणा की तथा इन नूतन मान्यताओं से अनुप्राणित स्वतन्त्र नाट्यादर्शों की स्थापना की जिसे स्वच्छन्दतावादी नाट्य-शिल्प कह सकते हैं। 'प्रसाद' के नाटकों में ही नूतन शिल्प व्यवहृत हुआ है।

यद्यपि 'प्रसाद' का अन्तिम नाटक ध्रुवस्वामिनी सन् १९३३ में प्रकाशित हुआ जिसे स्वच्छन्दतावादी नाटकों की अन्तिम कड़ी कहा जा सकता है किन्तु उसके पूर्व ही हिन्दी नाटकों की धारा में नया मोड़ आ गया था। लगभग सन् १९३० के आस-पास ही हिन्दी नाटकों की विषय-वस्तु में विविधता का समावेश हो चुका था तथा सामयिक चेतना से अनुप्रेरित विविध प्रकार के नाटकों की रचना आरम्भ हो गयी थी। यों तो इसके पहले ही मैथिलीशरण गुप्त, बद्रीनाथ भट्ट, रामनरेश त्रिपाठी, चतुरसेन शास्त्री, सुदर्शन तथा माखनलाल चतुर्वेदी और मोहनलाल द्विवेदी आदि रचयिताओं ने नवीन भावनाओं से ओत-प्रोत हो सामयिक तथा ऐतिहासिक पौराणिक कथानकों को प्रस्तुत करने वाले नाटकों की रचना आरम्भ कर दी थी, किन्तु इस प्रकार के नाटकों का रचना काल सन् १९३० के उपरान्त ही मानना समीचीन ज्ञात होता है।

सन् १९३० तक पहुँचते-पहुँचते भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर्याप्त तीव्रता एवं शक्ति अर्जित कर चुका था। इसे समाज के बहुसंख्यक वर्ग का समर्थन प्राप्त हो चुका था। इधर महात्मा गांधी के विराट व्यक्तित्व एवं कुशाग्र बुद्धि के प्रति सम्पूर्ण देश की जनता के हृदय में अगाध विश्वास उत्पन्न हो गया था। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक स्वाधीनता की भावना प्रबल हो चली थी। ऐसे समय लेखकों की रचनात्मक प्रतिभा स्वच्छन्दतावादी सीमाओं तक ही सिमटी न रहकर सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति को संचित करना चाहती थी। इसलिए तत्कालीन विविध राष्ट्रीय एवं सामाजिक प्रश्नों को उपस्थित करने वाले नाटकों की रचना आरम्भ हुई। यद्यपि इस युग में 'भारतेन्दु' अथवा 'प्रसाद' जैसी सर्वोन्मेषशालिनी

प्रतिभा सम्पन्न लेखक नहीं दिखायी पड़े तथा नूतन सैद्धान्तिक मान्यताओं को स्थापित कर उन्हें अपनी रचनाओं में व्यवहृत करने की क्षमता न प्रकट हुई। पर आकुल एवं उपद्रित राष्ट्र के मानस को प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न बड़े वेग से हुआ।

विविध विषयों को समेट कर लिखे जाने वाले इस युग के नाटकों का अनेक रूपों मे वर्गीकरण हुआ है। सामान्यतया हम इन्हें निम्नलिखित शीर्षकों से अभिहित कर सकते है।

(क) ऐतिहासिक नाटक
(ख) पौराणिक नाटक
(ग) सांस्कृतिक नाटक (राष्ट्रीय)
(घ) सामाजिक तथा समस्या परक नाटक।

(क) **ऐतिहासिक नाटक**—इतिहास को आधार बनाकर साहित्य में रचना बहुत पहले से होती आयी है और नाटकों की रचना में तो ऐतिहासिक कथानकों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता रहा है। 'प्रसाद' तथा भारतेन्दु-युग मे भी ऐतिहासिक कथानकों की उपादेयता बनी रही। सन् ३० के बाद तो और भी अधिक।

इतिहास को आधार बनाकर लिखे गए नाटकों मे ऐतिह्य का विवेचन मुख्य विषय नहीं रहा बल्कि इतिहास के प्राचीन गौरवपूर्ण वृत्तान्तों को लेकर वर्तमान को समृद्ध एवं विकसित बनाने की प्रेरणा दी गयी है। इसके लिए नाटककारों ने प्रायः मध्य-कालीन ऐतिहासिक कथानकों को रचना का आधार बनाया जिनमे युग-जीवन को प्रतिबिम्बित करने तथा प्राचीन कथा-भूमि पर नवीन दृष्टि से आधुनिक समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त अवसर मिला। तत्कालीन साम्प्रदायिक कलह तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के प्रश्न को सर्वोपरि महत्व देने के कारण हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष को चित्रित करने वाले ऐतिहासिक इतिवृत्तों से पूर्ण मध्यकाल का चुनने से लेखकोंको पर्याप्त सुविधा मिली।

ऐतिहासिक नाटकों के रचयिताओं में हरिकृष्ण प्रेमी, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', गोविन्दवल्लभ पन्त, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, वृन्दावनलाल वर्मा, 'अश्क' तथा जगदीशचन्द्र माथुर आदि का नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि मिलिन्द का नाटक 'प्रताप-प्रतिज्ञा' इस वर्ग की पहली कृति प्रकाशित हुयी था किन्तु इस प्रवृत्ति के प्रतिनिधि नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी ही माने जा सकते हैं।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' और उनके नाटक

'शिवासाधना' के प्रथम संस्करण मे अपने रचनात्मक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए 'प्रेमी' ने लिखा है—"पाठकों के सामने यह मेरा चौथा नाटक है। पहला था

'स्वर्ण-विहान' (पद्य-नाटिका) जिसे मैंने अपनी स्वर्गीय जननी को समर्पित किया था। उस पुस्तक का सरकार ने गला घोंट दिया। उसके बाद मैंने 'पाताल विजय' नामक नाटक लिखा जो मदालसा के पौराणिक कथानक पर अवलम्बित है। लिखने के क्रम से वह नाटक दूसरा, किन्तु प्रकाशन के क्रम से तीसरा है 'पाताल विजय' के बाद लिखा गया 'रक्षा बन्धन' नाटक यह पहले प्रकाशित हुआ और अधिक लोकप्रिय भी हुआ।"

इस वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रेमी' के साहित्य की मूल-चेतना राष्ट्रीय उत्थान की कामना रही है और इसीलिए इनकी आरम्भिक रचनाएँ सरकार की कोप-दृष्टि का भाजन बनी रहीं। जिस प्रकार हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के आरम्भिक कार्यक्रम सरकार द्वारा कुचल दिये जाते रहे किन्तु देश में अभूतपूर्व जन-जागरण के फलस्वरूप स्वतंत्रता आन्दोलन को बहुसंख्यक वर्ग का समर्थन प्राप्त हुआ और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वालों को उत्तरोत्तर प्रेरणा एवं शक्ति प्राप्त होती गई, सरकारी आतंकों से उनका उत्साह शिथिल नहीं हुआ, उनके हाथ-पैर रुके नहीं उसी प्रकार हिन्दी नाट्य-साहित्य की आरम्भिक राष्ट्रीयता परक कृतियाँ विदेशी शासकों द्वारा प्रतिबन्धित होती रहीं तथा लेखकों के लिए यातना का कारण बनती रहीं, किन्तु इन साधक साहित्यकारों ने यंत्रणाओं की चुनौती देते हुए अपने रचनात्मक उद्देश्य को स्थिर रखा। हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, गोविन्द वल्लभ पंत, सेठ गोविन्ददास तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र की रचनात्मक प्रवृत्तियों के पीछे यही मूलचेतना कार्य करती रही है। यहाँ हम हरिकृष्ण प्रेमी के प्रसिद्ध नाटक 'शिवा-साधना' पर विचार करने के माध्यम से इस प्रवृत्ति की मुख्य विशेषताएँ उद्घाटित करेंगे।

'शिवा-साधना' की भूमिका में अपने उद्देश्य का परिचय देते हुए 'प्रेमी' ने लिखा है "शिवाजी के चरित्र को साहित्यकारों ने जिस रूप में अंकित किया है उससे हिन्दुओं और मुसलमानों के हृदय दूर ही होते हैं। इसके विपरीत मैंने इस नाटक में बताया है कि शिवाजी न केवल महाराष्ट्र में वरन् सम्पूर्ण भारतवर्ष में जनता का स्वराज्य स्थापित करना चाहते थे, उनके हृदय में मुसलमानों के प्रति कोई द्वेष न था।" लेखक के इस वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्रता आन्दोलन के दिनों में देश के विभिन्न भागों में होनेवाले साम्प्रदायिक कलह तथा उनके परिणाम-स्वरूप राष्ट्रीय एकता को भंग करने वाली विघटनकारी प्रवृत्ति के विस्तार की आशंका से लेखक ने जाति, धर्म, वर्ण, सम्प्रदाय आदि विभिन्न सामाजिक स्तरों पर एकता एवं समानता की भावना फैलाकर राष्ट्रीय अखण्डता को सुरक्षित रखने तथा राष्ट्रीय आन्दोलन को सफल बनाने का प्रयास किया है। एक स्थान पर शिवाजी अपने सहयोगियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं "मुझे विश्वास है कि तुम लोगों की सहायता से मैं एक भारतव्यापी क्रान्ति कर सकूँगा—जिस क्रान्ति की पुकार सन

मन्दिरो, धराशायी राजमहलों, भस्मसात पर्ण कुटियो और रोटियो के लिए हाहाकार करने वाले वस्त्रहीन कृषक के हृदयों से उठ रही है।" और दूसरे स्थान पर शिवाजी अपना उद्देश्य बताते हुए कहते हैं "मेरे शेष जीवन की एकमात्र साधना होगी भारतवर्ष को स्वतन्त्र करना, दरिद्रता की जड खोदना, ऊँच-नीच की भावना और धार्मिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार की क्रान्ति करना।" इन उक्तियो मे राष्ट्रीय नव-निर्माण की भावना का प्रसार गांधीवादी सिद्धान्तों के आधार पर हुआ है। सच कहा जाय तो इन नाटको मे गांधीवादी सिद्धान्तों की गूँज पदे-पदे सुनाई पडती है। 'प्रेमी' के दूसरे नाटक 'प्रतिशोध' मे इनका राष्ट्रीयतापरक दृष्टिकोण और भी पुष्ट है। इस नाटक के पात्र, उनके क्रिया कलाप, घटनाएँ, तथा सम्पूर्ण वातावरण राष्ट्रीयता के राग से रजित हैं। इन पात्रो की बातो तथा क्रियाओं में राष्ट्रीय आन्दोलन में हुतात्मा होनेवाले तरुणों की ध्वनि सुनाई पडती है। राष्ट्रीयता के उद्दाम वेग मे बह जाने के कारण अविवाहित रहकर देश सेवा का व्रत लेनेवाले भावुक किन्तु कर्मठ सेनानियो का आदर्श चरित्र इन नाटको मे प्रस्तुत हुआ है। 'प्रतिशोध' नाटक मे बुन्देलखंड की स्वाधीनता के लिए सतत् संघर्ष करनेवाले प्राणनाथ प्रभु तथा इनके अन्य पात्र छत्रसाल, बल दीवान आदि से ही सर्वस्व त्यागी भावुक सेनानी है। इन पात्रो के अतिरिक्त उन खलनायक पात्रों की भी इन नाटको मे बडी सहज अवतारणा हुई है जो भौतिक प्रलोभनो मे पड़कर सरकारी हाथों के कठपुतले बनकर राष्ट्रीय आन्दोलन मे बाधा उत्पन्न कर रहे थे। भारतीय समाज की अनकेता मूलक विकृतियाँ तथा विघटनकारी प्रवृत्तियाँ भी उद्घाटित की गई हैं। जनवात्रिक भावनाओ का जैसा परिचय इस युग के नाटकों मे प्राप्त होता है वैसा इस युग की अन्य साहित्यिक विधाओं मे नही।

'प्रेमी' के अतिरिक्त जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द का नाटक 'प्रताप प्रतिज्ञा' इस वर्ग मे महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। इस नाटक मे राणा प्रताप के चरित्र द्वारा देशभक्ति एवं स्वाधीनता प्रेम का चरमोत्कर्ष दिखाया गया है और उससे भी महत्त्वपूर्ण वस्तु है जनतांत्रिक अधिकारो की घोषणा। इस नाटक में जनता का प्रतिनिधि पात्र चन्द्रावत मेवाड के विलासी शासक का सम्बोधित करते हुए एक स्थान पर कहता है—"मैं आज प्रजा के प्रतिनिधि की हैसियत से तुम्हारे सम्मुख आया हूँ। मुझे अधिकार दिया गया है कि मैं मेवाड के राजमुकुट को अयोग्य के सिर से उतार कर योग्य के सिर पर रख सकूँ।" इन शब्दो मे स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज की यह धारणा और विश्वास कि 'मनुष्य जन्म से बड़ा न होकर कर्म से बड़ा है और कर्महीन व्यक्ति अधिकार वंचित किया जाना चाहिए' की प्रतिध्वनि उस युग के साहित्य मे भी सुनाई देती है। 'प्रताप प्रतिज्ञा' भारतीय राष्ट्रीय स्वातंत्र्य संग्राम की समग्र चेतना एवं प्रेरणा का पूर्ण परिचायक है।

इन नाटकों के अतिरिक्त इस शाखा के अन्य नाटककार गोविन्द वल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, वृन्दावन लाल वर्मा तथा जगदीशचंद्र माथुर हैं। 'राजमुकुट' में राजस्थान के राजपरिवार की संघर्षपूर्ण गाथा है जिसमें धाई माँ पन्ना के त्याग एवं बलिदान का गौरवपूर्ण प्रसंग उल्लिखित है। राजपरिवारों में उत्तराधिकार के लिए होनेवाले षड्यंत्रों, जघन्य कृत्यों तथा उनमें लिप्त रहते वाले क्षुद्र हृदयों तथा उनकी सस्ती वृत्तियों का परिचय इस नाटक में प्राप्त होता है। धाई पन्ना के चरित्र द्वारा इस जनतांत्रिक भावना की पुष्टि होती है कि हीन कुल में उत्पन्न होनेवाली तथा समाज में दलित एवं उपेक्षित पात्र अपने महत् कर्मों से कुलीनों को पीछे छोड़ देती है। इस प्रकार केवल कुलीनता के आधार पर सामाजिक सम्मान एवं स्थान देने की प्रवृत्ति की भर्त्सना की गयी है।

उदयशंकर भट्ट ने इस श्रेणी के कतिपय उत्कृष्ट नाटक की रचना की है जिनमें 'दाहर' या 'सिन्ध-पतन' तथा 'विक्रमादित्य' विशेषतया उल्लेख्य हैं। 'दाहर' के नाम से ही सिन्ध-पतन से सम्बन्धित कथानक का आभास हो जाता है और नाटक में इसका कारण जाति धर्म तथा सम्प्रदाय के आधार पर हुए विभाजन बताए गए हैं। व्यक्तिगत रागद्वेष एवं ईर्ष्या वृत्ति से प्रेरित हो लोग किस प्रकार समूची जाति एवं राष्ट्र की अवनति के गर्त में ढकेल देते हैं तथा अपने छोटे से स्वार्थ की पूर्ति के लिए सम्पूर्ण देश के मस्तक पर कलंक के टीके लगाते हैं, इसका प्रमाण इन नाटकों में प्राप्त होता है। इनके नाटक 'शक-विजय' में देश को धर्म समाज तथा व्यक्ति से बड़ा दिखाकर राष्ट्रीय अभ्युत्थान के लिए सर्वस्व त्याग करने की भावना को प्रश्रय दिया गया है। इन नाटकों में राष्ट्रीयता के साथ-साथ मानवतावादी दृष्टिकोण का स्फुरण बड़ा विश्वास पूर्वक हुआ है।

इस श्रेणी के नाटककारों में सेठ गोविन्ददास ने सबसे अधिक नाटकों की रचना की है। 'कुलीनता' तथा 'विदग्ध' इस वर्ग के उनके प्रसिद्ध नाटक हैं जिनमें उनके दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त होता है। सेठ जी के साहित्य में उनके व्यक्तित्व की छाया स्पष्ट दिखायी पड़ती है और उनके नाटकों में गांधी नीति द्वारा परिचालित राष्ट्रीय निर्माण की योजनाएँ हैं। समाज में लोकतांत्रिक भावनाओं का उदय होनेपर जिन नए मूल्यों की अवतारणा हुई उनका व्यावहारिक स्वरूप सेठ जी के नाटकों में उपस्थित करने का प्रयत्न हुआ है अथवा और स्पष्ट कहें तो गांधी जी द्वारा तत्कालीन समाज की विभिन्न उलझनों, कठिनाइयों तथा संक्रमण कालीन परिस्थितियों की गुत्थियों पर जो विचार प्रगट किए गए हैं उन्हें ही सेठजी ने अपने नाटकों में संगुम्फित कर दिया है। 'कुलीनता' नाटक में कुलीनता पर अकुलीनता की विजय दिखाकर जाति, वर्ण तथा धर्म की अपेक्षा कर्म, त्याग तथा श्रम का महत्त्व घोषित कर हृदय की उदात्त वृत्तियों के प्रसार द्वारा राष्ट्रीय उत्थान की कामना प्रगट हुई है। इसी प्रकार

'शेरशाह' में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य पर बल दिया गया है तथा मुस्लिम बादशाहों या सामंतो द्वारा हिन्द तथा हिन्दू का समर्थन कराकर सर्व वर्ग-संगठन की भावना सुरक्षित रखने का यत्न हुआ है। स्मरणीय है कि सेठ जी के ऐतिहासिक कथानकों वाले नाटकों में भी वर्त्तमान राष्ट्रीय एवं सामाजिक परिस्थितियों को उद्घाटित करनेवाले कथातत्त्वों एवं घटना प्रसंगों का आकलन सोद्देश्य हुआ है। इनका 'शशिगुप्त' नाटक इसी ढंग का है जिसमें सम्पूर्ण देश को एक गणराज्य मे परिवर्तित करने का आदर्श स्थापित किया गया है।

नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के साहित्यिक जीवन का आरम्भ २०वी शती के तीसरे दशक मे हुआ जिस समय हिन्दी साहित्य की प्रत्येक विधा मे स्वच्छन्दतावादी मान्यताओ का अप्रतिहत शासन था। काव्य मे छायावाद अपना सिक्का जमा रहा था और नाटको मे प्रसाद जी के नाटक नये नाट्यादर्शो की स्थापना कर रहे थे तथा निबन्ध एव समालोचनाएँ भी इससे अस्पृष्ट न थी। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र भी इस साहित्यिक परिवेश से असंपृक्त न रह सके और उन्होने भी तत्सामयिक अन्य तरुण कवियो की भाँति स्वच्छन्द भावापन्न रचनाएँ आरम्भ की। उनकी ऐसी हा कविताओ का संग्रह है 'अन्तर्जगत्' (सन् १६२६) जिसकी गणना उस समय की स्वच्छन्दतावादी कृतियों के अन्तर्गत की जाती है। मिश्रजी ने इन कविताओ के अतिरिक्त 'अशोक' (सन् १६२८) नामक एक स्वच्छन्दतावादी नाटक की भी रचना की जो प्रसाद जी के नाटकों की मूल प्रवृत्ति से साम्य रखता है। इस प्रकार आरम्भिक साहित्यिक जीवन मे मिश्रजी एक स्वच्छन्दतावादी रचयिता के रूप मे स्वीकृत हुए।

जिस समय भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन चरम वेग से अग्रसर हो रहा था उस समय समाज मे दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ महत्त्व प्राप्त कर रही थी। एक ओर स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों के अन्तर्गत आदर्श प्रवण मान्यताओ द्वारा राष्ट्रीय उत्थान की कामना व्यक्त हो रही थी और इसे प्रस्तुत करने वाली रचनाएँ स्वच्छन्दतावादी रचनाएँ कही जा रही थी तो दूसरी ओर भारतीय समाज मे व्याप्त उन विकृतियों तथा अनाचारों की ओर भी लेखको का ध्यान जा रहा था जो समाज एव राष्ट्र के विकास मे बाधक सिद्ध हो रही थी। समाज मे एक ऐसा प्रबुद्ध वर्ग था जिसकी ऐसी धारणा थी कि आदर्शों की स्थापना के पूर्व समाज मे व्याप्त विकृतियो का निवारण आवश्यक है। अतएव इन विकृतियों के स्वरूप को समझकर समाज को इनसे परिचित कराना परमावश्यक है। इन विश्वासो को जन्म देनेवाली रचनाएँ समाज के यथार्थस्वरूप को प्रदर्शित करने का प्रयास कर रही थी और ऐसे रचयिताओं को यथार्थवादी लेखको की सज्ञा दी गयी।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के साहित्यिक कार्य काल को देखकर यह विचार स्थिर करना पड़ता है कि सन् १९२८ अर्थात् 'अशोक' के रचना-काल तक वे स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों के दुर्दम प्रभाव से आक्रान्त रहे और इसके उपरान्त उनकी वृत्ति यथार्थपरक रचनाओं की ओर उन्मुख हुई। इन यथार्थ परक रचनाओं के नाम पर उन्होंने कुछ समस्या नाटकों की रचना की जिनके नाम हैं—(१) **'संन्यासी'** (२) **राक्षस का मन्दिर** (३) **मुक्ति का रहस्य** (४) **राजयोग** (५) **सिन्दूर की होली** (६) **आधी रात**। इन समस्या नाटकों को देखकर लोगों ने मिश्रजी पर यह आरोप लगाया कि इनके नाटकों में पश्चिमी समस्या नाटकों की अनुकृति है और इनके नाटक इब्सन, शॉ, गाल्सवर्दी आदि के समस्या नाटकों के आधार पर लिखे गए हैं। किन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। सन् '२७, २८, २९ की 'त्यागभूमि', 'विशाल भारत' तथा 'श्री शारदा' आदि तत्कालीन हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिकाओं में मिश्रजी के निबन्ध इस कथ्य के प्रमाण हैं कि मिश्रजी को इन समस्या नाटकों की रचनात्मक प्रेरणा पश्चिमी समाज अथवा साहित्य से न मिलकर अपने देश-काल से प्राप्त हुई। वस्तुतः हमारे देश में वही सामाजिक स्थिति विद्यमान थी जो इब्सन, शॉ और गाल्सवर्दी के समय पश्चिम यूरोपीय समाज में। अतएव समान परिस्थितियों से गुजरने वाले साहित्यकारों की मान्यताओं, अनुभूतियों एवं विचारों में बहुत अधिक सीमा तक साम्य दिखायी पड़े तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

समस्या नाटकों के सन्दर्भ में विचार करने के पूर्व इसका अर्थ समझ लेना आवश्यक है। 'समस्या' किसे कहते हैं और किन नाटकों को समस्या नाटक? किसी प्रश्न पर जब दो या दो से अधिक ऐसे उपयुक्त उत्तर प्रस्तुत किए जायें जिनके औचित्य पर निर्णय देना सहसा कठिन हो जाय तो बुद्धि की इसी उलझन को समस्या कहते हैं और इन समस्याओं को प्रस्तुत करनेवाली कृतियों को समस्या नाटक। स्मरण रहे कि मिश्रजी के समस्या नाटकों की रचना सन् १९२९ से ३६ के अन्तर्गत हुई थी। इस समय भारतीय समाज में नूतन एवं पुरातन मान्यताओं का संघर्ष चरम बिन्दु पर पहुँच चुका था। एक ओर प्राचीन मान्यताएँ अपना स्थान छोड़ने को तैयार न थीं और उनके समर्थक उनसे चिपके रहने में ही समाज का कल्याण समझते थे तो दूसरी ओर नए मूल्यों के संस्थापक समाज की काया-पलट करने को कटिबद्ध थे। धर्म, संस्कृति, आचार-व्यवहार, शिक्षा, नर-नारी के परस्पर सम्बन्धों के विविध पहलू पर नाटकों में नयी दृष्टि से विचार आरम्भ हुआ। और इन नये विचारों ने पुरानी मान्यताओं को इस तरह झकझोर दिया कि सम्पूर्ण समाज में उथल-पुथल मच गयी। लोग इस द्वन्द्व से आक्रान्त हो गए कि नवीन ग्राह्य है अथवा प्राचीन। सहसा निर्णय पर पहुँचना कठिन हो गया और सम्पूर्ण समाज किंकर्त्तव्य विमूढ़ की तरह दिखायी पड़ा। मान्यताओं का यही अन्तःसंघर्ष समस्याओं के रूप में दिखायी पड़ा और इन्हें प्रस्तुत

की परम्परा से तो नहीं जोड़ा जा सकता, पर इन्हें अन्यापदेशिक अथवा प्रतीकात्मक नाटकों की श्रेणी में रखा जा सकता है। अंग्रेजी के 'एलीगरिकल ड्रामा' भी इन नाटककारों के प्रेरणा स्रोत रहे हैं।

हिन्दी में गीति-नाट्य भी लिखे गए हैं और इस विधा के भी प्रवर्तक **स्व० जयशंकर प्रसाद** ही हैं जिसे उनके **'करुणालय'** में देखा जा सकता है। गीति-नाट्यों के क्षेत्र में उदयशंकर भट्ट का योगदान सराहनीय है। इसके अतिरिक्त **भगवतीचरण वर्मा, सुमित्रानन्दन पंत, गिरिजाकुमार माथुर, सिद्धिनाथ कुमार** और **धर्मवीर भारती** का नाम गीति-नाट्यकारों के रूप में लिया जा सकता है। भारती का **'अन्धायुग'** के माध्यम से इस दिशा में एक विशिष्ट प्रयास है।

एकांकी

हिन्दी एकांकी आधुनिक युग की देन है। उपन्यास के सन्दर्भ में जो महत्त्व आधुनिक कहानी को दिया जाता है, नाटकों के सन्दर्भ में वही महत्त्व आधुनिक हिन्दी एकांकी का है। *शिल्प और प्रतिपाद्य* की दृष्टि से *एकांकी और कहानी अपेक्षाकृत* एक दूसरे के अधिक निकट हैं। उपन्यास के अत्यधिक निकट होते हुए भी जिस प्रकार कहानी अपने शिल्प वैशिष्ट्य के कारण एक स्वतन्त्र साहित्य-रूप है, उसी प्रकार नाटक से सर्वथा भिन्न एकांकी भी एक स्वतन्त्र साहित्य-रूप है। यद्यपि आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी एकांकी को नितांत नवीन साहित्य-रूप मानने में आपत्ति करते हैं और वे उसे एक अंक वाले उपरूपकों के साथ जोड़ना चाहते हैं, जो पहले से ही हमारे यहाँ वर्तमान थे। हिन्दी एकांकियों का विकासक्रम जिस ढंग से हुआ है, उस पर अंग्रेजी साहित्य के एक अंक वाले नाटकों का प्रभाव है, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की नाटकों की मूल प्रेरणा संस्कृत नाटकों से मिली है जिससे वे एकांकी नाटकों को कोई स्वतन्त्र रूप नहीं दे सके फिर भी उन्होंने इस विधा में भी प्रयास किया है। इनके अतिरिक्त **राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट** तथा **प्रतापनारायण मिश्र** आदि ने भी एकांकियों की रचनाएँ की हैं। इस युग के एकांकी नाटकों में एकांकी नाटकों के तत्त्वों का नितांत अभाव है। इसके बाद **रामकृष्ण वर्मा** और **रूपनारायण पाण्डेय** आदि ने तो अपनी सारी शक्ति अनुवाद कार्य में ही लगा दी। इस प्रकार बंगला और अंग्रेजी के एकांकियों की देखा-देखी हिन्दी में भी एकांकी नाटक लिखने की प्रवृत्ति बढ़ी। स्व० प्रसाद ने अपनी मौलिक प्रतिभा के द्वारा जिस प्रकार अनेक नवीन साहित्य-रूपों की उद्भावनायें की, उसी प्रकार हिन्दी एकांकी को भी अस्तित्व में लाने का कार्य उनके 'एक घूँट' ने किया। कुछ विद्वानों ने प्रसाद कृत **'एक घूँट'** को हिन्दी का प्रथम एकांकी मानने में यद्यपि अपनी असहमति

प्रकट की है, पर इसमे दो मत हो नही सकते कि **'एक घूँट'** के माध्यम से पहली बार हिन्दी मे एक नए आदर्श और नए शिल्प की अवतारणा हुई। ऐसी स्थिति मे **'एक घूँट'** को हिन्दी का प्रथम एकांकी मान लेना अनुचित न होगा।

सन् १९३५ ई० मे **'कारवाँ'** के प्रकाशन के साथ हिन्दी-एकाकी-साहित्य मे एक नवीन मोड़ उपस्थित हुआ। **भुवनेश्वर प्रसाद** के इस **'कारवाँ'** नामक एकांकी संग्रह में सग्रहीत एकांकियो पर **पाश्चात्य** विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है। एकांकीकारो में **भुवनेश्वर प्रसाद** के बाद दूसरा महत्वपूर्ण नाम **डॉ० रामकुमार वर्मा** का है। इन्होंने प्राय: सामाजिक और ऐतिहासिक एकांकियों की सृष्टि की है। **हरिकृष्ण 'प्रेमी'** ने अपने नाटको की भाँति एकाकियों में भी मध्यकालीन ऐतिहासिक कथाओं का सहारा लिया है। इनमें मध्यकालीन राजपूती शौर्य की झाँकी देखने को मिलती है। **सेठ गोविन्ददास** के एकाकियों पर गान्धीवादी विचारधारा का प्रभाव देखने को मिल जाता है। इनके एकाकियों की संख्या अत्यधिक है। सेठ जी मे समस्याओ की गहराई तक पैठने की क्षमता है।

उदयशंकर भट्ट ने सम-सामयिक समस्याओं, मध्यवर्गीय दुर्बलताओं तथा पौराणिक आख्यानों को आधार बनाकर सुन्दर एकांकियो की सृष्टि की है। **पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', सद्गुरुशरण अवस्थी** और **गणेशप्रसाद द्विवेदी** आदि ने भी सुन्दर एकांकी लिखे है। **उपेन्द्र नाथ 'अश्क'** का नाम हिन्दी-एकांकीकारो मे बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इनके सामाजिक-समस्या प्रधान एकांकी बड़े ही सुन्दर बन पड़े हैं। पारिवारिक समस्याओ के नजदीक पहुँच कर मनोवैज्ञानिक ढंग से चरित्रो को उपस्थित करने मे 'अश्क' जी को कमाल हासिल है। एकाकीकारो मे **जगदीशचन्द्र माथुर** का विशिष्ट स्थान है। **विष्णु प्रभाकर** के सामाजिक नाटक भी अच्छे बन पडे है। रेडियो के माध्यम से जो इधर एकांकी नाटकों का प्रसारण होने लगा है, उससे कुछ पुराने यशस्वी नाटककार भी एकाकीकार बनने के लिए विवश हुए है जिनमे **पं० लक्ष्मी-नारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा** और **वृन्दावनलाल वर्मा** का नाम उल्लेखनीय है। **देवेन्द्र शर्मा, विश्वम्भर 'मानव' हिमांशु श्रीवास्तव** और **धर्मवीर भारती** ने भी एकाकी नाटक लिखे हैं। इस प्रकार बहुत से नए और पुराने साहित्यकारो को इस विधा ने अपनी ओर आकर्षित किया है।

केवल रेडियो स्टेशनों से प्रसारित किये जाने वाले 'ध्वनि एकाकी' भी इधर पर्याप्त मात्रा मे लिखे गए हैं।

उपन्यास

प्रेमचन्द युग

हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का वास्तविक आरम्भ कथा साहित्य में मुं० **प्रेमचन्द** के आगमन के साथ हुआ। युग की जिन परिस्थितियों ने उपन्यास साहित्य को जन्म दिया है, उनकी वास्तविक व्याख्या प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों में आरम्भ हुई। वैज्ञानिक प्रगति के आलोक में यथार्थवाद के प्रति बढ़ती हुई आस्था ने उपन्यास साहित्य को शक्ति प्रदान की है। पूर्व प्रेमचन्द-युग के उपन्यासों के आधार पर हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि उपन्यासकारों का झुकाव मानव-जीवन की समस्याओं की ओर हो चला था, पर यथार्थवादी विचारधारा को कोई भी निश्चित रूप तत्कालीन उपन्यासकार नहीं दे पाए थे। देवी-देवताओं के स्थान पर मनुष्य के अभावों और उसकी परिस्थितियों का चित्रण प्रेमचन्द के आगमन के साथ विश्वसनीय रूप में हिन्दी उपन्यासों में आया। प्रेमचन्द ने लगभग तीस वर्षों तक भारतीय समाज को प्रेरणा प्रदान की। प्रेमचन्द जी की एक विशिष्ट जीवन दृष्टि थी और उन्होंने अपनी एक विशिष्ट शैली का निर्माण भी किया। परिणामस्वरूप उनसे प्रभावित उपन्यासकारों का दल ही उठ खड़ा हुआ जिसने उनके जीवन-काल और कुछ दिनों बाद तक उनकी उपन्यास परम्परा को किसी-न-किसी रूप में जीवित रखा।

प्रेमचन्द

प्रेमा, सेवासदन, वरदान, **प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, प्रतिज्ञा, गबन, कर्मभूमि, गोदान और मंगल सूत्र** (अधूरा) नामक उपन्यासों की सृष्टि करके प्रेमचन्द ने उपन्यास साहित्य को साहित्यिक गौरव प्रदान किया। प्रेमा, वरदान और प्रतिज्ञा अत्यन्त साधारण कृतियाँ हैं। 'सेवासदन' जो पहले उर्दू में 'बाजारे हुस्न' के नाम से प्रकाशित हुआ था, प्रेमचन्द की पहली साहित्यिक कृति कही जा सकती है जिसने जासूसी और तिलस्मी उपन्यासों के पाठकों में साहित्यिक उपन्यास पढ़ने की अभिरुचि उत्पन्न की। इस उपन्यास के माध्यम से समाज की उन दुर्बलताओं का लेखा-जोखा लिया गया है जिसके कारण 'सुमन' ऐसी न जाने कितनी बालिकाओं को घृणित वेश्या-जीवन स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार इसमें वेश्या समस्या को विवेचन का आधार बनाया गया है। आरम्भ में अत्यन्त यथार्थ रूप में सजीव चित्रण करने के बाद प्रेमचन्द ने उत्तरार्द्ध में चलकर समस्या का समाधान अत्यन्त आदर्श के धरातल पर प्रस्तुत किया है। इसे लक्ष्य करके ही विद्वानों ने उनकी इस प्रवृत्ति को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के नाम से सम्बोधित किया है।

'प्रेमाश्रम' में तत्कालीन जमींदारों तथा उनके कारिंदों की धाँधली, किसानों की दुर्दशा, पुलिस के हथकंडों, वकीलों की नमकहरामी तथा न्यायाधीशों के अंधेरन का

बड़ा ही सजीव चित्रण हुआ है। इसमें भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की यथार्थ रूप-रेखा भी देखने को मिल जाती है।

'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने 'सूरदास' नामक अपने अमर पात्र की सृष्टि की है जो गांधीवादी विचारधारा का प्रतीक है। इस उपन्यास के अन्दर राजनीतिक जीवन का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक यथार्थ चित्रण देखने को मिलता है। देश में चल रहे सत्याग्रह-संग्राम और उसमें महिलाओं का सक्रिय सहयोग राष्ट्रीय जागरण का प्रतीक है जिसकी विस्तृत चर्चा इस उपन्यास में हुई है।

'कायाकल्प' में कुछ ऐसे प्रसंगों की उद्भावना है जिसे यथार्थ की संज्ञा नहीं दी जा सकती, पर हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के प्रश्न को उठाकर प्रेमचन्द जी ने तत्कालीन एक विषम-समस्या की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है।

'गबन' उपन्यास में एक मध्यवर्गीय युवक की दर्दनाक कहानी है जो अपनी दुर्बलताओं का शिकार स्वयं होता है। इसमें 'आभूषण' की समस्या है जो मध्यवर्गीय दुर्बलताओं के शिकार युवक की आर्थिक विपन्नता के कारण उत्पन्न होती है। युवक रमानाथ और उसकी पत्नी जालपा इस उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं, जिनको आगे चलकर दुर्बलताओं से मुक्त दिखाकर प्रेमचन्द ने सुखी जीवन प्रदान किया है। इसमें तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन की भी झलक आई है। पुलिस की जालसाजी और उनके हथकंडों का इसमें बड़ा ही सजीव चित्रण हुआ है।

'निर्मला' उपन्यास में आर्थिक अभाव की समस्या है, पर अनमेल विवाह तथा दहेज की समस्या इसमें इतने प्रमुख रूप से उभड़ कर आ गई है कि आर्थिक अभाव की ओर दृष्टि डालने की फुरसत नहीं मिलती। 'निर्मला' के रूप में इस उपन्यास में भारतीय नारी-मर्यादा का बड़ा ही हृदय द्रावक चित्र प्रस्तुत किया गया है।

'कर्मभूमि' में दीन कृषकों एवं श्रमिकों की मौन वाणी का स्वर मुखरित है। इसमें शिक्षा संस्थाओं की अर्थ-व्यवसायी नीति, म्युनिसिपल कर्मचारियों की स्वार्थ-परता तथा राज्य कर्मचारियों के आत्मपतन और स्वेच्छाचार आदि का चित्रण हुआ है।

'गोदान' उपन्यास ग्रामीण जीवन के वास्तविक पक्ष का गद्यात्मक महाकाव्य है। इसमें दो स्वतंत्र कथाएँ हैं। एक कथा के पात्र हैं शहर में सम्बन्ध रखने वाले राय साहब, खन्ना, तखा, मिर्जाखुर्शेद, मेहता, मालती तथा उनके अन्य सहयोगी मित्र और दूसरी कथा के ग्रामीण पात्र हैं होरी, गोबर, पटेश्वरी, दातादीन, मातादीन झिंगुरी सिंह, धनियाँ, झुनियाँ तथा सिलिया आदि। 'गोदान' के अधिकांश पात्र व्यक्ति न होकर वर्ग के प्रतिनिधि हैं। होरी, मेहता, खन्ना आदि क्रम से शोषित, शिक्षित तथा शोषक वर्ग के प्रतिनिधि हैं। इस उपन्यास में यदि एक ओर सामाजिक एवं

पारिवारिक कुरीतियों का चित्रण किया गया है, तो दूसरी ओर एक आदर्श जीवन की ओर संकेत भी किया गया है। 'गोदान' उपन्यास तक आते-आते प्रेमचन्द के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ, इसे स्पष्ट देखा जा सकता है। आदर्शों में विश्वास करनेवाले प्रेमचन्द 'होरी' की कथा भूमि में कठोर यथार्थ की भूमि पर उतर आये हैं। मानवता की अन्तिम विजय के प्रति भी उनका विश्वास डिगने सा लगा था। उनके प्रतिनिधि पात्र 'होरी' की जीवन-संग्राम में सदा हार हुई, भले ही वह उसे विजय पर्व के रूप में मानता जा रहा हो। इस उपन्यास की कथा भूमि अत्यन्त विस्तृत है जिसमें तत्कालीन भारत का गाँव उमड़ कर सामने आया है। अपने अन्य उपन्यासों की भाँति प्रेमचन्द ने इसमें पूर्वार्द्ध की कथा को यथार्थवादी और उत्तरार्द्ध को आदर्शवाद न बनाकर ग्रामीण और शहरी दो कथाओं को ही ले लिया है जो समानान्तर चलती रहती हैं। दोनों को मिलाने वाले सूत्र अत्यन्त दुर्बल हैं, पर वैविध्य लाने के लिए ऐसा करना प्रेमचन्द के लिए आवश्यक था। इस उपन्यास के चरित्रों की यदि सूची तैयार की जाय तो जितने व्यक्ति या वर्ग हो सकते हैं, सबका प्रतिनिधित्व इस उपन्यास में मिल जायगा, इसमें सन्देह नहीं। 'गोदान' शीर्षक का प्रयोग इस उपन्यास में प्रतीक रूप में हुआ है। भारतीय किसान की अर्थ व्यवस्था का अटूट सम्बन्ध गाय से है। उपन्यास की एकाधिक कथाओं को जोड़ने का कार्य भी गाय ही करती है। होरी, किसान से मजदूर होकर मरता है और मजदूरी के सिर्फ इतने ही पैसे मिल पाते हैं जितने अन्तिम क्षण में उसे 'गोदान' दिया जाता है। अपने ढंग का यह एक विशिष्ट उपन्यास है।

जयशंकर प्रसाद (१८८९–१९३७ ई०)

प्रेमचन्द युग के साहित्यकार होते हुए भी प्रसाद जी ने अपने उपन्यासों में अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। 'कंकाल' और 'तितली' प्रसाद जी की दो प्रमुख औपन्यासिक कृतियाँ हैं। 'इरावती' नामक एक अधूरा ऐतिहासिक उपन्यास भी उन्होंने लिख छोड़ा है। 'कंकाल' उपन्यास के द्वारा 'प्रसाद' जी ने उपन्यास साहित्य में एक नवीन मोड़ उपस्थित किया। इसमें सामाजिक यथार्थ का चित्रण है। 'प्रकृतवाद' के भी तत्त्वों के दर्शन इसमें मिलते हैं। सामाजिक कुत्सिताओं को दिखलाकर इसमें एक आदर्श समाज की कल्पना की गई है। इस प्रकार इसमें आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और प्रकृतवाद का अद्भुत समन्वय हुआ है। 'तितली' उपन्यास प्रेमचन्द की परम्परा में लिखा जान पड़ता है। 'कंकाल' की भाँति इसमें महन्तों के अखाड़ों और सम्भ्रान्त परिवारों की पोल नहीं खोली गई है बल्कि इसमें 'प्रसाद' की प्रतिभा ने खेतों और खलिहानों को कृतार्थ किया है। इसकी कथा बिल्कुल काल्पनिक है। इसमें अंग्रेजी और भारतीय सभ्यता का चित्र है। 'प्रसाद' जी के हृदय की नारी भावना 'तितली' के रूप में प्रकट हुई है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (१८९१–१९४५ ई०)

आपने **'माँ'** और **'भिखारिणी'** नामक दो उपन्यासो की सृष्टि की है। ये दोनों ही उपन्यास प्रेमचन्द के ही चरण चिह्नो पर चलकर लिखे जान पडते है। 'माँ' उपन्यास के माध्यम से 'कौशिक' जी ने 'सुलोचना' ऐसी आदर्श माता की कल्पना की है। **'भिखारिणी'** के पात्र प्रेमचन्द के पात्रो की ही भाँति वर्ग प्रदान है। यह चरित्र प्रधान उपन्यास है। इसमे 'भिखारिणी' के अनुपम अनुराग और त्याग की करुण कहानी कही गई है।

वृन्दावनलाल वर्मा (१८८९ ई०)

वृन्दावन लाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप मे अधिक विख्यात हैं। परन्तु उन्होंने अपने जिन ऐतिहासिक पात्रों का निर्माण किया है वे शुद्ध आदर्शवादी है। प्रेमचन्द युग के उपन्यासकारो मे वर्मा जी ही एक ऐसे उपन्यासकार हैं, जो आज भी उसी उत्साह से अपने पूर्व आदर्शों का निर्वाह करते जा रहे है। 'लगन', 'संगम', 'प्रेम की भेंट' और 'कुण्डली चक्र', 'प्रत्यागत', 'अचल मेरा कोई' तथा 'अमर वेल' वर्मा जी के प्रमुख सामाजिक उपन्यास है, जिनमे सामाजिक समस्याओ के चित्र एवं उनके हल भी आए है। ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप मे वर्माजी को अद्भुत ख्याति मिली है। ऐतिहासिक परिवेश मे तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण को प्रोत्साहित करने का जो कार्य उपन्यासो के माध्यम से हुआ, उसमे वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासो का स्थान प्रथम है। 'गढ कुण्डार' 'विराटा की पद्‌मिनी' 'झाँसी की रानी', 'मुसाहिबजू', 'कचनार', 'मृगनयनी', 'टूटे काँटे', 'अहिल्याबाई' और माधव जी सिंधिया' वर्मा जी के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास है। 'भुवन विक्रम' नामक उपन्यास में वैदिक युग की जीवन-रीति और समाज-व्यवस्था का चित्रण हुआ है। इससे इसे ऐतिहासिक उपन्यासों की कोटि मे नहीं रखा जा सकता। इनके ऐतिहासिक उपन्यास नीरस ऐतिहासिक तथ्यो पर आधारित होते हुए भी ऐसे सशक्त पात्रो को प्रस्तुत करने मे सफल हो सके हैं जिनमे राष्ट्रीय समस्याओ के नेतृत्व का पूर्ण सामर्थ्य है। इनके ऐतिहासिक उपन्यासो की जो सबसे बडी विशेषता है वह यह कि वे बुन्देलखण्डीय अचल को ही आधार मानकर लिखे गए ह और उनके प्रमुख पात्र नारियाँ है जिनके निर्माण मे कल्पना और आदर्श का अद्भुत समन्वय वृन्दावनलाल जी कर सके है।

चतुरसेन शास्त्री (१८८८ ई०)

हिन्दी उपन्यास साहित्य मे चतुरसेन शास्त्री का स्थान इसलिए भी बड़े महत्व का है कि उन्होने एकाधिक उपन्यास विधाओ को हिन्दी जगत् के सामने प्रस्तुत किया। इनके उपन्यासो की संख्या ३० (तीस) से अधिक है जिनमे 'सोमनाथ', 'हृदय की परख', 'व्यभिचार', 'अमर अभिलाष', 'वैशाली की नगर वधू', 'आलमगीर'

'धर्मपुत्र' एवं 'सोना और खून' विशेष प्रसिद्ध हैं। अपने सामाजिक उपन्यासों में शास्त्री जी सामाजिक कुत्सा को चित्रित करते-करते शैली के क्षेत्र में इतने अश्लील हो गए हैं कि उन्हें स्वस्थ साहित्य के रूप में स्वीकार करना कठिन है। पर प्रकृतवाद (नेचुरलिज्म) के नाम से जो एक आन्दोलन पाश्चात्य साहित्य के माध्यम से हिन्दी में चल पड़ा था, उसकी चरम परिणति शास्त्री जी के इन उपन्यासों में हुई है। 'अमर अभिलाष' को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। 'वैशाली की नगर वधू' एवं 'सोना और खून' शास्त्री जी के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनमें ऐतिहासिक तथ्यों के आलोक में ऐसी विचित्र कल्पनाएँ देखने को मिलती हैं कि जिनसे कहीं-कहीं सहमति प्रगट करना कठिन हो जाता है। फिर भी इन उपन्यासों ने पाठकों के बीच अद्भुत लोकप्रियता प्राप्त की है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' (१९०१ ई०)

'उग्र' जी भी मूलतः हिन्दी के प्रकृतवादी उपन्यासकार हैं। 'दिल्ली का दलाल' नामक उनका उपन्यास प्रकृतवादी शैली का एक नमूना है। 'चन्द हसीनों के खुतूत', 'दीवाचा' और 'जीजी जी' नामक उनके उपन्यास भी इसी परम्परा से लिखे गए हैं। पर इनमें अपेक्षाकृत उन्होंने संयम का विशेष परिचय दिया है। इनका उपन्यास 'फागुन के दिन चार' फिल्म-जगत् के घिनौने चित्र और सांस्कृतिक नगरी काशी के अवांछित व्यापारों को सामने लाने के लिए लिखा गया है। अपनी कलात्मकता के कारण आंचलिक उपन्यासों में इनका विशिष्ट स्थान है।

ऋषभचरण जैन (१९११ ई०)

ऋषभचरण जैन के अधिकांश उपन्यास 'उग्र' जी के 'दिल्ली का दलाल' की ही शैली में लिखे गए हैं। 'उग्र' जी के कुछ उपन्यासों में तो श्लीलता का निर्वाह भी हुआ है, पर ऋषभचरण जी ने तो नग्न वास्तविकता को चित्रित करने के लिए श्लीलता का भी दामन छोड़ दिया है। 'मास्टर साहब', 'वेश्या-पुत्र', 'गदर', 'सत्याग्रह', 'दुरंगे वाली', 'भाग्य', 'भाई', 'रहस्यमयी', 'चाँदनी रात', मधुकरी, 'मंदिर दीप', 'बुरदा फरोश', 'चम्पाकली', 'मयखाना', 'दिल्ली का व्यभिचार', 'हर हाइनेस', 'तीन इक्के' और 'दुराचार के अड्डे' आदि ऋषभचरण जी के प्रमुख उपन्यास हैं।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी (१८९९ ई०)

वाजपेयी जी प्रेमचन्द युग के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। वे 'मीठी चुटकी', 'अनाथ पत्नी', 'प्रेम-पथ', 'त्यागमयी', 'उतार-चढ़ाव', 'चलते-चलते', 'पतिता की साधना', 'पिपासा', 'दो बहनें', 'त्यागमयी', 'निमंत्रण', 'गुप्त-धन', 'पतवार', 'यथार्थ से आगे', 'सूनी राह', 'विश्वास का बल', 'एक प्रश्न', 'रात और प्रभात', 'उनसे कहना', 'पाषाण

की लोच', 'दरार और धुआँ', 'सपना बिक गया', 'टूटा टी सेट', 'चन्दन और पानी' तथा 'टूटते बन्धन' आदि प्रमुख सामाजिक उपन्यासों के लेखक हैं। स्त्री-पुरुष के बीच चलने वाले प्रेम-सम्बन्धों का अत्यन्त सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत करने में वाजपेयी जी के उपन्यासों को सफलता मिली है। अन्तर्द्वन्द्व का उद्घाटन, पर संयमित और बुद्धि तथा हृदय-ग्राह्य चित्रण उपस्थित करने में वाजपेयी जी को जितनी अधिक सफलता मिली है, उतनी अधिक सफलता बँगला के शरत् बाबू को छोड़कर अन्य किसी उपन्यासकार को नहीं मिली है।

जैनेन्द्र कुमार (१६०५ ई०)

प्रेमचन्द युग के उपन्यासकार होते हुए भी जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में ऐसी प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं जिनका आगे चलकर विशिष्ट विचारधारा के रूप में विकास हुआ और अपनी इस विशिष्टता के कारण जैनेन्द्र जी स्वयं प्रेमचन्द युगीन प्रभाव से उत्तरोत्तर अलग होते गए। आगे चलकर उन्होंने एक ऐसी उपन्यास परम्परा का निर्माण किया जो प्रेमचन्द युगीन प्रभाव से बिल्कुल मुक्त थी। प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों में जहाँ बाह्य-सत्यों के उद्घाटन एवं आदर्शों को प्रतिष्ठित करने पर बल दिया गया, वहीं जैनेन्द्र जी ने अन्तःसत्यों को उद्घाटित करने एवं अन्तर्द्वन्द्वों को चित्रित करने के प्रति आग्रह दिखलाया है। 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'विवर्त', 'व्यतीत', 'सुखदा', 'स्पर्धा', 'जय-वर्धन' और 'मुक्ति-बोध' जैनेन्द्र जी के प्रमुख उपन्यास हैं। 'तपोभूमि' नामक एक उपन्यास जैनेन्द्र जी ने ऋषभचरण जैन के साथ लिखा है। लेखक के रूप में जिसमें दोनों का नाम है। इन उपन्यासों में जैनेन्द्र जी यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भावनाओं के चित्रण करने की ओर अत्यधिक उन्मुख हैं फिर भी उन्होंने सामाजिक सिद्धान्तों की चहारदिवारी के बाहर झाँका है। जैनेन्द्र जी ने अपनी व्यक्तिवादी विचारधारा को, जो मानसिक ग्रन्थि से उद्भूत है अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। प्रेमचन्द और उनके युग से प्रभावित सामाजिक उपन्यासों और जैनेन्द्र कुमार के सामाजिक उपन्यासों में मौलिक भेद है। प्रेमचन्द के पात्रों के सम्मुख जो समस्याएँ हैं उनका सम्बन्ध समाज से है, पर जैनेन्द्र जी के पात्रों की समस्याएँ विशेषतः व्यक्ति की समस्याएँ हैं जो प्रायः स्त्री-पुरुष के शारीरिक सम्बन्धों के आस-पास ही चक्कर काटती हैं। जैनेन्द्र जी हिन्दी के प्रेमचन्द और बँगला के शरत् बाबू का समन्वय हिन्दी उपन्यास साहित्य में करना चाहते थे, पर वे दोनों में से एक भी न हो सके।

भगवतीचरण वर्मा (१६०३ ई०)

अपनी व्यंग्यात्मक शैली और विशिष्ट चरित्र-रचना के कारण वर्मा जी हिन्दी उपन्यास साहित्य में विशेष महत्व रखते हैं। 'पतन', 'चित्रलेखा', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते',

'आखिरी दाँव', 'भूले बिसरे चित्र', 'वह फिर नहीं आई', 'अपने-अपने खिलौने', 'सामर्थ्य और सीमा', 'रेखा' तथा 'सीधी-सच्ची बातें' वर्माजी के प्रमुख उपन्यास हैं। इनके चित्रलेखा उपन्यास को हिन्दी में सर्वाधिक पाठक उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त है। ऐतिहासिक कल्पना और सामाजिक रोमांस को आधार बना कर लिखा हुआ यह एक समस्या मूलक उपन्यास है जिसमें पाप और पुण्य जैसी समस्या का बड़ा ही कलात्मक विवेचन हुआ है। 'अनातोले' (फ्रांस) के प्रसिद्ध उपन्यास 'थाया' के आदर्श पर लिखे जाने पर भी 'चित्रलेखा' उपन्यासकार की एक मौलिक कल्पना है, जिसके माध्यम से परम्परित स्त्री-पुरुष सम्बन्धी नैतिक मान्यताओं की नूतन व्याख्या भोगवादी सिद्धान्त के आधार पर की गयी है। पाप और पुण्य की समस्या का समाधान प्रस्तुत करने के लिए जीवन के जिस अंश को चुना गया है उसमें उपन्यास की प्रमुख समस्या पाप और पुण्य की नहीं, बल्कि 'प्रेम' की है। समस्याप्रधान उपन्यास होते हुए भी इसमें सशक्त चरित्रों का जो निर्माण हो सका है उससे इसकी उपलब्धि और भी महत्वपूर्ण हो उठी है।

'पतन' इनकी आरम्भिक रचना है। 'तीन वर्ष', 'विश्वविद्यालय की अनोखी दुनियाँ', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में विशिष्ट (टिपिकल) चरित्रों, 'आखिरी दाँव' में सिनेमा-जगत, 'भूले-बिसरे चित्र' में भारत की विगत लगभग पचास वर्षों की सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों, 'अपने-अपने खिलौने' (लघु उपन्यास) में दिल्ली के एक विशिष्ट समाज का व्यंग्यचित्र, 'सामर्थ्य और सीमा' में अल्पसंख्यकों के प्रति की गई तुष्टीकरण की नीति और मंत्रियों के आस-पास दरबारियों के जमघट, 'वह फिर नहीं आई' (लघु उपन्यास) में परिस्थितिजन्य दुर्घटनाओं में हुई एक नारी की करुण गाथा और 'रेखा' में नारी सम्बन्धी स्वच्छन्द रोमान्स का चित्रण हुआ है।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव

प्रतापनारायण जी मुख्यतः सामाजिक उपन्यासकार हैं और प्रेमचन्द की भूमि पर ही बराबर लिखते आ रहे हैं। अपने सामाजिक उपन्यासों के लिए श्रीवास्तव जी ने समाज की व्यापक भूमि नहीं चुनी है, बल्कि उन्होंने निम्न, मिडिल, ड्राइंग रूमों तथा सिनेमा घरों का ही चित्र खींचा है। अब तक के उनके प्रकाशित उपन्यासों में 'विदा', 'विजय', 'विकास', 'बयालीस', 'विसर्जन', 'बेकसी का मजार', 'विषमुखी', 'वेदना', 'विश्वास की वेदी पर', 'वन्दना', 'वंचना', 'विनाश के बादल', 'विषगमा', 'बन्धन विहीना', 'वसावर्तन' और 'वन्दिता' प्रमुख हैं। इनके सामाजिक उपन्यास 'विदा' और ऐतिहासिक उपन्यास 'बेकसी का मजार' को अद्भुत लोकप्रियता मिली है। ज्ञातव्य है कि श्रीवास्तव जी ने अपने प्रायः सभी उपन्यासों के जो नाम चुने हैं उनका आरम्भ 'व' से ही होता है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (१८९६–१९६१ ई०)

'निराला' जी की ख्याति कवि रूप में ही अधिक हुई, पर उन्होंने साहित्य की अन्य विधाओं में भी अपनी क्रान्तिकारी प्रतिभा का परिचय दिया है। 'अप्सरा', 'अलका', 'निरुपमा', 'प्रभावती', 'चोटी की पकड़', 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'काले कारनामे' आदि निरालाजी की प्रमुख औपन्यासिक कृतियाँ हैं जिनमें उनकी भावानुभूति और यथार्थ रूप में समाज को देखने की दृष्टि का परिचय मिलता है।

इसके अतिरिक्त सियारामशरण गुप्त (१८९५ ई०) कृत 'गोद', 'अन्तिम आकांक्षा, और 'नारी', राधिकारमण प्रसाद सिंह (१८९० ई०) कृत 'राम-रहीम', 'सावनी समा', 'पुरुष और नारी' तथा 'सूरदास', श्रीनाथ सिंह कृत 'उलझन', 'जागरण', 'प्रभावती' और 'प्रजामंडल' तथा अवधनारायणकृत 'विमाता' आदि उपन्यास प्रेमचन्द युग की सीमा के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

गोविन्द वल्लभ पंत, मन्नन द्विवेदी, जगदीश झा, विश्वम्भर नाथ 'जिजा', धनीराम प्रेम, शिवनाथ शास्त्री, यदुनन्दन प्रसाद, विश्वनाथ सिंह शर्मा, शम्भू दयाल सक्सेना, प्रफुल्ल चन्द्र ओझा, जहूर बख्श, शिवरानी देवी, चन्द्रशेखर शास्त्री और रूपनारायण पाण्डेय आदि उपन्यासकारों की प्रमुख रचनाएँ प्रेमचन्द युग में ही लिखी गईं।

इस प्रकार प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों पर एक विहंगम दृष्टि डालने से सरलतापूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि यह युग हिन्दी उपन्यास के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं वैयक्तिक जीवन की समस्याओं को अत्यन्त व्यापक भूमि पर तो इस युग के उपन्यासों में चित्रित किया ही गया, साथ ही यथार्थवादी चित्रण को महत्वपूर्ण स्थान देने का पूर्ण प्रयास भी हुआ। तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन पर व्याप्त महात्मा गांधी के प्रभावों एवं आदर्शों को भी इस युग के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यास का विषय बनाया।

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास

मुंशी प्रेमचन्द और उनके अनुयायी लेखकों द्वारा हिन्दी उपन्यास साहित्य विकास की एक ऐसी स्थिति तक पहुँच गया था कि इस हल्के-फुल्के कहे जाने वाले साहित्य रूप को भी गम्भीर साहित्य की गरिमा प्राप्त हो गयी। परिणामस्वरूप लेखकों और पाठकों में ऐसा विश्वास जगने लगा कि उपन्यासों के माध्यम से भी समसामयिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं वैयक्तिक विषम समस्याओं का समाधान ढूँढा जा सकता है। यह वह युग था जब कि भारतीय समाज की राजनीतिक चेतना में पर्याप्त वैविध्य का समावेश हो चुका था। समाज विश्व में होने वाले राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों से परिचित होने लगा था। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन-

अध्यापन ने सामाजिक एवं वैयक्तिक मानव-मूल्यों में परिवर्तन का आग्रह प्रस्तुत कर दिया था। ऐसी स्थिति में प्रेमचन्द युगीन उपन्यास साहित्य जिन आदर्शों को सामने रखकर विकसित हुआ था उनमें आस्था रख पाना पाठकों के लिए सम्भव नहीं था। नवीन विचारधाराओं को चित्रित करने के लिए नए उपन्यास स्वरूप की आवश्यकता थी। इस प्रकार सामाजिकयथार्थवाद, प्रकृतवाद, अतियथार्थवाद, समाजवादी-यथार्थवाद और मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद को दृष्टिपथ में रखते हुए हिन्दी उपन्यासों की सृष्टि हुई। ऐतिहासिक उपन्यास भी तत्कालीन परिस्थितियों को दृष्टि-पथ में रखते हुए पर्याप्त मात्रा में लिखे गए। लघु उपन्यासों और आंचलिक उपन्यासों को भी पर्याप्त ख्याति मिली है। ऐसी स्थिति में प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों को काल-क्रम के अनुसार प्रस्तुत कर पाना समीचीन न होगा। प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास साहित्य का इतिहास विविध शाखाओं-प्रशाखाओं के रूप में विभिन्न दिशाओं में विकसित हुआ है और उसकी विवेचना विभिन्न मनोवृत्तियों के आधार पर ही की जा सकती है। इस विवेचना में भी जो सबसे बड़ी कठिनाई सामने आती है वह यह कि अधिकांश उपन्यासकार ऐसे हैं जिन्होंने एकाधिक विचारधाराओं एवं सिद्धान्तों के आधार पर विविध उपन्यासों की रचनाएँ की हैं। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के उपन्यासकारों की विवेचना के लिए किस वर्ग में रखा जाय, हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक के सामने एक बहुत बड़ा प्रश्न है? उपन्यासकार की प्रमुख रचना-प्रवृत्ति को ही आधार मानकर इस विवेचन को आगे बढ़ाया जा सकता है।

सामाजिक यथार्थवाद

सामाजिक यथार्थवाद का अर्थ है समाज की वास्तविक अवस्था का यथार्थ चित्रण। इस चित्रण की प्रवृत्ति प्रेमचन्द जी के बाद लिखे जाने वाले उपन्यासों में देखने को मिलती है जिनमें आदर्शवादी चित्रों के स्थान पर समाज के वास्तविक और प्रकृत रूप को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रवृत्ति को सामाजिक यथार्थवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। अंग्रेजी-साहित्य में इसे 'क्रिटिकल रियलिज्म' के नाम से पुकारते हैं। जयशंकर प्रसाद कृत 'कंकाल', को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। आगे चलकर इसका प्रभाव जैनेन्द्र कुमार, सियाराम शरण गुप्त, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, राधिकारमण सिंह, श्रीनाथ सिंह, रांगेय राघव, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और अंचल के कतिपय उपन्यासों पर आंशिक रूप में पड़ा।

प्रकृतवादी उपन्यासकार

सामाजिक यथार्थ को सामने रखकर लिखे गए चरित्र प्रधान उपन्यासों में कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिन पर प्रकृतवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इनमें

प्रभावित उपन्यासकार साधारणतः स्त्रियों के सम्बन्ध मे अत्यन्त सामान्य धारणा रखते है। इस प्रवृत्ति को सामने रखकर लिखे गए उपन्यास नग्नता के शिकार हो गए है। हिन्दी साहित्य में यह आन्दोलन विशेष लोकप्रिय नही हुआ। पर कुछ प्रमुख उपन्यासकारो ने आंशिक रूप मे इस शैली का उपयोग किया है। उदाहरण स्वरूप चतुरसेन शास्त्री कृत 'अमर अभिलाष' पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' कृत 'दिल्ली का दलाल', इलाचन्द्र जोशी कृत 'घृणामयी' आदि उपन्यासो को लिया जा सकता है। यशपाल और अज्ञेय के सामाजिक और राजनीतिक उपन्यासो मे इस शैली का आंशिक प्रयोग मिलता है।

अतियथार्थवादी उपन्यासकार

नग्नता के क्षेत्र मे अतियथार्थवाद, प्रकृतवाद से भी आगे बढ़ा हुआ है। अतियथार्थवादी उपन्यासकार मनुष्य के अवचेतन मन पर विशेष जोर देता है। वह सभ्यता के नाम पर पड़े पर्दे को हटाकर मानव के यथार्थ रूप को सामने लाना चाहता है। नग्न प्राचीन प्रस्तर-प्रतिमाओं ने इस विचारधारा को आगे बढाने में सहायता पहुँचाई है। अँग्रेजी साहित्य में इसे 'सररियलिज्म' के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रवृत्ति का विकास हिन्दी मे इसलिए बहुत कम हो पाया है। कि हिन्दी का लेखक और पाठक अपेक्षाकृत मर्यादावादी है। एकाध उपन्यास ऐसे देखने को मिल जाते है जो इस शैली के निकट हैं। उदाहरण के लिए द्वारिका प्रसाद एम० ए० कृत 'घेरे के बाहर' एवं केशनी प्रसाद चौरसिया कृत 'चुटकी भर चाँदनी' का देखा जा सकता है।

समाजवादी यथार्थवाद और हिन्दी के उपन्यासकार

समाजवादी यथार्थवाद का प्रमुख उद्देश्य समाजवादी समाज के उद्देश्य, गुण एवं उसकी वर्तमान तथा भावी गतिविधियो का मूल्यांकन करना है। यह विचारधारा हिन्दी उपन्यासो मे अत्यधिक लोकप्रिय हुई। इसके साथ एक निश्चित भावधारा सन्निहित हो चली है और मार्क्सवादी सिद्धान्तो का प्रचार करना ही इस वर्ग के उपन्यासकारो का प्रमुख उद्देश्य है। हिन्दी मे लिखे गए इस वर्ग के उपन्यास समाजवादी यथार्थवाद की कसौटी पर पूर्णतः खरे नही उतर पाते क्योंकि प्रायः ऐसा देखने को मिल जाता है कि समाजवादी यथार्थ के नाम पर लिखे जाने वाले उपन्यासों में मानव की दमित काम-वासना मूल प्रेरक शक्ति के रूप में वर्तमान है। पर, इतना तो अवश्य मानना ही पड़ेगा कि साम्यवादी (मार्क्सवादी) विचारों को सामने रखकर हिन्दी मे उपन्यास लिखे गए हैं। ऐसे लेखको मे राहुलसांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव, नागार्जुन और भैरवप्रसाद गुप्त प्रमुख हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार

मनोविज्ञान ने आधुनिक विचारकों को सर्वाधिक प्रभावित किया है। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण के माध्यम से हिन्दी उपन्यासो मे मानव-मन के भीतर चलने वाले

कार्य-व्यापारों का विवेचन हुआ है। इन उपन्यासों में मानव-समाज की अपेक्षा एक व्यक्ति के यथार्थ जीवन चित्रण पर अधिक बल दिया जाता है। इनमें एक सामान्य जीवन व्यक्ति का चित्रण नहीं होता, बल्कि असाधारण व्यक्तियों को लेकर ही इनका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया जाता है। जिस प्रकार समाजवादी-यथार्थवाद मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित है उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास 'फ्रायड' के सिद्धान्तों से प्रभावित है। इस शैली को लक्ष्य मानकर लिखने वाले उपन्यासकारों में इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय' तथा डा० देवराज के नाम प्रमुख हैं।

प्रमुख उपन्यासकार

इलाचन्द्र जोशी

हिन्दी उपन्यास साहित्य में मनोविश्लेषण प्रणाली के प्रवर्तन का श्रेय 'जोशी' जी को दिया जा सकता है। 'घृणामयी', 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित', 'लज्जा' (घृणामयी का नवीन संस्करण), 'मुक्तिपथ', 'सुबह के भूले', 'जिप्सी' तथा 'जहाज का पंछी' जोशी जी के प्रकाशित उपन्यास हैं। इनके उपन्यासों की गतिविधि मूलतः यौन-समस्याओं को ही लेकर चलती है। 'पर्दे की रानी' का इन्द्रमोहन एक शरीफ बदमाश का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ न जाने कितनी स्त्रियों के साथ अनैतिक यौन-सम्बन्ध स्थापित करता और तोड़ता है। 'जोशी' जी के 'संन्यासी' का नन्दकिशोर, 'पर्दे की रानी' का निरञ्जन तथा 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ सभी 'न्यूरोटिक' चरित्र हैं। मानसिक गाँठ खुल जाने पर उन्हें अपेक्षित मार्ग मिल जाता है। 'मुक्ति पथ' और 'सुबह के भूले' 'जोशी' के सामाजिक तथा 'जिप्सी' और 'जहाज का पंछी' मिश्रित कथानक वाले उपन्यास हैं।

अज्ञेय : सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन (१९११ ई०)

'शेखर एक जीवनी' (दो भाग), 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास के माध्यम से 'अज्ञेय' जी ने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। 'अज्ञेय' जी के उपन्यासों में वैयक्तिकता का अधिक चित्रण है। वे सम्पूर्ण समाज को उसके वास्तविक रूप में चित्रित करने की अपेक्षा एक व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर उसके जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म छान-बीन करना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं। 'शेखर एक जीवनी' इसका सर्वोत्तम नमूना है। 'नदी के द्वीप' नूतन शिल्प प्रयोग के कारण विशेष लोकप्रिय हुआ। इसमें प्रकृतवादी शैली का आंशिक प्रयोग देखने को मिल जाता है। 'अपने-अपने अजनबी' एक अस्तित्ववादी उपन्यास है जिसकी कथा-भूमि भारत नहीं, बल्कि यूरोप है।

यशपाल (१९०३ ई०)

यशपाल के अधिकांश उपन्यास एक विशिष्ट राजनीतिक दृष्टिकोण से लिखे गए हैं। समाजवादी यथार्थवाद का सर्वांगिक निर्वाह करने वालों में यशपाल का स्थान प्रमुख है। 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'दिव्या', 'पार्टी कामरेड', 'मनुष्य के रूप', 'अमिता', 'झूठा-सच' (दो भाग) नाम से प्रकाशित यशपाल के उपन्यासों में 'दिव्या' और 'अमिता' को छोड़कर सभी उपन्यास राजनीतिक गतिविधियों को चित्रित करने एवं लेखक के मार्क्सवादी सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने के लिए लिखे गए हैं। मार्क्सवादी दर्शन का आग्रह इनके उपन्यासों में उभड़कर सामने आया है। 'दादा कामरेड' हिन्दी साहित्य में पहला उपन्यास है जिसमें रोमास और राजनैतिक सिद्धान्तों का मिश्रण हुआ है। 'देशद्रोही' के अन्दर लेखक ने खुलकर मार्क्स के सिद्धान्तों के प्रचार का असफल प्रयास किया है। 'मनुष्य के रूप' यशपालजी का सामाजिक उपन्यास है जिसमें अपेक्षाकृत वैयक्तिक सिद्धान्तों का आग्रह कम है। 'पार्टी कामरेड' की एक कम्यूनिस्ट लड़की एक लखपती किन्तु लफंगे व्यक्ति को अपने प्रेम से सुधार लेती है। 'दिव्या' यशपाल जी का ऐतिहासिक उपन्यास है जो उत्तर मौर्यकालीन भारतकी राजनैतिक परिस्थितियों का चित्र उपस्थित करता है। यशपाल हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार हैं जिन्होंने 'दिव्या' के माध्यम से प्राचीन बौद्धयुगीन मानव-जीवन की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। इस उपन्यास में कल्पना के आधार पर देश-काल का चित्रण हुआ है। इतिहास को यशपाल ने अपनी एक विशेष दृष्टि से देखा है, फिर भी प्रस्तुत करने के ढंग में इतनी कलात्मकता है कि विशेष व्यवधान नहीं होने पाया है और पाठक को ऐतिहासिक यथार्थ का पूर्ण रस प्राप्त हो जाता है। 'दिव्या' को ही भाँति 'अमिता' में अशोककालीन भारत को यशपाल ने कल्पना के आधार पर चित्रित किया है, पर 'दिव्या' और 'अमिता' के मूल स्वर में महान् अन्तर है। इसमें अमिता नामक नन्ही-मुन्ही बालिका को कलिंग विजय की ऐतिहासिक घटना के साथ जोड़कर उसे नृशंस अशोक को प्रियदर्शी अशोक बनाने का गौरव प्रदान किया गया है। यशपाल का 'झूठा-सच' उपन्यास सन् १९४२ ई० तक की सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों का अत्यन्त सजीव चित्र उपस्थित करता है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (१९१० ई०)

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' मूलतः मध्यवर्गीय समाज को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने की ओर ही विशेष रत रहे है। अब तक उनके 'सितारों के खेल', 'गिरती दीवारें' (इसके चेतन नाम से कई लघु संस्करण हुए है), 'गर्म राख', 'बड़ी-बड़ी आँखें', 'पत्थर-अलपत्थर' और 'शहर में घूमता आइना' नामक छः उपन्यास प्रकाशित हो

चुके हैं। 'बाँधो न नाव इस ठाँव' नामक इनका एक और उपन्यास 'नई कहानियाँ' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी (१९०७ ई०)

हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्र लेख' नामक दो सांस्कृतिक ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं और 'पुनर्नवा' नामक तीसरा उपन्यास शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' हर्षकालीन भारत के परिवेश में लिखो एक ऐतिहासिक रोमांस की सृष्टि है। उपन्यास की कथाभूमि का आधार कादम्बरी के लेखक बाणभट्ट का प्राप्त जीवन-वृत्त है जिसे उपन्यासकार ने अपनी महती कल्पना और गहन तथा खोजपूर्ण स्वाध्याय के द्वारा प्राप्त कतिपय सूत्रों के आधार पर संगठित किया है। भारतीय संस्कृति तथा प्राचीन परम्पराओं का अत्यन्त गम्भीर विवेचन द्विवेदीजी ने पाण्डित्यपूर्ण ढंग से इस उपन्यास में किया है। उपन्यास में आये हुए पात्रों का निर्माण लेखक ने प्रायः अपनी कल्पना-शक्ति के बल पर किया है जो हर्षकालीन भारत की सच्ची सामाजिक एवं सांस्कृतिक तथा राजनैतिक गतिविधियों की झाँकी प्रस्तुत करते हैं। अपनी इस कृतिके द्वारा द्विवेदी जी ने यह सिद्ध कर दिया है कि उपन्यास के रूप में अत्यन्त गम्भीर साहित्य की सृष्टि संभव है। हिन्दी उपन्यास साहित्य में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक अद्भुत तथा अनुपम प्रयोग है।

'चारुचन्द्र लेख' उपन्यास भी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की ही शैली पर लिखा गया है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की ही भाँति इस उपन्यास के आरम्भ में भी 'कथामुख' की व्यवस्था करके व्योमकेश शास्त्री अथवा हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपन्यास के मूल लेखक के सम्बन्ध में पाठकों को भ्रम में डाल दिया है। यह उपन्यास भी आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। इसमें अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज के पतन के बाद का भारतीय समाज चित्रित है। तत्कालीन समाज की विशृंखलता, अन्धविश्वास, पारस्परिक कलह, देश की विकट राजनैतिक परिस्थिति, मुस्लिम आक्रमण और शासन के कारण उत्पन्न कुण्ठा और हीन भावना, सिद्धों और नाथों के बढ़ते हुए प्रभाव, स्त्रियों के प्रति अन्धस्थ दृष्टि, आचार-विचार तथा राष्ट्रीय एकता के अभाव आदि प्रसंगों का इस उपन्यास में सुन्दर विवेचन हुआ है।

रांगेय राघव

रांगेय राघव ने अनेक उपन्यास लिखे, जिनमें 'घरौंदे', 'मुर्दों का टीला' और 'कब तक पुकारूँ' विशेष प्रसिद्ध हैं। 'कब तक पुकारूँ' एक सुन्दर आंचलिक उपन्यास है। समाजवादी यथार्थवाद से प्रभावित उपन्यासकारों में रांगेय राघव का नाम आदर के साथ लिया जाता है और 'घरौंदे' उपन्यास उनकी इस कीर्ति का कारण है।

अमृतलाल नागर

'नवाबी मसनद', 'सेठ बाँकेमल', 'महाकाल', 'बूँद और समुद्र', 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर' तथा 'अमृत और विष' आदि उपन्यासों के यशस्वी लेखक अमृतलाल नागर का स्थान आधुनिक उपन्यासकारों में बड़े महत्व का है। इनके 'बूँद और समुद्र', 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर' तथा 'अमृत और विष' उपन्यास को अपेक्षाकृत अधिक ख्याति मिली है। नवीन शिल्प प्रयोग और भाषा की ताज़गी के लिए अमृतलाल नागर की ओर विवश होकर देखना पड़ता है। कथा कहने की अद्भुत शक्ति नागर जी में देखने को मिलती है।

नागार्जुन

समाजवादी यथार्थवाद को आदर्श मानकर लिखने वाले उपन्यासकारों में नागार्जुन एक विशिष्ट स्थान तो रखते ही हैं, साथ ही आंचलिक उपन्यासों के प्रवर्तकों में भी नागार्जुन जी अगली पंक्ति में बैठने के अधिकारी हैं। 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'नई पौध', 'बाबा बटेसर नाथ', 'दुःख-मोचन', 'वरुण के बेटे', 'कुम्भी पाक', 'हीरक जयन्ती' और 'उग्र तारा' आदि नागार्जुन जी के प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

धर्मवीर भारती

धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं और दोनों को पर्याप्त ख्याति मिली है। 'गुनाहों का देवता' किशोर और किशोरियों में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है। सम्भवतः चित्रलेखा के बाद सर्वाधिक पाठकों का निर्माण करने का इसे गौरव मिला है। यह उपन्यास मसृण प्रेम की मनोरम भूमि में इन्द्रधनुषी कल्पनाओं की रंगीनियों से रँग कर दुखान्त प्रेम की मनोरम झाँकी प्रस्तुत करता है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' नामक उपन्यास में धर्मवीर भारती ने उपन्यास के माध्यम से कहानी कहने का एक नया प्रयोग किया है।

फणीश्वरनाथ 'रेणु'

फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आँचल', 'परती परिकथा', 'दीर्घतपा' और 'जुलूस' अब तक प्रकाशित प्रमुख आँचलिक उपन्यास हैं। इन उपन्यासों के माध्यम से एक नयी विधा, एक नयी दृष्टि और कथा कहने का एक नया ढँग हिन्दी उपन्यास साहित्य में आया। 'मैला आँचल' में पूर्णिया जिले में एक गाँव मेरीगंज से सम्बन्धित लोगों की कहानी उन्हीं की भाषा में कही गयी है। 'मैला आँचल' शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ग्राम्य जीवन में व्याप्त बुराइयों का ही चित्रण करने बैठा है। 'परती परिकथा' में 'मैला आँचल' की भाँति ही परानपुर गाँव को चित्रण का आधार बनाया गया है। अँग्रेजी के शब्दों का क्या रूप गावों में आकर हो जाता है इसके सुन्दर

उदाहरण इसमें मिल जाते हैं। लोकगीतों, लोक-कथाओं, भूत-प्रेतों, देवी-देवताओं तथा डायरी रूप में प्राप्त स्मृति-पत्रों के आधार पर इस उपन्यास की कथा का निर्माण हुआ है। इनके अन्य उपन्यास भी आंचलिक उपन्यासों की ही कोटि में आते हैं।

प्रभाकर माचवे

प्रभाकर माचवे ने 'परन्तु' 'साँचा' तथा 'द्वाभा' नामक उल्लेखनीय लघु उपन्यास लिखे हैं। उनका 'परन्तु' नामक उपन्यास नवीन कलात्मक प्रतिभा का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसमें मध्यवर्ग के सबसे बड़े शत्रु पूँजी-पतियों का लेखा-जोखा लिया गया है।

उदयशंकर भट्ट

भट्टजी ने 'डाक्टर शेफाली', 'सागर लहरें और मनुष्य', 'लोक-परलोक', 'शेष अशेष', 'एक नीड़ दो पछी' (वह जो मैंने देखा का परिष्कृत रूप) और 'दो अध्याय' नामक उपन्यास लिखा है, जिनमें उनका उपन्यास 'सागर लहरें और मनुष्य' विशेष लोकप्रिय हुआ। इसे आंचलिक उपन्यास का सर्वोत्तम नमूना भी कहा जा सकता है जिसमें मछली मारने वाली कोली जातियों का बड़ा ही सजीव एवं सशक्त चित्रण हुआ है।

देवराज

डॉ० देवराज मुख्यतः मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। अब तक उनके 'पथ की खोज', 'बाहर भीतर', 'रोड़े और पत्थर' तथा 'अजय की डायरी' नाम से चार उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। इस विशिष्ट शैली में देवराज ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। दो भागों में प्रकाशित 'पथ की खोज' को अपेक्षा कृत अधिक लोक-प्रियता प्राप्त हुई है।

लक्ष्मीनारायण लाल

'धरती की आँखें', 'बयाँ का घोसला और साँप', 'काले फूल का पौधा', 'रूपा जीवा' तथा 'मन वृन्दावन' नामक इनके अब तक के प्रकाशित उपन्यास हैं। लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने उपन्यासों में ग्रामीण क्षेत्रों और नागरिक जीवन को समान रूप से स्थान दिया है। अपनी आरम्भिक कृतियों में इन्होंने प्रेमचन्द की परम्परा का भी निर्वाह किया है।

शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'

'रुद्र' जी के अबतक दो उपन्यास 'बहती गंगा' और 'सचितान' प्रकाशित हो चुके हैं। 'बहती गंगा' 'रुद्र' जी की लोकप्रियता का प्रमुख कारण है। यह एक आंचलिक उपन्यास है जिसमें काशी की लगभग दो सौ वर्षों की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं

राजनीतिक चेतना से युक्त सच्ची कहानी कही गयी है। भाषा-शैली, कथावस्तु तथा देश काल आदि सभी क्षेत्रों में 'बहती गंगा' एक सफल अनूठा प्रयोग है।

अमृत राय

अमृत राय स्वर्गीय प्रेमचन्द के पुत्र और 'बीज', 'नागफनी का देश' तथा 'हाथी के दांत' आदि उपन्यासो के रचयिता है।

गिरिधर गोपाल

'चाँदनी के खंडहर' नामक लघु उपन्यास के सफल लेखक हैं। यह उपन्यास एक नया प्रयोग है जिसकी सारी कथा चौबीस घंटे की अवधि में समाप्त हो जाती है।

आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र

लघु उपन्यास लिखने में जितनी अधिक सफलता आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र को मिली, उतनी कम ही लेखकों को मिली है। 'और वह हार गई', 'हाथी के दाँत', 'सीमा के पार' और 'दुर्बल के पाँव' मिश्र जी के सफल सामाजिक उपन्यास हैं। आरम्भ मे इन्होंने 'इन्दिरा' नामक एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी लिखा था।

राजेन्द्र यादव

नयी पीढ़ी के उपन्यासकारों में राजेन्द्र यादव ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। इनके अब तक—'प्रेत बोलते है', 'उखड़े हुए लोग', 'कुल्टा', 'शह और मात', 'अनदेखे अनजान पुल', और 'एक इंच मुस्कान' (मन्नू भण्डारी इस उपन्यास की सह लेखिका हैं) नाम से छः उपन्यास प्रकाशित हो चुके है। राजेन्द्र यादव मध्यवर्गीय जीवन को चित्रित करने वाले उपन्यासकार है। एक सफल कहानीकार होने के नाते वे अपने उपन्यासो को शिल्प की दृष्टि से अधिक कलात्मक बना सके है।

हिमांशु श्रीवास्तव

आधुनिक खेवे के उपन्यासकारों में हिमांशु श्रीवास्तव विशिष्ट स्थान है। अबतक इनके **'चित्र और चरित्र' 'लोहे के पंख' 'नदी फिर बह चली' 'सिकन्दर', 'कथा सूर्य की नयी यात्रा'**, तथा **'धर्मचेता'** नामक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। **'लोहे के पंख'** और **'नदी फिर बह चली'** आंचलिक उपन्यासों की कोटि में आते है जो अच्छे बन पड़े है। 'सिकन्दर' उनका ऐतिहासिक उपन्यास है जिसकी वर्णन-शैली भी अच्छी है।

विश्वम्भर 'मानव'

'प्रेमिकाएँ', 'उजड़े घर', 'नदी', 'कावेरी', और **'नारी का मन'** उपनन्यास के लेखक **'मानव'** जी का मन मध्यवर्गीय युवक की प्रेमचेतना में अधिक रमा है। वे

मूलतः सामाजिक उपन्यासकार हैं। उनकी शैली और भाषा की मन्थरगति, अभिव्यक्तियों की फिसलन, मानव-जीवन की कमजोरी को उद्‌घाटित कर देती हैं।

शिवप्रसाद सिंह

ग्रामीण जन-जीवन पर लिखी अपनी कहानियों के माध्यम से शिवप्रसाद जी पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके हैं। उपन्यासकार के रूपमें उनका आगमन बाद में हुआ है। 'अलग-अलग वैतरणी' नामक उपन्यास में शिवप्रसाद सिंह जी ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उत्पन्न ग्रामीण समस्याओं का अत्यन्त यथार्थवादी एवं विचारोत्तेजक विवेचन प्रस्तुत किया है। देश स्वतन्त्र हुआ और लगा कि देखे सपने साकार होंगे, किसानों के दिन फिरेंगे, पर कुछ न हुआ। इसका बड़ा ही सजीव चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। अलग-अलग वैतरणी और अलग-अलग नर्क में डूबी गाँव की छटपटाती नई पीढ़ी को बदले सन्दर्भ में चित्रित करनेवाला हिन्दी का यह पहला उपन्यास है। इसने उपन्यास साहित्य में नवीन सम्भावना का द्वार खोला है। ग्रामीण जीवन पर लिखे उपन्यासों में सशक्त चरित्रों का प्रायः अभाव देखा जाता है, पर अलग-अलग वैतरणी उपन्यास में आए कतिपय नारी एवं युवक पात्र पाठक पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाते हैं। करैता गाँव को केन्द्र मानकर लिखा यह आंचलिक उपन्यास हिन्दी के अन्य आंचलिक उपन्यासों से इसलिए भिन्न है कि इसमें समस्त भारतीय गाँवों को प्रतिनिधित्व मिला है।

अन्य उपन्यासकार

हिन्दी उपन्यास साहित्य की प्रगति जिस गति से हुई है और उपन्यास लेखन की ओर प्रतिभाएँ जिस ढंग से आकर्षित हुई हैं उसे देखते हुए हिन्दी उपन्यास का प्रामाणिक इतिहास पुस्तक की सीमा में प्रस्तुत करना अत्यन्त कठिन है। जिन उपन्यासकारों ने हिन्दी उपन्यास साहित्य को समृद्धि प्रदान करने में अपना योगदान किया है उनमें महापंडित राहुल सांकृत्यायन, शान्तिप्रिय द्विवेदी, यज्ञदत्त शर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', पहाड़ी (रामप्रसाद घिल्डियाल), मन्मथनाथ गुप्त, गुरुदत्त, मोहनलाल महतो, नरोत्तम प्रसाद नागर, देवेन्द्र सत्यार्थी, भैरव प्रसाद गुप्त, नरेश मेहता, मोहन राकेश, अमरबहादुर सिंह 'अमरेश', यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', कमल शुक्ल, निशु, कन्हैया लाल ओझा, वाल्मीकि त्रिपाठी, उमाशंकर, युगल, शान्तिकुमारी वाजपेयी, मनु शर्मा, तेजरानी पाठक, प्रकाश भारतीय, वीरेन्द्रकुमार गुप्त, डा० श्याम परमार, संतोष व्यास, क्षीरसागर, राजेन्द्र अवस्थी, सुरेश सिनहा, रामदरश मिश्र, ठाकुरप्रसाद सिंह, राघवेन्द्र मिश्र, मनमोहन मदारिया, राजकुमार त्रिवेदी, श्रीराम शर्मा 'राम', अमरकान्त, श्रीराम वेरी, गुलशन नन्दा, विष्णु शर्मा, रमेश चौधरी 'आरिगपूडि',

कुमारी लीला अवस्थी, जगदीशकुमार 'निर्मल', डा० कंचनलता सब्बरवाल, गोविन्द-वल्लभ पंत, कोमल सिंह सोलंकी, हितवल्लभ गौतम, इन्द्रविद्या वाचस्पति, करतार सिंह दुग्गल, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, सत्यदेव चतुर्वेदी, डा० लक्ष्मीनारायण टंडन, बैजनाथ राय, रमेश बक्शी, शैलेश मटियानी, सेठ गोविन्द दास, हर्षनाथ, गोविन्द सिंह, शिवानी, राधाकृष्ण, बलवन्त सिंह, इन्दिरा नुपुर और दिनेशचन्द्र पाण्डेय के नाम उल्लेखनीय हैं।

कहानी

उद्भव

'कहानी' शब्द का प्रयोग जिस साहित्य-रूप के लिए रूढ़ हो गया है, वह आधुनिक साहित्य का अत्यन्त लोकप्रिय, सशक्त एवं जीवन्त साहित्य-रूप है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों और समीक्षकों ने इसके आरम्भ और विकास को लेकर विचित्र कल्पनाएँ की हैं और इसकी वर्तमान शक्ति को देखते हुए इसे अत्यन्त प्राचीन घोषित करने की चेष्टा की है। लगता है कि प्राचीन परम्परा के अभाव में कहानी का मूल्यांकन ही सम्भव नहीं। वैसे कहानी का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि मनुष्य का सामाजिक जीवन। हृदय के भावों को व्यक्त करने के लिए समय-समय पर जितने भी साहित्य रूपों का उदय हुआ उन सबमें कहानी किसी न किसी रूप में वर्तमान थी, चाहे वे महाकाव्य और प्रबन्ध काव्य रहे हों अथवा नाटक। पर इन साहित्य रूपों के क्रमिक विकास के साथ कहानी के इतिहास को कभी नहीं मोड़ा जा सकता। सभी प्रकार की कहानियों को कहानी की संज्ञा नहीं दी जा सकती, अन्यथा लोक-जीवन में बैठकों और अलावों के निकट बैठकर चाव से कही और सुनी जानेवाली कहानियों की भी विवेचना के लिए सामने रखना पड़ेगा। कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति मानव की आदिम प्रवृत्तियों में से एक है। असभ्य युग के क्रूर शासकों से लेकर विरक्त आश्रम वासियों के बीच तक कहानी और कहानी कहने वाले लोकप्रिय रहे हैं। व्यावसायिक कहानी कहने वाले (किस्सा गो) बीसवीं शताब्दी में भी कुछ दिनों पूर्व देखे जा सकते थे। पर इन कहानियों का न तो लिखित इतिहास ही मिलता है और न तो इनके लेखकों का नाम ही ज्ञात है। सम्भवतः इनका सब कुछ मौखिक ही रहा। आधुनिक हिन्दी कहानी एक स्वतंत्र साहित्य रूप है जिसका कोई सम्बन्ध उपर्युक्त कथा रूपों से नहीं जोड़ा जा सकता।

जातक कथाओं, बृहत्कथा, गोकुलनाथ जी की 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'गोरा बादल की कथा', श्री लल्लू लाल के 'प्रेम सागर' और 'सुखसागर' श्री सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' तथा इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' में आधुनिक कहानी के इतिहास को ढूंढ़ना कहानी के साथ अन्याय करना है। हिन्दी गद्य साहित्य

में उपन्यास साहित्य के बाद आधुनिक हिन्दी कहानी का उदय हुआ। वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणामस्वरूप विभिन्न साहित्य रूपों का विकास हुआ। स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर जाने की प्रवृत्ति ने साहित्यकारों को महाकाव्यों से गीतों, नाटकों में एकांकियों तथा उपन्यासों से कहानियों की रचनाभूमि तक पहुँचाया। उद्देश्य और रचनाभूमि की कतिपय समानताओं को देखते हुए लोगों ने लम्बी कहानी को छोटा उपन्यास तथा छोटे उपन्यास को लम्बी कहानी कहने का साहस किया है। इस भ्रांति के कारण स्वयं पाठक तो रहे ही, मूल में कहानी लेखक (विशेषकर आलोचक कहानीकार) भी थे।

इस भ्रांति को बल इस कारण भी मिला कि प्रायः उपन्यास लेखकों ने आवश्यकतावश कहानी लिखना भी आरम्भ कर दिया और उधर अवकाश पाकर कहानी लेखक उपन्यासकार बन बैठा। इस प्रकार लेखकों की व्यापक संख्या उपन्यासकार और कहानीकार दोनों रूपों में थी, जिससे साधारण पाठक रचना का भेद विस्तार से कर पाता था।

इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण बात और है जिस पर विचार कर लेना आवश्यक है। हिन्दी गद्य साहित्य के आविर्भाव काल से ही पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर लक्षित होने लगा था। यह प्रभाव अँग्रेजी और बँगला के माध्यम से हिन्दी पर आया। विविध गद्य रूपों के अभाव से हिन्दी गद्य में मौलिक रचनाओं की सृष्टि पीछे चलकर हुई। आरम्भ में तो अनुकरण और अनुवाद का बोल-बाला रहा। मुद्रण यंत्रों के विकास और हिन्दी पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण पाठकों एवं लेखकों के निर्माण की आवश्यकता पड़ी। परिणामस्वरूप अनुकरण एवं अनुवाद के द्वारा यान्त्रिक परिस्थितियों की चुनौती स्वीकार करने के लिए जिस साहित्य रूप की लोकप्रियता बढ़ी, वह था कथा-साहित्य। अँग्रेजी अथवा बँगला उपन्यासों के आधार पर अनूदित साहित्य को कभी कहानी का रूप दे दिया गया और कभी अँग्रेजी एवं बँगला कहानियों के आधार पर हिन्दी उपन्यासों की सृष्टि की गयी। आरम्भ की इस प्रवृत्ति ने हिन्दी उपन्यास और कहानी में साम्य ढूँढने वालों को अत्यधिक बल प्रदान किया।

हिन्दी गद्य साहित्य के इतिहास के उस बिन्दु की तलाश अत्यन्त कठिन है जिससे निकल कर हिन्दी कहानी ने **'आधुनिक हिन्दी कहानी'** का स्वरूप धारण किया। अस्तित्व में आने से पूर्व हिन्दी कहानी निश्चित रूप से पत्र पत्रिकाओं में छपने वाली अनूदित एवं मौलिक कहानियों में अपना रूप धारण कर रही थी। इस दृष्टि से हिन्दी कहानी के इतिहास पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस साहित्य रूप ने अपने विकास काल में ही अनेक चढ़ाव उतार देखे हैं। विषय एवं

शिल्प दोनों दृष्टियो से हिन्दी कहानी को परिवर्त्तन के अनेक मोडो से होकर गुजरना पडा है। परिवर्त्तन के ये बिन्दु कहीं कहीं तो इतने अलक्ष्य हैं कि उनको सहज ही देख पाना अत्यन्त कठिन है। साहित्य की इस विधा को वर्तमान साहित्यिक रूप प्राप्त करने के पूर्व विकास के अनेक स्तरों पर तो पहचानना भी कठिन है। सामान्यतः विद्वान् आलोचक आधुनिक हिन्दी कहानी की चर्चा करते समय उसे जयशंकर प्रसाद और प्रेमचन्द के उदय से बहुत पहले खीच ले जाते हैं।

जयशंकर प्रसाद और प्रेमचन्द के कहानी क्षेत्र में आगमन से हिन्दी कहानी को जो एक निश्चित दिशा मिली, उसकी भूमिका पूर्ववर्ती कथा साहित्य मे अवश्य बन रही थी, इसमे इन्कार नही किया जा सकता। इस प्रयोग काल मे कहानी का व्यवस्थित विकास-क्रम ढूँढ पाना अत्यन्त कठिन है। इस काल की कहानियो के कई स्तर देखने को मिलते हैं। प्रथम खेवे की कहानियाँ 'शेक्सपियर' के नाटकों की इतिवृत्ति की छाया पर लिखी गई। अन्य पुरुष के माध्यम से ये कहानियाँ वर्णनात्मक शैली मे लिखी गई। उदाहरण के लिए किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी को लिया जा सकता है। दूसरे खेवे की कहानियो में स्वप्न कल्पनाओ को आधार मानकर एक भिन्न प्रयोग करने की प्रवृत्ति दिखलायी पडी। इन कहानियो मे कौतूहल वृत्ति को प्रधानता मिली। केशवप्रसाद सिंह कृत 'आपत्तियों का पर्वत' नामक कहानी इस खेवे की कहानियो का प्रतिनिधित्व करती है। तीसरे खेवे में वे कहानियाँ आती हैं, जिनमे मौलिक संवेदना के दर्शन हुए। ये कहानियाँ सुदूर देश के काल्पनिक चरित्रों को लेकर लिखी गई। गिरजादत्त वाजपेयी कृत 'पति का पवित्र प्रेम' इसी कोटि की कहानी है। इसके पश्चात् वे कहानियाँ आई जिनका निर्माण यात्रा वर्णन के रूप मे हुआ। प्रथम खेवे की कहानियो की भाँति ये कहानियाँ अन्य पुरुष के माध्यम से न लिखी जाकर उत्तम पुरुष मे लिखी गई। इनमें कल्पना और यथार्थ का समन्वय देखने को मिल जाता है। पहली बार इन यात्रावर्णनो के रूप मे लिखी जाने वाली कहानियों में कहानी के तत्व उभड़कर सामने आए। केशवप्रसाद कृत 'चन्द्रलोक की यात्रा' को उदाहरणस्वरूप ले सकते है। विषय का प्रतिपादन एवं आदर्श की प्रतिष्ठा का आग्रह लेकर लिखी जाने वाली कहानियो को पाचवें स्तर पर रखा जा सकता है। इस खेवे में आत्म कहानी की सृष्टि हुई; जैसे कार्तिक प्रसाद खत्री की 'दामोदर राव की आत्म कहानी'। इस प्रकार की कहानियो मे उत्तम पुरुष मे कहानी कहने की शैली का सफल निर्वाह हुआ। छठे प्रयत्न मे संस्कृत की आख्यायिकाएँ आती हैं जिन्हे कहानी के रूप मे ढाला गया। जैसे श्री हर्ष-रचित 'रत्नावली' को पं० जगन्नाथप्रसाद त्रिपाठी ने कहानी का स्वरूप प्रदान किया। प्रयोग काल मे अन्तिम प्रयत्न के रूप मे जो कहानियाँ लिखी गई उनमें केवल वर्णन और विश्लेषण शैली के माध्यम से सामाजिक संवेदन को इतिवृत्तात्मक ढंग से बांधा

गया। लाला पार्वतीनन्दन कृत 'प्रेम का फुआरा' कहानी को उदाहरण के लिए देखा जा सकता है। इस प्रकार की कहानियों की रचना केवल संयोगों के आधार पर हुई है। इससे स्पष्ट है कि इस समय तक कहानी के क्षेत्र में जो भी प्रयत्न किए गए न तो उनमें मौलिकता दिखाई पड़ती है और न तो वे अपनी सुव्यवस्थित परम्परा का ही निर्माण कर सके। इसके बाद ही हिन्दी कहानी को प्रसाद और प्रेमचन्द के रूप में दो गरिमामय नक्षत्र मिले जिनसे कहानी का विकास आरम्भ हुआ।

हिन्दी की पहली कहानी किसे माना जाय इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों के लिए यह प्रश्न बराबर सिर दर्द बना रहा है। पिछले कुछ वर्षों में शोध के क्षेत्र में कहानी की बढ़ती लोकप्रियता ने इस विवाद को और भी आगे बढ़ाया। इतने बाद विवादों के पश्चात् भी पहली कहानी का प्रश्न अपनी जगह पर ज्यों का त्यों बना हुआ है। आरम्भिक कहानियों के पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे रहने और प्रामाणिक संग्रहों के अभाव के कारण इस दिशा में अबतक किए गए प्रयत्न किसी भी दिन अप्रामाणिक घोषित किए जा सकते हैं। किसी भी दिन कोई सहृदय परिश्रम शील शोधवृत्ति का पाठक ऐसी कहानियों को पत्र-पत्रिकाओं में से ढूँढ़ निकाल सकता है जिसे हिन्दी की पहली कहानी का गौरव दिया जाय। इधर कुछ कहानियाँ ऐसी आई हैं जिससे इस प्रकार की सम्भावना को और भी बल मिला है।

इंशा अल्ला खाँ ने सन् १७९८ और १८०३ ई० बीच किसी समय 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' लिखी। कुछ विद्वान इसे ही हिन्दी की पहली कहानी मानते हैं, पर अब यह धारणा निर्मूल हो चुकी है। आधुनिक कहानी के तत्वों का इसमें अभाव है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह अपने पीछे किसी परम्परा का निर्माण नहीं कर सकी। वास्तव में यह अपने ढंग का 'उदयभान चरित' ही है, कहानी नहीं।

सन् १९०० ई० में सरस्वती पत्रिका के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी कहानी का वास्तविक इतिहास आरम्भ हुआ। इसके प्रकाशन के प्रथम वर्ष जून में ही किशोरी लाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' नामक कहानी छपी। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सम्भावना के आधार पर इसी को हिन्दी की पहली कहानी माना है और उनके अमौलिक सिद्ध हो जाने पर उन्होंने स्वयं अपनी कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' (सन् १९०३ में प्रकाशित) और श्रीमती बंग महिला कृत 'दुलाई वाली' (सन् १९११ ई० में प्रकाशित) को क्रम से पहली कहानी होने का गौरव प्रदान किया है। नये तथ्यों के आलोक में उपर्युक्त बातें असंगत जान पड़ती हैं। इंदुमती की अमौलिकता प्रमाणित हो चुकी है' इस पर शेक्सपियर के टेंपेस्ट की छाप है। लेखक ने केवल

भारतीय वातावरण मे शेक्सपियर की बातो को प्रस्तुत कर दिया है। ऐसी स्थिति मे **'ग्यारह वर्ष का समय'** और दुलाई वाली ही बच जाती है जिन पर विचार किया जा सकता था। किन्तु सारिका पत्रिका (सन् १९६८ फरवरी अंक पृ० १९) मे अहिन्दी भाषा-भाषी स्वर्गीय माधव राव सप्रे की कहानी **'एक टोकरी भर मिट्टी'** के प्रकाशित हो जाने के कारण स्थिति बिलकुल बदल गई है। यह कहानी सन् १९०१ ई० मे 'छत्तीस गढ़ मित्र' नामक पत्र मे छपी थी। एक गरीब अनाथ विधवा की अपनी झोपड़ी के प्रति ममता और जमीदार की धांधली का इसमे चित्रण है। जिसका कहानीकार ने अन्त में हृदय परिवर्तन करा दिया है। अत्यन्त संक्षिप्त और सरल भाषा मे लिखी यह मुखान्त कहानी अपेक्षाकृत कहानी कला के अधिक निकट है। यदि कहानी के इतिहास को प्रसाद और प्रेमचन्द से पूर्व ले जाना ही है तो **'एक टोकरी भर मिट्टी'** हिन्दी की पहली कहानी और माधव राव सप्रे हिन्दी के प्रथम कहानीकार हैं। अब भी आगे सम्भावनाएँ है कि इस प्रश्न पर पुनर्विचार करने का अवसर आएगा। यदि इसी प्रकार उपेक्षित पत्रिकाओ मे कहानियाँ प्रकाश में आती रहेगी। मेरी दृष्टि मे हिन्दी कहानी के विकास क्रम को समझने में इस प्रकार के विवाद सहायक नही सिद्ध हो सकते। हमें किसी ऐसे निष्कर्ष पर आना होगा जहाँ से कहानी के व्यवस्थित विकास क्रम को पहचाना जा सके।

हिन्दी कहानी का वास्तविक आरम्भ और विकास—पहले ही कहा जा चुका है कि कहानी साहित्य का वास्तविक आरम्भ सन् १९०० ई० मे सरस्वती पत्रिका के प्रकाशन के साथ हुआ। इस पत्रिका के प्रकाशन के ९ वर्ष बाद सन् १९०९ ई० मे **'इन्दु'** का प्रकाशन हुआ जिसने कहानी साहित्य को एक सुनिश्चित शिल्प प्रदान किया। इसी पत्रिका मे जयशकर प्रसाद की कहानी 'ग्राम' सन् १९११ ई० में प्रकाशित हुई जिसे निर्विवाद रूप से हिन्दी की प्रथम साहित्यिक कहानी का गौरव प्रदान किया जा सकता है। सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित कहानियो के माध्यम से कहानी साहित्य की जो भूमिका बन रही थी, सन् १९११ ई० में अर्थात् 'ग्राम' के प्रकाशन काल तक उसने किसी स्वस्थ कहानी साहित्य की परम्परा का निर्माण नही किया। आगे चलकर उसे परम्परा का स्वरुप प्रदान करने का श्रेय मुशी प्रेमचन्द को मिला। जिस प्रकार की कहानी परम्परा का निर्माण मुं० प्रेमचन्द ने सन् १९१६ ई० में सरस्वती में प्रकाशित अपनी कहानी 'पचपरमेश्वर' द्वारा किया उस प्रकार की कहानियाँ उनसे पहले ही लिखी जा चुकी थी। राधिका-रमण सिंह कृत 'कानो मे कँगना (सन् १९१३ ई०) विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक कृत रक्षाबंधन' (सन् १९१३ ई०) तथा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी कृत 'उसने कहा था' (सन् १९१५ ई०) उसी कोटि की कहानियाँ हैं जिन्हे प्रेमचन्द के आगमन ने परम्परा का रूप प्रदान किया। प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती कहानीकारो में ऐसी शक्ति और क्षमता नही आ पाई थी कि उनके नाम से

किसी परम्परा को अनिहित किया जाता। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी कृत 'उसने कहा था' निश्चित रूप से हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों में से एक है, पर गुलेरी जी ने केवल तीन ही कहानियाँ लिखी उनमें से 'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का काँटा' नामक दो कहानियाँ अत्यन्त साधारण कोटि की हैं। युद्ध जीवन पर 'उसने कहा था' जैसी उत्तम कहानी हिन्दी में आजतक भी नहीं लिखा जा सकी। ऐसी स्थिति में गुलेरी जी को भी किसी कहानी परम्परा का प्रवर्तक नहीं कहा जा सकता। इस गौरव के अधिकारी तो मुंशी प्रेमचन्द ही हैं। अतः 'इन्दु' और 'सरस्वती' पत्रिकाओं ने प्रसाद और प्रेमचन्द के रूप में कहानी के दो स्कूलों को जन्म दिया।

प्रथम विश्वमहायुद्ध (सन् १९१४-१८ ई०) तक कहानी साहित्य में वैविध्य का अभाव दिखाई पड़ता है। इस समय तक हिन्दी प्रान्तों में आर्यसमाज आन्दोलन काफी लोकप्रिय हो चुका था। बंगाल में जिस प्रकार ब्रह्म समाज और सनातन समाज का संघर्ष चल रहा था, इसी प्रकार हिन्दी प्रान्तों में आर्य समाज और सनातन धर्म का। ब्रह्म समाज ने रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं सनातन समाज ने शरच्चन्द्र को प्रभावित किया हिन्दी कथा साहित्य अपने आरम्भिक दिनों में जिन देशी-विदेशी साहित्य का प्रभाव ग्रहण कर रहा था उनमें बँगला साहित्य प्रमुख था। लगभग बँगला कहानी साहित्य की-सी प्रवृत्ति के दर्शन हिन्दी कहानी में भी हुए। प्रसाद सनातन धर्म और प्रेमचन्द आर्य समाज से प्रभावित हुए। इनके पूर्व जितनी भी कहानियाँ लिखी गई थीं वे सभी भारतेन्दु युगीन सामाजिक चेतना से प्रभावित थीं। आरम्भिक दिनों के कुछ दिन बाद ही प्रसाद और प्रेमचन्द ने पूर्ववर्ती प्रभाव से मुक्त होकर विविध युगीन समस्याओं को महत्त्वपूर्ण स्थान देना आरम्भ कर दिया।

जयशंकर प्रसाद विलक्षण प्रतिभा के साहित्यकार थे। उनकी प्रतिभा बराबर अपने लिए नई धरती की तलाश करती रही। उन्होंने जिस साहित्य रूप का स्पर्श किया, उसमें इतनी पूर्णता प्रदान कर दी कि आगे आने वाले साहित्यकार उनका अनुसरण नहीं कर सके। प्रसाद साहित्य पर देशी-विदेशी प्रभाव पड़ा अवश्य, पर उन्होंने उस प्रभाव को भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के अनुकूल बना लिया है। भारतीय संस्कृति की गरिमा और पुरातन मर्यादा के प्रति आस्थावान होने के कारण प्रसाद की कहानियों में अतीत और वर्तमान का अद्भुत समन्वय हुआ है। इन्होंने घटनाओं के संयोग से निर्मित चरित्रों के आधार पर भाव प्रधान कहानियाँ लिखी हैं। अनुभूति और कल्पना से उद्भूत होने के कारण इनकी कहानियों को कहानी शिल्प की कसौटी पर कस पाना कठिन है। प्रभाव गाम्भीर्य और कलात्मकता का चरम परिपाक प्रसाद की कहानियों में पाया जाता है। इनकी छोटी कहानियाँ अपनी काव्यमयता से गद्यगीत जान पड़ती हैं और बड़ी कहानियों में नाटक का आनन्द आता है। 'विसाती'

और **'समुद्र सन्तरण'** जैसी कहानियो मे उनके गीतो का-सा दूरागत वंशी रव सुनाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त **'आँधी'**, **'मालवती'**, **'देवरथ'**, **'पुरस्कार'** और **'नूरी'** जैसी इतिहासाश्रित लम्बी कहानियों में नाटकीय तत्वों का सफल निर्वाह हुआ है। **'इन्द्रजाल'**, और **'स्वर्ग के खण्डहर'** जैसी लम्बी कहानियाँ विचार और कार्य विन्दु से प्रेरित है। इनकी कहानियों का अन्त तो अद्भुत होता है। पाठक की जिज्ञासा बनी रहती है। वह मनोनुकूल निष्कर्ष निकालने में तल्लीन सुख दुःख के मधुर हिंडोले मे झूल जाता है। परवर्त्ती कहानीकारों में चण्डीप्रसाद **'हृदयेश'**, राय कृष्णदास, विनोद शंकर व्यास, पंत और महादेवी ने इस प्रभाव को थोड़ा बहुत ग्रहण किया है।

हिन्दी कहानियो का जो क्रम सरस्वती पत्रिका के माध्यम से विकसित हो रहा था उसमे आमूल परिवर्त्तन लाने वाली एक घटना प्रथम महायुद्ध (सन् १९१४–१८ ई०) के रूप मे घटी। इस घटना ने नए सामाजिक विचारों को जन्म दिया जिसकी प्रतिध्वनि हिन्दी कहानियो मे स्पष्ट देखी जा सकती है। युद्ध जीवन अवसर पाते ही मासल वासना की ओर बढ़ता है। हथेली पर शीश रखकर आगे बढ़ शत्रु के सामने छाती अड़ाने वाली स्थिति मे शेष जीवन को भोग लेने की कामना का होना सहज स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में नारी स्थूल और सूक्ष्म दोनो ही रूपो में पुरुष की भोग्या बनती है। सन् १९१४ ई० मे प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ और सन् १९१५ ई० मे चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की युद्ध जीवन पर लिखी **'उसने कहा था'** कहानी सरस्वती पत्रिका में छपी। इस कहानी के कुछ स्थल ऐसे हैं जो संकलनो मे प्राप्त **'उसने कहा था'** कहानी में नही पाए जाते। लगता है सम्पादको ने उसे अश्लील समझकर निकाल दिया। अधिकांश पाठक तो अब इस तथ्य से परिचित भी नही रह गए है कि **'उसने कहा था'** कहानी का जो रूप हमारे सामने है, वह उसका मूल रूप नही बल्कि सस्कृत रूप है। उसके मूल रूप में एक पंजाबी गीत था और उसके साथ कहानीकार की टिप्पणी भी। वह अंश इस प्रकार है। "वजीरा सिंह ने त्योरी चढ़ाकर कहा—क्या मरने मारने की बात लगाई है? मरे जर्मनी और तुरुक! हाँ भाइयो कैसे—

(२) दिल्ली शहर तें पशोर नुं जांदिए,
कर लेणा लौंगा दा बपार मड़िए,
कल लेणा नाड़े दा सौदा अड़िए
(ओय) लाणा चटा का कदुए नुं
कददू बणया मजेदार गोरिए
हुण लाणा चटा का कदुए नुं

कौन जानता था कि दाढ़ियों वाले घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गायेंगे पर सारी खन्दक इस गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गए, मानो चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।"[1]

जिस पृष्ठ पर कहानी का यह अंश है उसी पर नीचे फुटनोट भी छपा है जिसमें गीत का अनुवाद इस प्रकार दिया गया है—

"२—अरी दिल्ली शहर से पेशावर को जानेवाली, लोगों का व्यापार करने और इजार बन्द का सौदा करले। जीभ चटपटा कर कद्दू खाना है। गोरी कद्दू मजेदार बना है, अब चटपटा कर उसे खाना है।"[2]

इस अश्लील अंश के महत्व को 'उसने कहा था' कहानी के संस्कार कर्ता नहीं समझ पाए, पर गुलेरी जी ने समझा था। इस अंश के अभाव में जिस युद्ध जीवन की झाँकी कहानीकार देना चाहता है, नहीं आ पाती। निराशा, अनिश्चितता और दुश्चिन्ताओं से घिरे जीवन में बेतकल्लुफी, खुलापन और अश्लीलता आदि ताजगी लाने के कारण होते हैं। अन्यथा गुलेरी जी जैसा आदर्श प्रेम का चितेरा कभी भी ऐसे प्रसंग की उद्भावना न करता। इस प्रकार युद्ध की विभीषिका ने थोथी मर्यादाओं को झकझोर दिया और जीवन विविध दिशाओं में होकर बहने लगा। नारी के मांसल सौन्दर्य के प्रति बढ़ती हुई सामाजिक आसक्ति ने कहानीकारों को बाह्य की अपेक्षा अन्तर की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्तों की ओर प्रेरित किया। युगधर्म से उद्भूत इस प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष प्रभाव जो मुंशी प्रेमचन्द पर नहीं पड़ा उसका कारण है। प्रेमचन्द ने आर्य समाज द्वारा प्रचारित सुधारवादी आन्दोलन का अपनी आरम्भिक रचनाओं में कट्टरतापूर्ण समर्थन किया जिसमें उन्हें बदलने में विलम्ब लगा। प्रेमचन्द ने आगे चलकर अपने को बदलना चाहा है पर तब तक अन्य सामाजिक व राष्ट्रीय समस्याएँ उग्र रूप में उनके सामने खड़ी हो गई जिससे वे स्वभावतः उनकी ओर मुड़ गए। उनके बाद के कहानीकारों में युद्धोत्तर प्रवृत्तियों के दर्शन स्पष्ट रूप से होते हैं। यह दूसरी बात है कि तत्कालीन अन्य नवीन दार्शनिक सिद्धान्तों के गाढ़े रंग में उसे सहज ही देख पाना कठिन जान पड़ता है, पर मूल में प्रथम महायुद्ध की विभीषिका ही है।

जयशंकर प्रसाद की भावमूलक परम्परा का विकास हिन्दी कहानियों के क्षेत्र में उतना नहीं हो पाया जितना कि प्रेमचन्द की आदर्शोन्मुख यथार्थवादी परम्परा का हुआ। प्रेमचन्द और उनसे प्रभावित कहानीकारों ने घटनाओं की प्रधानता, चरित्र-चित्रण, वातावरण तथा परिपार्श्व (Back ground) पर अधिक बल न देकर उन उलझनों पर विशेष बल दिया जो चरित्र की विविध स्थितियों में पड़ने के कारण पैदा होती हैं। इस मण्डल के कहानीकारों में विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक',

सुदर्शन, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह आदि प्रमुख हैं। प्रेमचन्द की कहानी 'नशा', 'कौशिक' की 'रक्षा बन्धन' और 'सुदर्शन' की 'हार की जीत' कहानी में चरित्रों तथा परिस्थितियों के पारस्परिक सम्बन्धों पर जोर दिया गया है। प्रेमचन्द के कहानी साहित्य में समाज और जीवन का सर्वाङ्गीण चित्रण, ग्रामीणों का सजीव एवं यथार्थ वर्णन तथा यथार्थ और आदर्श का अद्भुत समन्वय हुआ है। प्रेमचन्द ने पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण करते हुए भी भारतीय संस्कृति और सभ्यता की आत्मा को पहचाना है। युगीन प्रभावों को ग्रहण करने और उसके अनुसार अपने कथा साहित्य को मोड़ देने की अद्भुत शक्ति प्रेमचन्द में थी। अपनी कहानी 'पूस की रात' तक आते-आते तो वे बिल्कुल बदले नजर आते हैं। आदर्श की भूमि से उतर कर वे यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़े हो गए। लगता है 'गोदान' उपन्यास के 'होरी' की भूमिका 'पूस की रात' के 'हल्कू' के रूप में उनके मन में बनने लगी थी।

परिस्थितियों, समस्याओं एवं चरित्रों को उभाडकर रखने के लिए इस खेवे की कहानियों में कथोपकथन पर विशेष बल दिया गया। उर्दू की मुहावरेदार शैली, भाषा की सरलता, सरसता, प्रवाहमयता एवं पात्रानुकूल भाषा का निर्वाह इन कहानियों की प्रमुख विशेषता रही है। महात्मा गांधी ने जिस हिन्दोस्तानी भाषा की बात कही थी उसका आदर्शस्वरूप भी इन कहानियों में देखने को मिल जाता है। हिन्दी कहानीकारों पर प्रेमचन्द का प्रभाव एक लम्बे अर्से तक रहा और वह किसी-न-किसी रूप में आज भी वर्तमान है। प्रेमचन्द के लेखन-काल में ही विषय एवं शिल्पगत वैविध्य के दर्शन हिन्दी कहानी-साहित्य में होने लगे थे जिसके परिणामस्वरूप आगे चलकर अनेक शाखाओं में हिन्दी कहानी का विकास हुआ।

प्रेमचन्द के रचना-काल में ही राष्ट्रीय आन्दोलन की लोकप्रियता साहित्य जगत में बढ़ी। पुनरुत्थान की भावना ने इतिहास की ओर नये सिरे से देखने के लिए लेखकों को विवश किया, जिसका सूत्रपात 'जयशंकर प्रसाद' की कहानियों में हो चुका था। प्रेमचन्द ने इस ऐतिहासिक प्रवृत्ति को अपने ढंग से अपनी कहानियों में अपनाया और उनमें अपनी समाज सुधार की भावना को उन्होंने सुरक्षित रखा। 'राजा हरदौल', 'रानी सारन्धा' और 'मर्यादा की वेदी' जैसी कहानियों को इस सन्दर्भ में देखा जा सकता है। इसी कला-आदर्श पर वृन्दावनलाल वर्मा की ऐतिहासिक कहानियाँ 'राखी बन्द भाई' तथा 'तातार और एक वीर राजपूत' लिखी गईं। वृन्दावनलाल वर्मा की ऐतिहासिक कहानियों में न तो 'प्रसाद' की ऐतिहासिक कहानियों की भाँति भावुक कल्पना एवं वातावरण का रंगीन कवित्वपूर्ण चित्रण है और न तो उनमें प्रेमचन्द की ऐतिहासिक कहानियों की भाँति समाज सुधार की भावना है, बल्कि ऐतिहासिक तथ्य, खोज और स्वाभाविकता को उन्होंने अपनी

ऐतिहासिक कहानियों में महत्त्व प्रदान किया है। इन्होंने कुछ सफल सामाजिक कहानियाँ भी लिखी हैं, जिनमें 'शरणागत', 'कटा फटा झगड़ा', 'तिरंगे वाली राखी' और 'हमीदा' प्रमुख हैं। ऐतिहासिक कहानियों में 'कलाकार का दण्ड', 'तैनाबादी बेगम' और 'शेरशाह का न्याय' प्रमुख हैं। इतिवृत्तात्मकता और आदर्श की प्रतिष्ठा में वृन्दावनलाल वर्मा ने प्रेमचन्द की कहानियों का ही अनुसरण किया है।

प्रथम विश्व महायुद्ध (सन् १९१४–१८ ई०) के उपरान्त विश्व के सामाजिक मूल्यों में महान् परिवर्तन आया और विश्व-जीवन की भावधारा बदली। भारतीय जनजीवन भी इस समय तक पाश्चात्य सभ्यता के पर्याप्त निकट आ चुका था जिससे वह भी निर्लिप्त न रह सका। पाश्चात्य साहित्य में लोकप्रियता प्राप्त करने वाली प्रवृत्तियों ने भारतीय कहानीकारों की दृष्टि में भी परिवर्तन उपस्थित किया। परिणामस्वरूप हिन्दी के कहानीकार, फ्रायड के 'भोगवाद', 'गांधीवाद' और 'मार्क्सवाद' से परिचित हुए। गांधीवाद के प्रभाव में आदर्शवादी और मार्क्सवाद के प्रभाव में यथार्थवादी रचनाओं की लोकप्रियता बढ़ी। मार्क्स के अर्थमूलक यथार्थवाद के समानान्तर ही 'फ्रायड' के काममूलक 'भोगवाद' की ओर कहानीकार उन्मुख हुए।

सन् १९२२ ई० में हिन्दी कहानी के क्षेत्र में पं० बेचन शर्मा 'उग्र' का आगमन एक महत्वपूर्ण घटना है। सामाजिक दृष्टिकोण भाषा, शैली, कथानक और कल्पना आदि सभी क्षेत्रों में 'उग्र' जी ने अपने नवीन दृष्टिकोण, विद्रोही भाव और मौलिकता का परिचय दिया। प्रेमचन्द युगीन आदर्शवादी आवरण को उतार फेंकने की इनमें उत्कट अभिलाषा थी और इन्होंने अपनी कहानियों में समाज को उसके वास्तविक रूप में चित्रित किया। इन्होंने 'प्रसाद' जी की भाँति व्यंजनात्मक एवं प्रतीकात्मक, भावुकतापूर्ण गद्यगीतात्मक और नाटकीय तीन प्रकार की कहानियाँ लिखीं, पर इनकी शैली की उग्रता पूर्ववर्ती कहानीकारों से सर्वथा भिन्न है। प्रचण्ड यथार्थवाद की नग्नता से प्रेरित इनकी 'प्रकृतवादी' शैली के माध्यम से आये कुछ घिनौने चित्र लोगों को अवांछित भले लगें, पर उनकी वास्तविक शक्ति से कोई इन्कार नहीं कर सकता। 'प्रेम भक्त', 'मुक्ता', 'समाधि', 'माँ की चुनरी की साथ', 'चौड़ा दूरा' तथा 'रेशमी' आदि कहानियाँ 'उग्र' जी की विविध कहानियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। ऋषभचरण जैन तथा चतुरसेन शास्त्री जैसे कहानीकारों की कहानियाँ इसी क्षेत्र में आती हैं पर प्रकृतिवादी शैली की जिस शक्ति का परिचय 'उग्र' जी की कहानियों में मिला, इनमें उसका अभाव है।

यथार्थवादी आन्दोलन के सन्दर्भ में सन् १९२८ ई० में जैनेन्द्र का हिन्दी कहानी-क्षेत्र में आगमन विशेष महत्व रखता है जिससे एक नये क्षितिज का उद्घाटन हुआ। प्रेमचन्द की कहानियों के माध्यम से बाह्य सामाजिक सत्यों का मूल्यांकन सफलतापूर्वक

हो चुका था, पर उससे भी महत्वपूर्ण सत्य की तलाश अभी बाकी थी। जैनेन्द्र ने अपनी कहानियो के माध्यम से प्रेमचन्द के अधूरे सत्य को समाज के अन्तर्सत्यों के उद्घाटन मे पूर्णता प्रदान की। बदलती सामाजिक परिस्थितियो मे जिस टूटते हुए संयुक्त परिवार के प्रति प्रेमचन्द ने आशंका व्यक्त की थी और अपने आदर्शों के माध्यम से उसे रोकना चाहा था, वह 'अलग्योझा' होकर रहा। सामाजिक दृष्टिकोण सिमट कर व्यक्ति मे समाहित होने लगा और विवश होकर कहानीकारो को समष्टि के स्थान पर व्यष्टि का चित्रण करना पड़ा। समष्टिवादी दृष्टिकोण द्वारा प्रस्तुत यथार्थवाद व्यष्टिवादी दृष्टिकोण द्वारा प्रस्तुत यथार्थवाद से सर्वथा भिन्न हुआ करता है। वह वहिर्सत्य पर आधारित न होकर अन्तर्सत्यो पर आधारित होता है। यही अन्तर्सत्य जैनेन्द्र की कहानियो का मूलाधार बना।

जैनेन्द्र जी की पहली कहानी 'हत्या' सन् १९२७ ई० में प्रकाशित हुई। मुं० प्रेमचन्द के पश्चात जैनेन्द्र हिन्दी के सर्वाधिक प्रतिभाशाली कहानीकार के रूप मे स्वीकार किये जा सकते हैं। इन्होंने प्रेमचन्द मण्डल की कथाभूमि से बाहर झाकने का सफल प्रयत्न किया। इसके पूर्व बंगला के प्रसिद्ध कथाकार शरच्चन्द्र की आत्मनिष्ठ कहानियो की धूम मच चुकी थी और वे हिन्दी पाठको मे भी अनुवाद के माध्यम से काफी लोकप्रिय हो चुके थे। जैनेन्द्रजी पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा, पर प्रेमचन्द की सशक्त लेखनी से विकसित कहानियो के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हो जाना भी उनके लिए सम्भव नही था। जैनेन्द्र ने अपनी कहानियो के लिए सामाजिक भूमि तो प्रेमचन्द से ली, पर अन्तर्मन्थन की प्रक्रिया के लिए उन्होंने शरच्चन्द्र की ओर ही देखा। इस प्रकार जैनेन्द्र जी ने अपनी कहानियो मे प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र की कला का समन्वय करना चाहा है। यह दूसरी बात है कि इस दिशा मे उनकी सफलता सन्दिग्ध है, पर इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अन्तर्द्वन्द्वो के आधार पर अन्तर्प्रदेशो का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण करनेवाली सशक्त कहानी परम्परा के वे उन्नायक हैं। यदि बेचन शर्मा उग्र ने अपनी कहानियो मे बाह्य का अत्यन्त नग्न चित्रण प्रस्तुत किया तो जैनेन्द्र ने अन्तर्सत्यो का उद्घाटन करते हुए मानव मन की गांठों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत कर हिन्दी कथा साहित्य को एक मौलिक भूमिप्रदान की। जीवन-दर्शन और मनोविज्ञान जैनेन्द्र की कहानियों के मूलाधार रहे हैं। 'एक रात' (सन् १९३५) से लेकर 'जय संधि' (सन् १९४८) तक की कहानियो में ये दोनो धरातल समान रूप मे देखने को मिल जाते हैं। जिन कहानियो मे जीवन-दर्शन को आधार बनाया गया है, उन्हे पृथ्वी के मानव तथा पौराणिक चरित्रो के चित्रित करने वाली, ऐतिहासिक संवेदना से युक्त, काल्पनिकता तथा लौकिकता मे अभिभूत और पशु पक्षी तथा वृक्षादि को लेकर लिखी गई चार वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। जैनेन्द्र का वास्तविक कहानीकार तो उनकी मनोवैज्ञानिक कहानियों में ही दिख-

न्याई पड़ता है। इस प्रकार की कहानियों के माध्यम से जैनेन्द्र ने 'प्रसाद' और प्रेमचन्द की कहानी विधा को आगे बढ़ाया है। अबतक की कहानियों में शिल्प-विधान, घटना के प्राधान्य, इतिवृत्तिक विस्तार, बाह्य संघर्षों तथा परिस्थितियों के चित्रण पर जो विशेष बल दिया जाता था, उससे आगे हटकर जैनेन्द्र की मनोवैज्ञानिक कहानियों ने स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म चित्रण की प्रवृत्ति को महत्व प्रदान किया। इन कहानियों में जिस हस्तलाघव और क्षिप्रता का परिचय जैनेन्द्र ने दिया है, उससे पूर्ववर्ती कहानियों की शिल्पविधि और विषय आदि सभी दृष्टियों से अलग हटकर नवीन भूमिपर हिन्दी कहानी को प्रतिष्ठित कर दिया। जैनेन्द्र की मनोवैज्ञानिक कहानियों में सामान्य के स्थान पर विशिष्ट चरित्रों को महत्व प्रदान किया गया, जो किसी न किसी अन्तर्द्वन्द्व वाद-प्रतिवाद और मानसिक उलझन के शिकार हैं। इस सन्दर्भ में इनकी **'मुक राव', 'राजीव की भाभी', 'मास्टर जी', 'क्याहो' और 'जाह्नवी'** जैसी कहानियों का नाम लिया जा सकता है।

सियारामशरण गुप्त ने भी इसी समय अपनी कहानियाँ लिखीं और इनमें नवीन शिल्पविधान को महत्व प्रदान किया, पर उन्हें जैनेन्द्र के सामने वांछित लोकप्रियता नहीं मिल सकी। **'पथ में से' 'काकी' 'मुंशी जी'** और **'सूतसच'** जैसी कहानियों में साधारण ढंग का मनोविश्लेषण देखने को मिलता है।

विशुद्ध मनोवैज्ञानिक कहानियों की सर्वाधिक शक्ति **'अज्ञेय'** की कहानियों में देखने को मिली। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' विलक्षण प्रतिभा के धनी साहित्यकार हैं। उनका समस्त जीवन युगीन विद्रोह का प्रतीक है, जो उनकी रचनाओं में भी प्रतिफलित हुआ। उपन्यास, कविता और कहानी, सभी क्षेत्रों में 'अज्ञेय' की प्रतिभा ने अपना चमत्कार दिखलाया है। 'अज्ञेय' जी की साहित्यिक उपलब्धियों को देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उन्होंने सभी साहित्य को प्रमुख विधाओं को नवीन मोड़ दिया है। इन्होंने घटना प्रधान कहानियों को चरित्र प्रधान कहानियों का स्वरूप प्रदान किया। चरित्रों के अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण, मनोविश्लेषण और चिंतन के आधार पर पहली बार विश्वसनीय रूप में 'अज्ञेय' की कहानियों में देखने को मिला। भारतीय नारी के प्रताड़ित जीवन का बड़ा ही सजीव चित्रण 'अज्ञेय' की कहानियों में देखने को मिलता है। अभाव पीड़ित नारी के विद्रोही भावों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना 'अज्ञेय' की कहानी-कला की सबसे बड़ी शक्ति है। जैनेन्द्र की भावुकता पूर्ण शैली को 'अज्ञेय' ने 'चिंतन' का ठोस धरातल प्रदान किया। इनकी **'रोज़'** नामक कहानी को उदाहरण के लिए लिया जा सकता है। यदि हम चाहें तो इनकी कहानियों को 'सोद्देश्य सामाजिक आलोचना सम्बन्धी राजनीतिक देश जीवन सम्बन्धी, चरित्र विश्लेषण सम्बन्धी और प्रतीकों के सहारे मानसिक संघर्षों के अध्ययन सम्बन्धी, चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। इनकी चरित्र प्रधान कहानियाँ बहुत

अच्छी बन पड़ी है। चरित्रों की अवतारणा 'अज्ञेय' जी ने 'अहं' विद्रोहात्मक एवं विश्लेषणात्मक तत्वों के आधार पर किया है। कथात्मक, आत्मकथात्मक, नाटकीय, पत्रात्मक, प्रतीकात्मक तथा मिश्रित आदि विविध शैलियों का सफल निर्वाह भी 'अज्ञेय' की कहानियों में देखने को मिला। कहानी लेखन का कार्य तो इन्होंने सन् १९२४ ई० के आसपास ही आरम्भ कर दिया था पर अव्यवस्थित क्रान्तिकारी जीवन जीने के कारण उसे व्यवस्थित रूप बाद में ही दे सके। विपथगा, परम्परा, कोठरी की बात, शरणार्थी तथा जयदोल नाम से प्रकाशित इनके प्रमुख कहानी संग्रह है।

इलाचन्द्र जोशी को भी प्रतिनिधि मनोवैज्ञानिक कहानीकार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। मध्यवर्गीय ह्रासोन्मुखी जीवन की विश्लेषणात्मक आलोचना और अहंभाव की एकांतिकता पर निर्मम प्रहार इनकी मनोवैज्ञानिक कहानियों के दो प्रमुख धरातल है। इस दृष्टि से 'अज्ञेय' और 'जोशी' की कहानियों में स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ता है। 'अज्ञेय' अहंरूप को विश्लेषण के माध्यम के रूप में लेते हैं और 'जोशी' जी अहंरूप पर प्रहार करते है। 'अज्ञेय' की कहानियों में अन्तर्मुखी जीवन का चित्र उभड़ा है तो 'जोशी' जी ने अर्न्तगत् और बहिर्जगत् का सुन्दर समन्वय किया है। मध्य वर्गीय ह्रासोन्मुखी जीवन को चित्रित करने वाली 'जोशी' की कहानियों में **'चरणों की दासी' 'होली' 'अनाश्रित' 'रक्षित धन का अभिशाप' 'रोगी' 'परित्यक्ता' 'जारज' 'एकाकी'** और **'पतिव्रता या पिशाची'** प्रमुख है। इनमें इतिवृत्तात्मक शैली अपनाई गई है तथा आरम्भ, मध्य और अन्त पूर्ण सुनिश्चित एवं व्यवस्थित है। अहं की एकांतिकता पर प्रहार करने वाला कहानियों मे 'मैं' और 'मेरी डायरी के दो नीरस पृष्ठ' प्रमुख हैं। इनकी कहानियों में शिल्पगत प्रयोग के प्रति कहीं भी आग्रह नहीं दिखलाई पड़ता, बल्कि उनमे कथातत्व का सफल निर्वाह हुआ है। भगवती प्रसाद वाजपेयी, विनोद शंकर व्यास तथा वाचस्पति पाठक आदि की कहानियाँ भी इसी काल की रचनाएँ है। भगवती प्रसाद वाजपेयी, मध्यवर्गीय समाज की मान्यताओं के उतार चढ़ाव के कटु आलोचक कहानीकार हैं। इनकी कहानियों में भावुकता, आदर्श वादिता और भारतीयता के दर्शन होते हैं। उदाहरण स्वरूप इनकी प्रसिद्ध कहानी **'मिठाई वाला'** को देखा जा सकता है।

भगवतीचरण वर्मा की कहानियों का ढांचा प्रेमचन्द मण्डल की कहानियों के अत्यधिक निकट दिखाई पड़ता है, पर उनकी आत्मा मे पर्याप्त भेद है। कहानी के क्षेत्र में उनका आगमन कई प्रवृत्तियों के संगम के साथ हुआ। चरित्र चित्रण के प्रति उनका आकर्षण, मानव मन की लाचारी, उसकी कमजोरी और विवशता को पहचानने की मनोवैज्ञानिक पैठ के प्रति उनकी आसक्ति, जीवन की कुरूपताओं और उसके बाह्य द्वन्द्वों के उत्कट संघर्षों की यथार्थ झांकी प्रस्तुत करने का आग्रह तथा दुखी मानवता के प्रति कट्टर सहानुभूतिका आग्रह उन्हे क्रम से प्रेमचन्द, 'अज्ञेय' 'उग्र' और प्रगतिवादी

विचारधारा के निकट ले जाती है। हिन्दी कथा साहित्य में भगवती चरण वर्मा जैसा व्यंग्य लिखने वाला कथाकार दूसरा देखने में नहीं आता। विशिष्ट चरित्रों के निर्माण में उनकी व्यंग्यात्मक शैली और भी सफल प्रमाणित हुई है। इनकी कहानियों में कथावस्तु, घटनाओं या कार्यों को बिल्कुल महत्त्व नहीं दिया गया है, बल्कि 'कथा' या 'कार्य' का उनमें नितान्त अभाव है। उदाहरण के लिए 'मुगलों ने सल्तनत बख्श दी' कहानी को ले सकते हैं।

प्रेमचन्द की भाँति उपेन्द्रनाथ **'अश्क'** भी उर्दू से हिन्दी में आए। प्रेमचन्द के यथार्थवादी दृष्टिकोण का आधुनिक रूप **'अश्क'** की कहानियों में देखने को मिलता है। इनमें एक ओर जहाँ प्रेमचन्द की भाँति समाज की आलोचना की प्रवृत्ति पाई जाती है, वहाँ दूसरी ओर व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी देखने को मिलती है। इनकी कहानियों का शिल्प खूब सँवारा हुआ जान पड़ता है क्योंकि आदि, मध्य और अन्त की पूर्ण संगति इनकी कहानियों में देखने को मिलती है। 'जुदाई की शाम का गीत' **'मरीचिका'** **'चित्रकार की मौत'** और 'नरक का चुनाव' इनकी प्रतिनिधि कहानियाँ हैं। सूर्यकान्त त्रिपाठी **'निराला'** की कहानियाँ भी प्रेमचन्द संस्थान के भीतर ही आ जाती हैं, पर उनमें शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने का स्वर अत्यन्त उग्र है। इनकी कहानियाँ समाज के सभी पात्रों को छूती हैं। वर्णनात्मकता और इतिवृत्तात्मकता इनकी शैलीगत विशेषता है।

सन् **१९२०** ई० के बाद भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों में पुनः परिवर्तन के लक्षण दिखलाई पड़ने लगे। स्वतन्त्रता आन्दोलन तीव्रता की ओर बढ़ने लगा था, परिणामस्वरूप देश के भीतर धीरे-धीरे मानसिक तैयारी आरम्भ हो गई। यूरोप में लोकप्रिय हो रही राजनीतिक विचारधाराओं से भी भारतीयों का अत्यधिक परिचय बढ़ने लगा। इसी बीच सन् १९३५ ई० के बाद कांग्रेस ने वैधानिक सुधारों को स्वीकार कर लिया और सन् १९३९ ई० में द्वितीय विश्वव्यापी युद्ध आरम्भ हो गया। सन् १९४० ई० में महात्मा गांधी ने अंग्रेजो भारत छोड़ो का नारा दिया और सन् १९४२ ई० में अगस्त की क्रान्ति हुई। परिणामस्वरूप राजनीतिक जागरूकता का प्रभाव कहानी साहित्य पर भी पड़ा। इसी बीच यशपाल की वे कहानियाँ लिखी गईं जिनमें विशिष्ट राजनीतिक विचारधारा को निदर्शित किया गया। ई० प्रेमचन्द के बाद कथा कहने की जितनी शक्ति यशपाल में देखने को मिली उतनी अन्य किसी कहानीकार में नहीं। इनकी कहानियों से साहित्यिक और साधारण पाठक समान रूप से आनन्द की उपलब्धि करते हैं। यशपाल सच्चे अर्थों में जनसाधारण के लिए प्रतिनिधि कहानीकार हैं। इनकी कहानियों का क्रमिक विकास हुआ। समाजवादी दृष्टिकोण अपनाने के कारण यशपाल की कहानियों में व्यक्ति-संघर्ष अत्यन्त उभड़ कर सामने आया है। सामाजिक गतिविधियों के रूप में अर्थ व्यवस्था

का स्वीकार करने के कारण टूटते हुए आर्थिक ढाँचे और उसके प्रति उत्तरदायी वर्गों की अच्छी-खासी खबर इन्होंने अपनी कहानियों में ली है। क्रान्तिकारी जीवन की साहसिकता ने इन्हें यौन समस्याओं की ओर भी प्रेरित किया है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को लेकर लिखी गई कहानियों में यशपाल ने नये-नये मापदण्डों की प्रतिष्ठा की है। मनोविश्लेषण और व्यक्ति के कार्य-कलापों के विवेचन का इनका अपना अनोखा ढंग है। जिस प्रकार ग्रामीणों की ओर प्रेमचन्द की दृष्टि जमी रही उसी प्रकार मध्यवर्गीय समस्याओं की ओर यशपाल की दृष्टि बराबर जमी रही। इनकी कहानियों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इन्होंने सोद्देश्य कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें आर्थिक संघर्ष और वर्ग-चेतना का आग्रह स्पष्ट लक्षित होता है। विशेष राजनीतिक विचारधारा में बँधे रहने के कारण इनकी कहानियों में कहीं-कहीं अस्वाभाविक उग्रता और नग्नता भी आ गई है। शिल्प प्रयोग की ओर यशपाल का ध्यान विशेष नहीं गया है। कथात्मकता, कथोपकथन और चरित्र-चित्रण में यशपाल इस क्षेत्र में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते। भाषा की दृष्टि से इनकी कहानियों की अपनी अलग विशेषता है। यदि हम चाहें तो इनकी कहानियों को भावप्रधान, यौन-प्रधान तथा विचारप्रधान वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। यह वर्गीकरण इसलिए भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता कि इससे यशपाल की कहानियों की आत्मा को प्रस्तुत करने में यह वर्गीकरण अक्षम है और वे अभी भी आगे लिखते जा रहे हैं। 'पहाड़ी', अमृतलालनागर, अमृत राय, और कृष्णदास आदि कहानीकारों की यशपाल-मण्डल के कहानीकारों में गणना की जा सकती है। इनमें से अमृतलालनागर ऐसे कहानीकार हैं जिनकी प्रतिभा ने अपने लिए नवीन अंचल का चुनाव कर लिया है और वे अपनी विशिष्टता के कारण अपने व्यक्तित्व का निर्माण करते जान पड़ते हैं।

सन् १९३९ ई० के द्वितीय विश्व महायुद्ध के प्रभाव में बनने वाले समाज को हिन्दी कहानियाँ जीवन के विविध क्षेत्रों में चित्रित कर ही रही थी, कि सन् १९४७ ई० की महत्वपूर्ण घटना घटी। चिरप्रतीक्षित स्वतन्त्रता प्राप्त करने में देश सफल हुआ। अँग्रेज भारत छोड़कर चले गए, पर जाते-जाते उन्होंने अनेक विषम समस्यायें उत्पन्न कर दीं। देश के विभाजन के परिणाम-स्वरूप पंजाब, बिहार और बंगाल में साम्प्रदायिक दंगे हुए। भयंकर नरसंहार हुआ और इसी समय बंगाल में अकाल पड़ा। परम्परा के रूप में चली आती सामाजिक मान्यतायें एक बारगी टूटने लगीं। इन समस्त घटनाओं का समन्वित प्रभाव हिन्दी कहानियों पर पड़ा। ऐसी स्थिति में कहानी के स्वरूप में परिवर्तन का आना स्वाभाविक हो गया।

युगीन परिस्थितियों ने हिन्दी कहानी के स्वरूप-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका

प्रस्तुत की। देश को स्वतंत्रता तो मिल गई थी, पर पूर्वकल्पित सपनों को साकार करने का सवाल था। देश-वासियों के सामने अनेक समस्यायें और योजनाएँ आ गई थीं। शहरों और गाँवों में उत्साह पूर्वक औद्योगीकरण हो रहा था। बहुत कुछ पुराना ध्वस्त हो रहा था और नए की रूपरेखा बन रही थी। अब जीवन सरल एवं सपाट नहीं रह गया था, बल्कि वह काफी उलझाव पूर्ण और जटिल हो रहा था। इस नवीन सामाजिक स्थितियों का सामना कहानीकारों को करना पड़ा। उसने अनुभव किया कि उसके ऊपर पहले से कहीं अधिक जिम्मेदारी आ गई है। प्रतिदिन की बदलती हुई जटिल स्थितियों के चित्रण का सही माध्यम 'कहानी' ही हो सकती है। इस अनुभूति का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि भी रातों रात कहानीकार बन गए। नवीन सामाजिक जीवन की जटिलताओं एवं संकुलताओं का सामना करने और उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए कहानीकारों को भाव-बोध के नये स्तरों, सौन्दर्य-बोध के नये तत्त्वों और यथार्थ के नये धरातलों की उद्भावना करनी पड़ी।

प्रेमचन्दोत्तर कहानियों में पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों से शहरी मध्य-वर्ग अथवा निम्न मध्य वर्गीय जीवन का चित्रण हो रहा था। तत्पश्चात् बदले हुए सन्दर्भों में कुछ कहानीकारों ने अनुभव किया कि स्वस्थ और जीवन्त चित्र शहरों में नहीं गाँव में है। साथ ही जीवन जिस तेजी से शहर में बदल रहा था, उससे कहीं अधिक तेजी के साथ गाँवों में। इस नये बोध के साथ कहानीकार शहरी जीवन की एकरसता छोड़कर गाँवों में गया, कस्बों में गया और वहाँ अछूत टोलों, डोमों, मुसहरों, सँपेरों और दीर्घकाल से उपेक्षित जीवन का भार ढोनेवाली जातियों को उसने अपनी कहानी का विषय बनाया। इन कहानीकारों ने ग्रामीण जीवन के अछूते धरातल का संस्पर्श किया और गतिशील यथार्थ को व्यक्त करने का प्रयत्न किया। प्रेमचन्द ने गाँवों में जहाँ कुरूपता और नग्नवीभत्सता देखी थी, इन कहानीकारों ने उसी जमीन से रोमांटिक और रंगीन जीवन की तस्वीरें देखी। इन कहानियों में आये चरित्र पहले की कहानियों के सड़े-गले मनोविकारग्रस्त पात्रों की तुलना में अधिक जीवन्त और संघर्षशील हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में कई पीढ़ियाँ एक साथ लिख रही हैं, जिनमें परस्पर चलने वाले तू-तू मैं-मैं से हिन्दी जगत अपरिचित नहीं है। पिछले महायुद्ध के पश्चात् जो मनःस्थिति पैदा हुई उससे दुःखवादी प्रवृत्ति का उदय हुआ। सम्वेदनशील व्यक्ति मूलतः दुःखवादी हो उठा। ज्ञान-विज्ञान और यांत्रिक प्रगति ने एक ओर पुराने मूल्यों को विघटित किया तो दूसरी ओर नये मूल्यों की सृष्टि नहीं की। यांत्रिक जड़ता के कारण सम्वेदनशील व्यक्ति समाज से कटकर बेगाना और अजनबी हो गया। राजनीतिक शक्तियों, खोखली नैतिकता और व्यावसायिकता ने वास्तविक स्वतंत्रता का अपहरण कर मनुष्य को जड़ बनने के लिए विवश किया। इस बोध को लेकर लिखी

जानेवाली कहानियों में युगीन संक्रमणकालीन जीवन का ही चित्रण हुआ है। इनमे *"अकने वाला जीवन जीवन की 'ट्रेजिडी' नहीं बल्कि 'ट्रेजिक' जीवन है।"* इस प्रकार समाज-बोध के स्थान पर व्यक्ति का बोध कहानियों का विषय बना। पुरानी कहानियों की भाँति इनमे विचार या दृष्टिकोण नही बल्कि भोगे हुए जीवन को अभिव्यक्ति मिली है।

पुरानी पीढ़ी जो आज भी नई पीढ़ी के साथ लिख रही है, उसे यदि छोड़ दिया जाय तो **अमरकांत**, अमृत राय, भीष्मसाहनी, राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी, मार्कण्डेय, मोहन राकेश, फणीश्वर नाथ 'रेणु', शिवप्रसाद सिंह, ठाकुरप्रसाद सिंह, बच्चन सिंह केशव प्रसाद मिश्र, भैरव प्रसाद गुप्त और शैलेश मटियानी आदि के नाम प्रमुख कहानीकारों के रूप में लिये जा सकते हैं जो इस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते है। **फणीश्वर नाथ 'रेणु' कृत 'तीसरी कसम'** अर्थात् 'मारे गए गुलफाम और **'लाल पान की बेगम', मार्कण्डेय कृत 'गुलरा के बाबा'** और **'हंसा जाई अकेला'** तथा शिवप्रसाद सिंह कृत **'दादी माँ', 'कर्मनाशा की हार'** तथा **'आर पार की माला'** प्रतिनिधि ग्राम-कथायें हैं, जिन्हे स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-कहानी की उपलब्धि के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है।

'मोहन राकेश' में समसामयिक आत्मा को ठीक-ठीक अभिव्यक्त कर पाने के लिए सतत् एक पुनर्गठन की प्रक्रिया मिलती है। इस प्रक्रिया को उनकी **'मलबे का मालिक'** तथा **'मवाली'** नामक कहानियों मे देखा जा सकता है। परिवर्तन की बलवती आकांक्षा, **वर्तमान** मे जीने का दर्शन तथा साहित्य और समाज की थोथी मर्यादाओं को नकारने की, उनसे मुक्ति पाने की प्यास मोहन राकेश की कहानियों मे मिलती है। वे अपने ही पात्रों के बीच कोई ऐसा माध्यम ढूँढ लेते हैं जो कहानी की सारी अन्तर्वेदना को मुखर कर देता है। पाठक उस वेदना मे अपनी वेदना की अनुभूति पाता है। वह कोरा दर्शक न रहकर स्वयं भोक्ता बन जाता है और कहानी उसकी अपनी संवेदना का अंग बन जाती है। उदाहरण के लिए **'मवाली'** कहानी मे मवाली कहे जानेवाले लड़के को ले सकते हैं।

सम्वेदना और सूक्ष्म निरीक्षण की जो प्रवृत्ति मोहन राकेश में देखने को मिली उसका और भी सशक्त रूप 'रेणु' में देखने को मिला पर उन्होंने अपनी कहानियों का धरातल बदल दिया है। *'रेणु' का आगमन हिन्दी कथा-साहित्य में एक विलक्षण घटना* है, जिसने एक बारगी उन्हें कहानीकारों की अगली पंक्ति मे बैठने का अधिकारी बना दिया। इसका मुख्य कारण नये अंचलों की तलाश थी। यह तलाश केवल वस्तु के क्षेत्र मे ही नही, भाषा और संवेदना के क्षेत्र मे भी थी। इसके पूर्व भी *ग्राम-कथाएँ* हिन्दी कहानियों मे लोकप्रिय रही और प्रेमचन्द ने तो अपनी कथा-यात्रा को इस ओर

मोड़ा भी था, पर 'रेणु' इस परम्परा की अगली कड़ी हैं और कुछ क्षेत्रों में वे प्रेमचन्द से आगे बढ़े हुए हैं। ग्रामीण जीवन के यथार्थ चित्रों में प्रेमचन्द केवल ग्राम्य जीवन को सहानुभूति ही दे पाये थे, पर 'रेणु' ने उसे आत्मीयता प्रदान कर उससे तादात्म्य स्थापित कराया। 'रेणु' में जीवन की गहराई में पैठने की शक्ति है जिससे वे उस जीवन की समस्याओं तथा उसके सम्पूर्ण और समग्र व्यक्तित्व को उभार कर रखने में सफल हुए हैं। 'रेणु' अपनी आंचलिक कहानियों में केवल तटस्थ दर्शक के रूप में ही नहीं बल्कि एक भोक्ता के रूप में प्रकट हुए हैं। उनके कहानी के पात्र उनकी कल्पना की निर्मिति ही नहीं बल्कि वे उन्हीं में से एक हैं।

'रेणु' तक आते आते प्रेमचन्द के गाँव काफी बदल चुके थे, वे अब केवल शहरों में बसने वाले लोगों के लिए 'पिकनिक' मनाने के स्थान नहीं रह गये थे। उनमें अच्छाइयों और बुराइयों के साथ कुछ आत्मविश्वास भी आ रहा था। गाँवों में रहने वाले शहरी जिन्दगी की ओर भी ललचाई आँखों से देखने लगे थे। शहर और गाँव की भेदक रेखा छोटी हो रही थी और मजदूरों के घर में भी सिनेमा के गीत गाये जाने लगे थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए जो देश चट्टान की भाँति एक हो गया था, वह अब अँचलों में विभक्त होने लगा था। सभी अँचल स्वतंत्रता का उपभोग अपने हित में अधिकाधिक करना चाहते थे। इन्हीं परिस्थितियों ने 'रेणु' जैसे ग्रामीण अथवा आँचलिक कहानीकारों को जन्म दिया। 'रेणु' की कहानियों में जीवन की सतह के भीतर प्रविष्ट कर उसकी आन्तरिक पर्तों को उद्घाटित करने की शक्ति है। फलस्वरूप कहानियों का परम्परागत 'पैटर्न' काफी बदला है। इन कहानियों की बुनावट, वस्तु, कथा तत्व, प्रतीक और उद्देश्य सभी कुछ बदले हुए नजर आते हैं। यही कारण है कि ये कहानियाँ जीवन की जटिलता को समग्रतः अपने में समेट सकी हैं। इनके द्वारा भाषा का शब्द-भाण्डार और अभिव्यंजना शक्ति पर्याप्त समृद्ध हुई है; विशेषतः गाँवों में प्रयुक्त होनेवाली ठेठ शब्दावली द्वारा। इन कहानियों में शब्द-प्रयोग का ढंग अर्थात् बुनावट का तौर-तरीका बदला है। कहानी के कथ्य को प्रभावशाली बनाने के लिए प्रयुक्त होनेवाली अलंकृति, बिम्ब और सांकेतिकता आदि को नए सन्दर्भ दिए गए हैं। कहानियों का पुराना रूप लगभग टूट चुका है। इन कहानियों से मिट्टी की सोंधी गन्ध आती है। अछूते वातावरण में स्वच्छन्द रोमानी जिन्दगी इन कहानियों में घुल गई है। मानव-मन की आदिम सरसता 'रेणु' की कहानियों में धान की बालियों की भाँति मधुर लोरी बन गई है।

मार्कण्डेय की कहानी **'गुलरा के बाबा'** और **'हंसा जाई अकेला'** प्रेमचन्द की ग्रामीण कहानियों की परम्परा में होते हुए भी उससे भिन्न है। **'गुलरा के बाबा'** आदर्शवादी कहानी होते हुए भी किसी-न-किसी रूप में भोगे हुए जीवन की

अभिव्यक्ति है, जिसका प्रेमचन्द में अभाव था। **'हंसा जाई अकेला'** कहानी की भूमि तो यथार्थवादी है, पर वह यथार्थ प्रेमचन्द का आदर्शवादी न होकर रोमांटिक यथार्थ है। कहानी को जीवन्त बनाने के लिए मार्कण्डेय की कहानियों में भी गँवई शब्दों और मुहावरों का प्रयोग मिलता है। ग्राम-कथा के क्षेत्र मे शिवप्रसाद सिंह की उपलब्धियो से इन्कार नही किया जा सकता। इस क्षेत्र में शिवप्रसाद जी का आगमन **'रेणु'** के पूर्व ही हो गया था। ग्रामीण जन-जीवन मे अत्यन्त गहरी पैठ और सूक्ष्मातिसूक्ष्म रेखाओं को उभाड़ने की शक्ति रखते हुए भी शिवप्रसाद सिंह जी **'रेणु'** जैसे आंचलिक कहानीकार नहीं हैं। ग्रामीण परम्पराओं एवं आदर्शों की ढहती दीवार मे टेक लगाकर दादा, दीदी, बाबा, भाई आदि के परम्परित विश्वासों मे आस्था व्यक्त करते हुए भी शिवप्रसाद सिंह जी प्रेमचन्द की भाँति आदर्शोन्मुख यथार्थ-वादी कलाकार नहीं, क्योंकि सब कुछ प्रस्तुत करने का उनका दृष्टिकोण रोमांटिक रहा है। कथा-भूमि की समानता मे भी वे **'रेणु'** और **'प्रेमचन्द'** दोनों से भिन्न दिखाई पड़ते हैं। **'दादी माँ'** कहानी मे उन्होंने पारिवारिक सम्बन्धों की जटिलता को बड़ी ही सतर्कता के साथ प्रस्तुत किया है। वे ग्रामीण जीवन को अनेक भिन्न चित्रों के माध्यम से उसे उसकी पूर्णता मे चित्रित करना चाहते हैं। यही कारण है कि **'दादी माँ', 'वशीकरण', 'शाखामृग'** और **'खैरा पीपल कभी न डोले'** मे उनके दृष्टिकोण का वैषम्य बड़ी आसानी से देखने को मिल जाता है। इनकी कहानियों मे परिस्थितिजन्य पारिवारिक एवं सामाजिक वेदना, तनाव, विवशता, हार तथा लाचारी के बड़े ही प्रभावोत्पादक चित्र देखने को मिल जाते हैं। इस क्षेत्र के कहानीकारों मे भाषा का जैसा सयमित प्रयोग शिवप्रसाद जी की कहानियों में मिलता है वैसा कम लोगों में पाया जाता है।

इस क्षेत्र की ग्राम-कथायें जिस ताजगी के साथ प्रकाश में आईं और पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया, उस अनुपात मे इनकी परम्परा को दीर्घ जीवन नहीं मिल पाया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इन कहानियों के लेखकों ने अब लिखना बन्द कर दिया है। वे अब भी उसी शक्ति के साथ लिख रहे हैं, पर उनकी दिशा बदल गई है। इसका प्रधान कारण यह है कि आधुनिक जीवन में परिवर्तन अपेक्षाकृत जल्दी-जल्दी हो रहा है। जिन कहानियों मे कहानीकार चरित्रों के सहारे सस्मरण पेश करने लगे हैं, उन्हें ध्यान से देखने पर ऐसा लगने लगता है कि वे चित्र बदले हुए भारत के नही बल्कि **'हीरोइक'** भारत के हैं। इनके साथ ही इन लेखकों ने आंचलिक स्पर्श देने के लिए क्षेत्रीय बोलियों के ऐसे शब्दों का चुनाव करना शुरू कर दिया कि उनके मोहपाश मे वे स्वयं फँसने लगे।

इन कहानियों के साथ ही पिछले दिनों कहानियों की एक दूसरी धारा विकसित हुई है, जिसे लोगों ने **'नई कहानी'** के नाम से सम्बोधित किया है। इनमें गहरी

मध्यवर्गीय चरित्र अथवा जीवन चित्रित हुआ है। यह जीवन अपेक्षाकृत युगीन और जटिल जीवन है। ऐसी कहानियों में भीष्म सहानी की 'चीफ की दावत', मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक' और 'उसकी रोटी', अमरकान्त की 'डिप्टी-कलक्टरी' और 'जिन्दगी और जोंक', शेखर जोशी की 'बदबू' आदि काफी चर्चित हैं। इनके अतिरिक्त राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, मार्कण्डेय और कमल जोशी जैसे दूसरे कहानीकार हैं जो मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों और नैतिक समस्याओं की तह में जाकर उन्हें व्याख्यायित और स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। ऐसी कहानियों में राजेन्द्र यादव कृत 'एक कमजोर लड़की की कहानी', कमलेश्वर कृत 'नीली झील' निर्मल वर्मा कृत 'दहलीज' और 'तीसरा गवाह' का नामोल्लेख किया जा सकता है।

'नई कहानी' के इस युग में हिन्दी में कुछ महिला कथाकार भी सामने आईं जिनमें मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन लेखिकाओं ने नारी-पुरुष सम्बन्धों की जटिलताओं और कुंठाओं को अधिक उन्मुक्त भाव से चित्रित किया है। इनकी चर्चित कहानियाँ हैं—'यही सच है', 'बादलों के घेरे', 'यारों के यार' तथा 'जिन्दगी और गुलाब के फूल'।

इस सन्दर्भ में जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है, वह यह कि क्या इन कहानियों को 'नई कहानी' कहना आवश्यक है और आवश्यक है तो ये पुरानी कही जाने वाली कहानियों से किस माने में भिन्न हैं? अब समय आ गया है जबकि 'हिन्दी कहानियों' के विकास और उसके महत्त्व पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है, न कि हल्के-फुल्के ढंग से। हिन्दी साहित्य का छठवाँ दशक कविता, उपन्यास अथवा नाटक की अपेक्षा कहानी का दशक रहा है। इस तथ्य की साक्षी कहानी-पत्रिकाएँ, कहानी-संकलन और कहानीकारों की प्रचुर संख्याएँ ही नहीं हैं; यहाँ तक चलने वाली बहसें, चर्चायें और लेख मालायें भी हैं। परिणामस्वरूप पहली बार आलोचना के क्षेत्र में कहानी को 'सीरियस आर्ट' (गम्भीर साहित्य) के रूप में स्थान मिला। हिन्दी आलोचना जो कविता और उपन्यासों तक सीमित थी, कहानी के क्षेत्र में गम्भीरता से उतरी और लेखन का माहौल ही बदल दिया। इसके पूर्व कहानीकार या 'कहानी-संग्रह' पर चलते ढंग से कुछ कह देना पर्याप्त समझा जाता था, पर 'वस्तु' और 'शिल्प' की दृष्टि से कहानी पर जितना अधिक विचार स्वतन्त्रता के बाद हुआ, उतना अधिक इसके पूर्व कभी नहीं। इस चर्चा को आगे बढ़ाने और गम्भीरता प्रदान करने में कुछ कहानीकारों ने भी समान रूप से योगदान दिया है।

जिन कहानियों को ग्राम कथाओं की संज्ञा दी गई थी, उन्हीं कहानियों के कुछ लेखकों ने अपनी कहानियों में कुछ ऐसे शिल्प का विकास किया जिससे वे कहानियाँ पूर्ववर्ती कहानियों से कुछ भिन्न जान पड़ने लगीं। इस कहानियों के सम्बन्ध में कुछ

आलोचकों ने सम्भावनाएँ व्यक्त की थी कि 'नई कविता' की भाँति 'नई कहानी' जैसा कोई नया आन्दोलन भी जन्म ले रहा है क्या ? 'कहानी' पत्रिका के नव वर्षांक में 'आज की हिन्दी कहानी' शीर्षक में डॉ० नामवर सिंह ने यह प्रश्न उठाया था। इसके बाद ही 'नई कहानी' आन्दोलन के रूप में पाठकों और लेखकों के बीच आई। नए-पुराने का विवाद उठ खड़ा हुआ और बड़े उत्साह के साथ आलोचकों और कहानीकारों ने इस विवाद में भाग लिया। जैनेन्द्र कुमार जैसे कहानीकारों ने कहानी के 'नए' विशेषण पर आपत्ति की और उन्होंने कहा कि कहानी में कुछ भी 'नयापन' नज़र नहीं आता। इसके विपरीत 'कहानी' पत्रिका के माध्यम से 'नयी कहानी' के आन्दोलन को अत्यधिक बल प्रदान करने वालों की भी कमी नहीं रही। इस दौर में जो कहानियाँ लिखी गई उन्हें 'नयी कहानी' कहे बिना नहीं समझा जा सकता, यह विवाद का विषय है। कुछ आलोचकों का तो यह निश्चित मत है कि 'नयी कहानी' नाम बिलकुल बेमानी है। ऐसे आलोचकों में डॉ० बच्चन सिंह का नाम उल्लेखनीय है। किसी भी नये साहित्य रूप का उदय तभी होता है, जबकि युगीन अभिव्यक्ति के लिए प्रचलित साहित्य रूप असमर्थ सिद्ध हो जाते हैं। 'नयी कहानी' नाम देने के पूर्व 'कहानी' के माध्यम से जितना कुछ कहा जा रहा था, उसमें कौन सी नई बात आकर जुड़ गई है जिसे सिर्फ 'नयी कहानी' ही कह सकती है 'कहानी' नहीं। आरम्भ में 'कहानी' ने जो शिल्प स्वीकार किया था, उसका उत्तरोत्तर विकास 'नयी कहानी' के आगमन तक होता रहा। स्वयं अकेले प्रेमचन्द की कहानियों में इतना शिल्पगत वैविध्य देखने को मिलता है कि उनमें समता का ढूँढ पाना कठिन है। प्रेमचन्द मण्डल के अन्तिम खेवे की कहानियों को आरम्भिक कहानियों के समक्ष रखकर देखने से यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा। बीच-बीच में आने वाले इस अन्तर के आधार पर यदि 'नयी कहानी' जैसे नामकरण की पद्धति अपनाई गई होती तो आज नामकरण के लिए नये नामों का भी अकाल पड़ जाता।

हिन्दी कहानी विकास की अनेक मंज़िल तय करती हुई 'नयी कहानी' के रूप में इतिहास के जिस बिन्दु पर पहुँची है, वहाँ उसका स्वरूप पूर्ववर्ती कहानियों से काफी बदला हुआ है, इसे स्वीकार करने में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती। 'कहानी' अपने आप में साहित्य-रूप की दृष्टि से अत्यन्त आधुनिक है, जिससे उसमें अभी कुछ ऐसा पुरानापन नहीं कि उसे 'नयी' की संज्ञा दी जाय। नवीनता का मिलने वाला आभास ही इस साहित्य-रूप की सबसे बड़ी शक्ति है जिसमें विकास की भावी संभावनायें छिपी हैं।

प्रयोग के इस युग में कवियों की तरह कहानीकारों ने भी शिल्पगत प्रयोग के प्रति आग्रह दिखलाया है और कुछ कहानियाँ केवल प्रयोग के लिए ही लिखी गई हैं। कथात्मक, आत्म चरित्रात्मक, पत्रात्मक डायरी, नाटकीय तथा मिश्रित शैली अब

काफी पुरानी पड़ गई है। कथावस्तु, पात्र और चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, स्थिति अथवा वातावरण, शैली और उद्देश्य के आधार पर पूर्ववर्ती कहानियों का जो तात्विक विवेचन कर दिया जाता था, इस दौर की कहानियो के लिए वह अत्यन्त असमर्थ सिद्ध हो चुका है। इस प्रकार इन कहानियों के बाह्य और आन्तरिक दोनों रूपों में काफी परिवर्तन हुआ है। कहानी रूप का विस्तार हुआ है। निबन्ध, स्केच और रिपोर्ताज भी कहानी की सीमा मे आने लगे हैं। मनोरंजकता, नाटकीयता और कुतूहल पूर्ण घटना-संघटन ही अब कथा के आधार नही रह गये हैं। इस खेवे की अधिकांश कहानियो में तो कथा नाम की चीज मिलती ही नही। इसी को आज हिन्दी 'कहानी' मे कथानक के ह्रास की संज्ञा दी जा रही है। इस प्रकार की कहानियो में प्रसंग-खण्ड मूड, विचार अथवा विशिष्ट व्यक्ति-चरित्र ही इस कौशल के साथ प्रस्तुत मिलता है कि उसमे कथानक की क्षमता आ गई है।

काफी अर्से तक हिन्दी कहानी पाठकों द्वारा मनोरंजकता और आलोचकों द्वारा शिल्पपटुता की कसौटी पर कसी जाती रही, पर अब स्थिति बदल चुकी है। कहानी आज जीवन मूल्यों की कसौटी पर कसी जा रही है। यह वह बिन्दु है जहाँ पर 'नयी' और 'पुरानी' कहानी का अन्तर साफ-साफ दिखलाई पड़ता है। पहली बार कहानी की जीवनी शक्ति को पहचान कर उसके साथ न्याय किया गया है।

'कथानक', 'चरित्र', 'वातावरण', 'भावात्मक प्रभाव' तथा 'विषय वस्तु' के आधार पर निर्जीव व्याख्या की परम्परा का औचित्य 'नयी कहानी' ने नकार दिया है। इतना ही नही बल्कि इससे भी आगे बढकर 'प्रभावान्वित' और 'एकान्विति' के महत्व को भी नकार देने की स्थिति में 'नयी कहानी' सक्षम रही है, ऐसा कुछ 'नयी कहानी' के आलोचकों का कहना है। शिल्प को ही कहानी का जो सर्वस्व मान लिया गया था, उस धारणा को निर्मूल करने के लिए हो लगता है आलोचकों ने ऐसी बातें कही हैं; अन्यथा 'प्रभावान्वित' और 'एकान्वित' की उपेक्षा करके 'कहानी' के वास्तविक रूप को समझ पाना और समझा पाना दोनो ही कठिन है। नवीन मानव मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए 'कहानी' को असमर्थ पाकर 'नयी कहानी' ने अस्तित्व ग्रहण किया। जीवन के बदलते हुए धरातल के साथ-साथ उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले साहित्य-रूपों का बदलना अनिवार्य हो जाता है। महाकाव्यों, खण्डकाव्यों, मुक्तकों और गीतों मे एक ही बात नही कही जाती और न तो नाटक, उपन्यास, एकांकी और कहानी ही एक ही बात कहते है। सभी साहित्य रूपों मे जीवन का विभिन्न धरातल स्थापित होता है। हिन्दी कहानी मानव जीवन के जिस धरातल पर लिखी जा रही थी, 'नयी कहानी' मे उससे भिन्न धरातल प्रस्तुत किया गया है, ऐसा 'नयी कहानी' के समर्थकों का विश्वास है। इसी आधार पर वे 'कहानी' के इस 'नये' नामकरण के औचित्य का प्रतिपादन करते हैं। इन कहानियों

का भी शिल्प है, पर वह नया है जो नये भाव-सत्यों को प्रस्तुत करता है। इनके द्वारा शिल्प के नाम पर कभी केवल वातावरण चित्रण, तो कभी केवल एक व्यक्ति का रेखाचित्र और कभी केवल रोचक व्यंगों के माध्यम से आदि से अन्त तक एक ही विचार प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरण के लिए 'अज्ञेय' कृत 'कलाकार की मुक्ति' और 'देवीसिंह' तथा अमृतराय कृत 'नया आदमी नया जख्म' जैसी कहानियों को लिया जा सकता है। इस प्रकार 'नयी कहानी' के द्वारा कहानी कला में नये प्रयोग के दर्शन हुए हैं पर ऐसा कुछ नहीं है कि जिसके आधार पर 'नयी कहानी' को कहानी से भिन्न एक नवीन विधा के रूप में स्वीकार कर लिया जाय। विषय के अनुरूप कहानी के स्वरूप को कहानी में ही बदला जा सकता है और विकासशील साहित्य-रूप में इस प्रकार के परिवर्तन बराबर होते रहे हैं।

प्रेमचन्द की ही कहानियों को यदि ले लिया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि कहानी के स्वरूप की रक्षा करते हुए भी उन्होंने शिल्प में परिवर्तन किए हैं। 'पूस की रात', 'कफ़न', 'ईदगाह', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'सवासेर गेहूँ' आदि कहानियों का शिल्प एक-सा नहीं है। कमलेश्वर की कहानी 'राजा निरबंसिया' में कहानी के स्वरूप की रक्षा करते हुए भी नवीन शिल्प का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। ऐसी स्थिति में यह मान लेने में कोई हर्ज नहीं है, कि कहानी-शिल्प में विकास हुआ है, न कि 'नयी कहानी' का आविर्भाव।

प्रेमचन्दोत्तर कहानी-शिल्प में इतनी विभिन्नता एवं विशिष्टता का समावेश हो चुका है कि इसके शिल्प के सम्बन्ध में सभी आलोचकों का एक मत होना कठिन है। इन कहानियों को अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है। 'हिन्दी कहानी ने नयी करवट बदली है', 'कहानीकार ने जीवन को नयी दृष्टि से देखने तथा पहचानने का प्रयास किया है', 'जीवन में नये सन्दर्भों की खोज की है', 'अगोचर एवं अव्यक्त को गोचर एवं व्यक्त बनाने का प्रयत्न किया है।' इससे इतना तो स्पष्ट है कि आलोचना के शास्त्रीय अथवा परम्परागत मानदण्डों की कसौटी पर अब 'नयी' कही जाने वाली कहानियों को कसना अवाछनीय है।

'नयी कहानी' और साठोत्तर पीढ़ी के सन्धिकाल में आने वाले कुछ कहानीकारों की उपलब्धियों से इन्कार नहीं किया जा सकता। सर्वश्री राजकमल चौधरी, मुद्रा राक्षस, रामनारायण शुक्ल, प्रयाग शुक्ल तथा गिरिराज किशोर का नाम इस सन्दर्भ में लिया जा सकता है। राजकमल चौधरी और मुद्रा राक्षस ने जहाँ मशीनी संस्कृति में पिसती हुई असहाय 'सेक्स'-प्रताड़ित नारी को निर्वसन किया है, वहीं शुक्ल-बन्धुओं ने रोजमर्रा के जीवन की ऊब, घुटन, बेकारी और एकरसता को चित्रित किया है।

सन् १९५८–६० ई० तक आते-आते 'नयी कहानी' जैसे ही शिल्पगत रूढ़िवा (फार्मूलाबद्ध) की शिकार होने लगी, कहानीकारों की एक दूसरी पीढ़ी उठ खड़ी हुई जिसने कहानी के प्रचलित रूप से असन्तोष व्यक्त किया। इस पीढ़ी का असन्तोष कहानी के प्रचलित रूप से ही नहीं, उसमें उठाई गयी समस्याओं और मूल्यों के प्रति भी दिखाई पड़ा। सन् १९६२ ई० में हुए चीनी आक्रमण और उससे उत्पन्न समस्याओं ने इस पीढ़ी को बल प्रदान किया। इस बीच समूचे देश ने अनुभव करना आरम्भ कर दिया कि हमारा आजादी के बाद से चलने वाला जीवन बेमानी और आज के सन्दर्भ में मिथ्या है। साठोत्तर कहानीकार के सम्मुख यह सत्य और अधिक नग्न होकर आया।

साठोत्तर कहानीकार ने इस बीच अनुभव किया कि जीवन पहले की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल और तनावपूर्ण हो गया है। पुराने सम्बन्ध टूट रहे हैं और नए सम्बन्ध बन-बिगड़ रहे हैं। वर्तमान शिक्षा-पद्धति ने नारी को पहले से अधिक उन्मुक्त किया है। परिणामस्वरूप इस पीढ़ी के कहानीकार संकेतों, बिम्बों और प्रतीकों में विश्वास नहीं करते और न तो वे ऐसी कहानी रचना में ही विश्वास करते हैं जिसका विश्लेषण चरित्र और शिल्प के आधार पर किया जा सके। इनके अनुसार कहानी अपने सम्पूर्ण वस्तु और कथ्य में एक इकाई है और उसे कथ्य से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

साठोत्तर कहानीकारों ने 'नयी' कहानीकारों की भाँति 'अ-कहानी' का एक दूसरा नारा दिया। अ-कहानीकारों ने इस बात का दावा किया है कि उनने 'नयी कहानी' के घिसे-घिसाए रूप को नकारकर कहानी को पहले की तुलना में पूरी तरह 'पूर्ण' बनाया है। 'अ-कहानी' ने कथागत साज-सज्जार को एकबारगी उतारकर फेंक दिया है। उसके लिए चरित्रों के नाम तक महत्वहीन हो गए हैं। उसके अनुसार चरित्रों के नाम 'वह' या 'मैं' कोई भी हो सकता है और कहानी में फर्क नहीं पड़ेगा। यहाँ तक कि सर्वनामों का भेद तक अ-कहानीकारों के सामने मिट गया है। इसी प्रकार कहानी के लिए जिस कथानक या 'प्लाट' की अनिवार्यता की बात की जाती थी, इन कहानीकारों ने उसे अस्वीकार कर दिया है। इसीलिए इन कहानियों को देखने पर कभी-कभी 'पर्सनल एसे' (व्यक्तिव्यंजक निबन्ध) का भ्रम पैदा होता है। इनका दावा है कि वे नये कहानीकारों की भाँति यथार्थ के नाम पर झूठी और अप्रामाणिक अनुभूतियों को नहीं बल्कि प्रामाणिक, भोगी और जी हुई अनुभूतियों को चित्रित कर रहे हैं। इस सन्दर्भ में प्रबोध कुमार की 'गाँठ', काशीनाथ सिंह की 'सुख', दूधनाथ सिंह की 'रक्तपात', रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी' और विजय चौहान की 'रिक्ति' आदि कहानियों का नाम लिया जा सकता है। सच तो यह है कि भोगे हुए सत्य के नाम पर इन कहानियों में जीवन की विकृति ही

अभिव्यक्ति पा रही है जो इस क्षेत्र के अधिकांश कहानीकार का भोगा अथवा झेला हुआ सत्य नहीं बल्कि इच्छित सत्य ही हो सकता है। कहानीकारों के इर्द-गिर्द का वातावरण ही इन कहानियों में उभरा है। साठोत्तर कहानी की एक दूसरी अन्तर्धारा है—'सचेतन कहानी'। इसके समर्थकों में महीप सिंह, जगदीश गुप्त तथा श्यामकरण आदि प्रमुख हैं। कहानीकारों का यह आन्दोलन शीघ्र ही छिन्न-भिन्न भी हो गया।

साठोत्तर कहानीकारों के अन्तर्गत अवधनारायण सिंह, मधुकर सिंह, ममता कालिया, सुधासिंह, भीमसेन त्यागी, नीलकान्त, अतुल भारद्वाज तथा मनहर चौहान आदि कहानीकारों की गणना होती है। सब मिलाकर इस पीढ़ी की कहानियाँ अभी शुरुआत की स्थिति में हैं।

निबंध

किसी भी भाषा के विविध विकसित साहित्य-रूपों में, निबंध प्रौढ़तम साहित्य-रूप माना जाता है। अन्य गद्य-रूपों की अपेक्षा निबंध-रचना की प्रक्रिया देखने में जितनी ही सरल जान पड़ती है, वह उतनी ही कठिन है। विद्वानों ने निबंध को गद्य की कसौटी कहा है। नाटक, उपन्यास और कहानी जैसे गद्य-रूपों के माध्यम से भावाभिव्यक्ति जितनी सरलता पूर्वक सम्भव हो पाती है, उतनी निबंधों के माध्यम से नहीं। इन गद्य-रूपों में चित्रित पात्र माध्यम का कार्य करते हैं, पर निबन्धों में लेखक को बिना किसी माध्यम के स्वयं पाठकों के सम्मुख उपस्थित होना पड़ता है। अपनी भाषा-शक्ति और भावों को प्रकट करने की योग्यता के आधार पर निबंधकार को अपनी बात कहनी पड़ती है। परिणाम स्वरूप किसी भी लेखक की भाषागत विशेषताओं एवं विचारों को व्यवस्थित ढंग से रखने की क्षमता की जितनी सच्ची परख निबंधों के माध्यम से सम्भव है, उतनी अन्य गद्य-रूपों के माध्यम से नहीं। निबंधों को अनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। हम चाहें तो उन्हें (१) भावात्मक, (२) वर्णनात्मक, (३) विवेचनात्मक और (४) व्यक्तिगत चार प्रमुख वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

भावात्मक निबन्ध लेखक अपनी भावुकता भरी भाषाशैली तथा विचारों से पाठकों को प्रभावित करता है। वर्णनात्मक निबन्धकार अपने व्यक्तित्व के अनुसार वस्तु, घटना या चरित्रों का सुरुचिपूर्ण वर्णन करता है। विवेचनात्मक निबन्धों में विषय का विश्लेषण तर्कनिष्ठ बुद्धि विवेक से किया जाता है। व्यक्तिगत निबन्धों में लेखक का अपना व्यक्तित्व ही सर्व प्रमुख होता है। वस्तुतः मोटे तौर पर निबन्धों के दो ही प्रमुख वर्ग होते हैं (१) वस्तु प्रधान और (२) व्यक्ति प्रधान। वस्तु प्रधान के अन्तर्गत ही ऊपर गिनाए गए तीनों प्रकार के—भावात्मक, वर्णनात्मक और विवेचनात्मक—निबन्ध

आ जाते है। चौथा प्रकार व्यक्ति प्रधान निबन्धों का है। वस्तुतः सच्चे अर्थों में निबन्ध इसी प्रकार के निबन्धों को कहते हैं।

व्यक्तिप्रधान निबन्धों में विषय वस्तुओं का भी विश्लेषण होता है पर वे लेखक के अपने व्यक्तित्व को अभिव्यंजित करने के साधन मात्र की भाँति ही प्रयुक्त होते हैं। नाना प्रकार के विषय एवं वस्तु लेखक की संवेदना को जगा भर देते हैं, तदनन्तर वह स्वयं अपनी रुचि-अरुचि, ज्ञान, गौरव, पाण्डित्य, व्यापक अध्ययन, वस्तुओं को परखने की निजी विचार-पद्धति के अनुसार उनका विश्लेषण अत्यन्त ललित मनोरम भाषा एवं हाव-भाव के साथ करता चलता है। किसी बिन्दु को पकड़ कर वह अपने अथाह ज्ञान-सागर को उड़ेल देने की चेष्टा करता है। पाठकों से सीधा सम्बन्ध होने के कारण वह पाठकों की रुचि का भी खयाल रखता है और आवश्यकतानुसार उसमें सरसता लाने के लिए अन्य रोचक प्रसंगों को जोड़ता चलता है।

वस्तु प्रधान निबन्धों में जहाँ लेखक वस्तु के स्वरूपों से बँधा रहता है और कोई भी अतिरंजित वस्तु कहने को स्वतन्त्र नहीं होता, वहाँ व्यक्तिप्रधान निबन्ध का लेखक स्वयं वस्तु पर हावी रहता है। वस्तु तो बस उसके अपने विचार व्यक्त करने का साधन भर होती है।

हिन्दी निबन्धों के आरम्भिक विकास की रूप-रेखा पहले दी जा चुकी है। भारतेन्दु युग के अनन्तर द्विवेदी-युग में निबन्धों में अनेक शाखामुखी विकास हुआ। द्विवेदी युग में निबन्धों की भाषा का परिष्कार तो हुआ ही विषय वस्तु में भी व्यापक विस्तार आया। अब निबन्ध साधारण हल्के-फुल्के विषयों तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि वह समालोचना के ठोस धरातल की ओर भी अग्रसर हुआ। यद्यपि इस प्रकार के निबन्धों में नीरसता आ जाने का अधिक भय रहता है। इसीलिए इस युग के लेखकों ने निबन्धों में रोचकता लाने के लिए नई-नई शैलियों का प्रयोग किया। स्वर्गीय महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने निबन्धों में कथावाचकों की मनोरंजक शैली का प्रयोग किया। श्री बालमुकुन्द गुप्त ने अपने छोटे-छोटे वाक्यों में व्यंग्य विनोद का पुट देते हुए अत्यन्त चुभते हुए वक्तव्य प्रकाशित किए। उर्दू के जानकार होने के कारण उन्होंने भाषा की मुहावरेदानी का भी विशेष ध्यान रखा। पं० माधव मिश्र के निबन्धों में क्रमागत भावोदय का अच्छा चित्र मिलता है। इनके निबन्धों में संस्कृत शब्दावली की ओर अधिक झुकाव है। सरदार पूर्ण सिंह के निबन्धों में अध्यापक के गुण वर्तमान हैं। विषय को भलीभाँति समझाकर, अत्यन्त मनोरम शैली में प्रस्तुत करना उनकी अपनी विशेषता है।

बाबू श्यामसुन्दर दास के निबन्धों की भाषा भावानुरूपिणी है। उनकी शैली साधारणतः संगठित और व्यवस्थित है। उनमें भाषण-कला का मिश्रण मिलता है। उनके निबन्धों में एक धारावाहिक प्रवाह मिलता है।

प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आलोचना के क्षेत्र मे जितने ही प्रखर, विश्लेषक एवं ठोस विद्वान के रूप मे आते हैं, कहानी के क्षेत्र मे रागात्मक वृत्तियाँ को जगाकर औत्सुक्य वृत्ति के जगाने मे जितने पटु दिखाई पड़ते है, निबन्धो के क्षेत्र में वे उतने ही सरल, स्पष्ट और व्यावहारिक है। उनके निबन्धो की भाषा विषयानुसार चटपटा रूप ग्रहण करती चलती है।

इस युग के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निबन्धकार है प० रामचन्द्र शुक्ल। उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने साहित्य के अनेक अगो को अपनी महिमा से महिमान्वित किया है। हिन्दी-निबन्धो को प्रौढत्व प्रदान करने का श्रेय उन्ही को है। महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के विपरीत इनके निबन्धो मे आचार्यों की गुरु-गम्भीरता मिलती है। उनके समीक्षात्मक एव मनोवैज्ञानिक दोनो ही प्रकार के निबन्ध इस गम्भीरता से ओत-प्रोत है। यहाँ तक कि उनका व्यंग्य विनोद भी आचार्यत्व की कोटि का और अत्यन्त गम्भीर होता है। पाश्चात्य परिभाषा के अनुरूप निबन्धो मे हृदय तत्त्व का प्राधान्य वे स्वीकार करते थे, फिर भी हृदय के साथ-साथ बुद्धि को भी व्यवहृत करने के पक्षपाती थे। उनके निबन्धो मे हृदय और बुद्धि व्यापार के कौशल का मणिकाञ्चन संयोग मिलता है। उनके मनोवैज्ञानिक निबन्ध तो हिन्दी साहित्य की गौरव पूर्ण निधियाँ है। इस युग मे आवश्यकता के अनुसार अनेक कवियो ने भी अच्छे निबन्ध लिखे। श्री जयशकर प्रसाद, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, श्री सुमित्रनन्दन पंत और महादेवी वर्मा के संस्मरणात्मक निबन्ध भी हिन्दी निबन्धो को गौरवान्वित करने मे प्रमुख योगदान करते है।

निबन्ध के व्यक्तिपरक अग का उत्थान हिन्दी मे सुव्यवस्थित ढग से न हो सका था। आधुनिक युग के निबन्धकारो ने इस कमी को महसूस किया और फिर अच्छे व्यक्तिप्रधान निबन्ध भी रचे जाने लगे। यद्यपि समालोचनात्मक निबन्ध ही आधुनिक युग मे सर्वाधिक रचे गए। समालोचनात्मक निबन्धकार अपेक्षाकृत अधिक है। इस युग के प्रमुख समालोचनात्मक निबन्धकारो मे प० नन्ददुलारे बाजपेयी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, श्री बनारसी दास चतुर्वेदी, श्री गुलाब राय, डॉ० रामविलास शर्मा, श्री शिवदान सिंह चौहान, श्री स० ही० वात्स्यायन अज्ञेय, डा० नगेन्द्र एवं डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रमुख है।

व्यक्ति प्रधान निबन्धकारो मे डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके निबन्धों मे व्यक्ति प्रधान निबन्धो की सभी विशेषताएँ मिलती है। भारतीय सस्कृति का उनका व्यापक अध्ययन एवं मानवीय शक्ति के प्रति अटूट आस्था उनके निबन्धो में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। उनके निबन्धो मे मन को मोहने वाले स्थलो की भरमार है जिससे पाठक का मन कभी नही ऊबता। वे अपनी बात अत्यन्त सरल ढग से कहते है, यद्यपि उनकी भाषा संस्कृत निष्ठता की ओर अधिक झुकी होती है। निबन्धो

के माध्यम से उनका विशाल व्यक्तित्व भली-भाँति प्रगट होता है। वे परम्परा का गौरवगान करते हैं पर साथ ही परम्परा के सामन्तवादी मिथ्या सुखभोग में लिप्त होने की प्रवृत्ति की घोर निन्दा भी करते हैं। प्रायः सर्वत्र वे मानव की शक्ति की घोषणा करते हुए उसे नित्य अग्रसर होने का सन्देश देते हैं। उनके व्यक्तित्व के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर और क्षितिमोहन सेन के विचारों की धूप छाँही छाया भी यत्रतत्र प्रगट होती रहती है। भाषा की प्राञ्जलता का ध्यान रखते हुए भी वे अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदि के चलते शब्दों का सहज ढंग से प्रयोग करते हैं।

'द्विवेदी' जी के बाद व्यक्ति प्रधान निबन्धों को गौरव देनेवाले प्रमुख निबन्धकारों में बाबू गुलाब राय, श्री सियाराम शरण गुप्त, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, एवं श्री प्रभाकर माचवे आदि प्रमुख हैं।

हिन्दी निबन्ध-साहित्य अब भी प्रगति के पथ पर है। निरन्तर इसके भंडार में अभिवृद्धि हो रही है।

आलोचना

हिन्दी आलोचना का आरम्भ भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था, पर उस काल के आलोचक उसे एक निश्चित दिशा देने में पूर्ण असमर्थ रहे। इसका उल्लेख किया जा चुका है कि अधिकांश विद्वान् भारतेन्दु-युग के प्रसिद्ध लेखक **बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'** द्वारा लिखी **'संयोगिता स्वयंवर'** की समीक्षा से ही आधुनिक हिन्दी-आलोचना का आरम्भ मानते हैं। **'हिन्दी प्रदीप'** में लिखे गए अपने कतिपय निबन्धों द्वारा बालकृष्ण भट्ट ने भी तत्कालीन आलोचना में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया था। इनके अतिरिक्त गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, बालमुकुन्द गुप्त और अम्बिकादत्त **'व्यास'** का नाम भी इस सन्दर्भ में लिया जाता है, किन्तु ये सभी आलोचक पुस्तक-परिचय तक ही सीमित रहे। एकाध समीक्षात्मक निबन्ध में तुलनात्मक-समीक्षा की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ी थी।

महावीर प्रसाद द्विवेदी युग में आकर समीक्षा की स्थिति में काफी परिवर्तन आया। आलोचना की एक सुदृढ़ भूमि तैयार हुई और संस्कृत के कवियों के साथ हिन्दी के कवियों के काव्य-सौन्दर्य पर प्रकाश डाला गया। **सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, देव, भूषण और मतिराम** जैसे हिन्दी कवि मुख्यतः चर्चा के विषय रहे, जिनपर तुलनात्मक ढंग से विचार किया गया। जिस तुलनात्मक समीक्षा को द्विवेदी-युग में लोकप्रियता प्राप्त हुई, उसके प्रमुख स्तम्भों में पद्मसिंह शर्मा का नाम अत्यन्त महत्त्व का है। शर्मा जी ने 'बिहारी' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें बिहारी की कवि-

वाओ के समानान्तर अन्य भाषाओं से उद्धरण प्रस्तुत किए गये हैं और उनके आलोक में विहारी को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। कविवर देव के समर्थकों ने विहारी पर जो आक्षेप किये थे, उनके भी उत्तर इसमें दिये गए हैं। इस युग में देव और विहारी को लेकर एक अच्छा-खासा विवाद खड़ा हो गया था, जिसमें पंडित कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन जैसे विद्वानों ने भी भाग लिया। प्राचीन हिन्दी कवियों की टीकाओं और टीका-ग्रंथों की भूमिकाओं के माध्यम से भी इस युग में आलोचना-साहित्य का विकास हुआ। पत्र-पत्रिकाओं में लिखे गये शोधपूर्ण निबन्धों का भी इस दिशा में विशेष महत्व है। इस सन्दर्भ में नागरी प्रचारिणी पत्रिका का नाम लिया जा सकता है। कुल मिलाकर द्विवेदी-युग की आलोचना रुढिवादी थी। इस युग के उत्तरार्द्ध में बाबू श्यामसुन्दर दास और आचार्य प रामचन्द्र शुक्ल के आगमन के साथ ही हिन्दी-आलोचना का वास्तविक आरम्भ हुआ।

अनेक नवीन साहित्य-रूपों और साहित्यिक विचारधाराओं के प्रभाव में आलोचना साहित्य अपने सीमित परिवेश से मुक्त होकर वैविध्य की ओर अग्रसर हुआ और उसने कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी तथा निबन्ध आदि विविध साहित्य-रूपों को अपना आधार बनाया। नवीन सामाजिक और राजनैतिक विचारों की साहित्य में बढ़ती लोकप्रियता ने आलोचकों के निश्चित वर्गों का निर्माण किया जो अपनी समीक्षा द्वारा साहित्य को विचार-विशेष अपनाने के लिए प्रेरित करने लगे। आलोचना-साहित्य की ऐसी धूम मची कि सर्जक साहित्यकार भी इसकी चपेट में आ गये। काव्य-संग्रहों की स्वय भूमिका लिखकर अथवा अपने मन्तव्य निबन्धों के रूप में प्रकाशित करके कवियों ने भी अपनी आलोचनात्मक वृत्ति का परिचय दिया। आधार-ग्रंथों से अधिक समीक्षा-ग्रंथ लिखे गये। अत हिन्दी-साहित्य के इस युग को एक हद तक आलोचना का युग कहा जाय तो अनुचित न होगा। इस दिशा में सर्वाधिक कार्य विश्वविद्यालयों में होनेवाले 'शोध-कार्यों' के माध्यम से हुआ है। अधिकाश शोध-प्रबन्धों के द्वारा साहित्यकार-विशेष अथवा प्रवृत्ति विशेष की समीक्षा ही प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार द्विवेदी युग के उत्तरार्द्ध में बाबू श्यामसुन्दर दास और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने जिस संतुलित समीक्षा-दृष्टि का प्रवर्तन किया था, वहाँ से चलकर हिन्दी-समीक्षा अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विकसित हो रही है।

श्यामसुन्दर दास ने एम० ए० की कक्षाओं में पढ़ाने के लिए अंग्रेजी आलोचनात्मक ग्रंथों तथा संस्कृत के अलंकार-ग्रंथों का सार-तत्व लेकर **'साहित्यलोचन'** नामक अपना ग्रंथ तैयार किया। इसमें अंग्रेजी और संस्कृत आलोचना प्रणाली का सम्मिश्रण है।

आचार्य **पं० रामचन्द्र शुक्ल** ने आलोचना के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने साहित्य को परखने के लिए हिन्दी-आलोचना के माध्यम से एक

स्थिर मानदण्ड दिया। साहित्य को देखने की शुक्ल जी की अपनी एक विशेष दृष्टि थी। लोकमंगलकारी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए वे साहित्य को सर्वश्रेष्ठ साधन मानते रहे, जिसमें गोस्वामी तुलसीदास उनके विशेष प्रिय कवि रहे। सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी उनकी विस्तृत समीक्षायें आज भी अपने स्थान पर महत्वपूर्ण है। 'काव्य में रहस्यवाद', 'अभिव्यंजनावाद' जैसे शीर्षकों पर लिखी गई उनकी समीक्षायें, उनके सैद्धान्तिक विवेचन-पक्ष को सामने रखती हैं। रस-सम्बन्धी शुक्ल जी की पुस्तक 'रसमीमांसा' का उल्लेख भी इस सन्दर्भ में किया जा सकता है। उनके 'चिन्तामणि' में संग्रहीत कुछ निबन्ध भी उनकी विश्लेषणात्मक समीक्षा-प्रणाली के द्योतक हैं। इस युग के शुक्ल जी अप्रतिम समीक्षक है।

श्यामसुन्दर दास और रामचन्द्र शुक्ल की प्रेरणा से और भी समीक्षक मैदान में आये, जिनमें डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, कृष्णशंकर शुक्ल, केशरी नारायण शुक्ल, लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' और जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' प्रमुख हैं। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने गद्य-साहित्य को ही अपनी समीक्षा का आधार बनाया है। हिन्दी गद्य लेखकों पर प्रकाश डालने वाली 'हिन्दी गद्य-शैली का विकास' नामक उनकी पुस्तक विशेष महत्व रखती है। 'हिन्दी गद्य के युग निर्माता' तथा 'कहानी का रचना विधान' उनकी प्रमुख समीक्षात्मक कृतियाँ हैं, जिनमें उनकी व्यवहारिक समीक्षा-पद्धति का अच्छा परिचय मिलता है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'शुक्ल' जी के प्रभाव से मुक्त होकर जमकर 'प्रसाद' और 'निराला' आदि छायावादी कवियों की विचारधारा का अनुसरण किया। उन्होंने पहली बार सशक्त समीक्षक के रूप में नवीन काव्य-आन्दोलन का सबल समर्थन किया। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र मध्यकालीन हिन्दी-काव्य के विद्वान् हैं, जिससे वे मध्यकालीन काव्य की व्याख्यात्मक समीक्षा प्रस्तुत करने में समर्थ हो सके हैं। इस सन्दर्भ में उनकी 'विहारी की वाग्-विभूति', 'बिहारी' और 'हिन्दी साहित्य का अतीत' नामक पुस्तकों का उल्लेख किया जा सकता है। पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल की प्रवृत्ति शोध की ओर ही अधिक थी। केशरी नारायण शुक्ल ने रामचन्द्र शुक्ल की ही पद्धति पर व्यवहारिक आलोचना लिखी है। लक्ष्मीनारायण सुधांशु सैद्धान्तिक आलोचना लिखने वालों में प्रमुख हैं, जिनके लिए उनकी पुस्तक 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' का नाम लिया जा सकता है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के समय से ही आलोचना की एकाधिक प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ जाती हैं। 'शुक्ल' के पश्चात् तो अनेक आलोचनात्मक प्रवृत्तियाँ उभड़ कर सामने आईं, जिन्हें विद्वानों ने विभिन्न नामों से अभिहित किया है। डॉ० नगेन्द्र ने उन्हें शास्त्रीय, सौष्ठववादी, मनोवैज्ञानिक, समाज-शास्त्रीय, ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक आलोचना का नाम दिया है।

डॉ० नगेन्द्र ने शुक्ल जी के समय में ही लिखना आरम्भ कर दिया था, पर एक समर्थ आलोचक के रूप में वे शुक्ल जी के बाद ही आए। व्यावहारिक, सैद्धान्तिक तथा मनोवैज्ञानिक सभी आलोचना-प्रणालियों के दर्शन डॉ० नगेन्द्र में होते हैं। **'सुमित्रानंदन पंत'** तथा **'विचार और अनुभूति'** उनकी आरम्भिक आलोचनात्मक कृतियाँ है, जहाँ से अब डॉ० नगेन्द्र बहुत आगे बढ़ आए हैं। उनके अध्ययन का क्षेत्र मध्य काल से लेकर आधुनिक हिन्दी-साहित्य तक है। इसके साथ ही वे अंग्रेजी साहित्य के भी पण्डित हैं। परिणामस्वरूप विविध आलोचनात्मक शैलियों का समर्थ निर्वाह उनमे देखने को मिल जाता है। कुछ लोग नगेन्द्र जी को मनोविश्लेषण-शास्त्रीय आलोचक मानते है। भारतीय रस-सिद्धान्त पर भी नगेन्द्र जी की पूर्ण आस्था है।

इसी समय स्वच्छन्दतावादी सौन्दर्यवादी आलोचकों का एक दल भी था जिन्हें प्रभाववादी आलोचक की संज्ञा दी जा सकती है। इनकी शैली अत्यन्त काव्यात्मक थी। ***शान्तिप्रिय द्विवेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा, रामनाथ लाल सुमन, गंगाप्रसाद पाण्डेय*** को इस कोटि में रखा जा सकता है।

छायावादी कविता पर किए जा रहे प्रहार और उससे उत्पन्न भ्रांतियों के निराकरण के लिए 'पंत', 'प्रसाद', 'निराला' और महादेवी आदि ने अपने संग्रहों की भूमिकाओं अथवा समीक्षात्मक निबन्धों के रूप में जो कुछ लिखा है, उसे सौष्ठव-वादी अथवा स्वच्छन्दतावादी आलोचना के अन्तर्गत रखा जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनके अनुयायियों द्वारा लिखी जाने वाली **शास्त्रीय आलोचना** से इनकी आलोचनाएँ भिन्न थीं।

मनोवैज्ञानिक आलोचकों में **इलाचन्द्र जोशी, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'** और **डा० देवराज उपाध्याय** का नाम प्रमुख है। मनोवैज्ञानिक आलोचक कविमानस के विश्लेषण को ही कृति के मूल्यांकन का आधार मानता है।

जिस प्रकार 'फ्रायड' की चिन्तनधारा ने मनोवैज्ञानिक आलोचकों को प्रेरणा प्रदान की उसी प्रकार **'मार्क्स'** ने प्रगतिवादी **मार्क्सवादी** अथवा **समाजशास्त्रीय आलोचना** को प्रेरणा प्रदान की। इन आलोचकों ने साहित्य की उपयोगिता पर बल दिया जिससे अभीष्ट समाज के निर्माण में सहायता मिलती है। इन आलोचकों का स्वर राजनैतिक दलों की भाँति अपेक्षाकृत तीखा था और अपने समर्थन में वे कहीं-कहीं भावागत कटुता का भी परिचय दे जाया करते थे। ऐसे आलोचकों में **शिवदान सिंह चौहान, डा० रामविलास शर्मा, डा० रांगेय राघव, प्रकाशचन्द्र गुप्त** और **डा० नामवर सिंह** के नाम प्रमुख है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अध्ययन का क्षेत्र विशाल है। यही कारण है कि वे समग्र सामाजिक चेतना के सन्दर्भ में एक विशिष्ट साहित्यिक दृष्टिकोण निर्मित करने में समर्थ हो सके हैं। मानव के सद्व्यवहारों पर आस्था रखने के कारण जिस मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास उनमें हुआ है उससे उनकी आलोचना पद्धति भी प्रभावित हुई है। डा० नगेन्द्र 'द्विवेदी जी' को ऐतिहासिक आलोचना का प्रतिनिधि आलोचक मानते हैं। द्विवेदीजी की प्रवृत्ति शोध की ओर अधिक रही है। सूर-साहित्य, हिन्दी साहित्य की भूमिका और कबीर जैसे उनके ग्रन्थ अपेक्षाकृत शोधात्मक अधिक हैं। इतना अवश्य है कि इन ग्रन्थों में वे निष्कर्ष और दृष्टिकोण के आधार पर अपनी साहित्यिक मान्यताओं का आभास देते चलते हैं। इन शोधग्रन्थों के अतिरिक्त बाद में लिखी गई आलोचनाओं में द्विवेदी जी का मानवतावादी समाजशास्त्रीय आलोचक-रूप सामने आया है।

संकलनों और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी आलोचनासाहित्य का पर्याप्त विकास हुआ है। स्वतंत्र समीक्षाग्रन्थ लिखने वालों ने भी स्वतंत्र निबन्धों के माध्यम से आलोचना-साहित्य को समृद्ध बनाया है। इनकी संख्या पर्याप्त है। जिनमें बाबू गुलाबराय, नलिनविलोचन शर्मा, डा० भगीरथ मिश्र, डा० देवराज, डा० विजयशंकर मल्ल, डा० बच्चन सिंह, डा० धर्मवीर भारती, डा० रघुवंश, डा० जगदीश गुप्त, डा० बचनदेव कुमार आदि के नाम प्रमुख हैं।

इतिहास और शोधग्रन्थों के माध्यम से भी आलोचना-साहित्य का विकास हुआ है। साहित्य के इतिहासग्रन्थों का सम्बन्ध सीधे-सीधे आलोचना से तो नहीं है, पर उनमें आए व्याख्यात्मक परिचय, स्थापनाएँ एवं प्रवृत्तिगत विवेचन आलोचना के ही निकट आते हैं। इस सन्दर्भ में पंडित रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध,' डा० रामकुमार वर्मा, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० श्रीकृष्णलाल, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय और डा० शिवनारायण श्रीवास्तव की कृतियाँ उल्लेखनीय हैं।

इधर शोधकार्य की दिशा में इतनी अधिक सक्रियता रही है और पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त करने के लिए विश्वविद्यालयों में इतने अधिक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किए गए हैं कि उनका मूल्यांकन करना स्वयं एक पुस्तक का स्वतंत्र विषय है। इस प्रसंग की चर्चा के लिए स्थानाभाव के कारण यहाँ अवकाश नहीं।

स्वस्थ आलोचना-साहित्य के सामने जो सबसे बड़ा खतरा है वह आए दिन चलने वाली पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से दलबन्दी है, जिनकी प्रकाशकीय और गुट सम्बन्धी सीमाएँ आलोचना-साहित्य के भविष्य पर प्रश्नवाची चिह्न लगा सकती हैं।

विविध विषय

शुद्ध साहित्यिक रचनाओं को छोड़कर हिन्दी में कुछ और ऐसे विषय हैं जिनका उल्लेख इस सन्दर्भ में आवश्यक है। किसी भी देश की भाषा को समृद्ध बनाने में पत्र-पत्रिकाओं का विशेष हाथ होता है। हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं का समृद्ध इतिहास है जिसे समृद्धि प्रदान करने में सम्पादकाचार्य पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, बाबूराव विष्णु पराड़कर, पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, गणेशशंकर विद्यार्थी, व्यंकटेश-नारायण तिवारी तथा कमलापति त्रिपाठी आदि ने महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। हिन्दी दैनिकों के क्षेत्र में इन लोगों का महत्वपूर्ण योगदान है। मासिक और साप्ताहिक पत्रों के माध्यम से पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० रूपनारायण पाण्डेय, श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़, काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर', मोहनसिंह सेंगर, सुधांशु, खाडिलकर, बेनीपुरी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और शिवपूजन सहाय ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

पं० कामताप्रसाद गुरु और पं० किशोरीदास वाजपेयी के लिखे हिन्दी व्याकरण भी एक अभाव की पूर्ति करते हैं। कोश के क्षेत्र में नागरीप्रचारिणी जैसी संस्था और रामचन्द्र वर्मा, डा० रघुवीर, राहुल सांस्कृत्यायन, मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव, श्रीकृष्ण शुक्ल तथा डा० हरदेव बाहरी के नाम उल्लेखनीय हैं।

इसके अतिरिक्त दर्शन, जीवनी तथा अन्य विविध विषयों को लेकर हिन्दी में प्रभूत साहित्य लिखा जा रहा है।